अध्यायों की सूची ।

बौद्ध काल ।

प्राचीन भारतवर्ष की

सभ्यता का इतिहास।

तीसरा भाग।

काण्ड ४

बौद्ध काल, ईसा से ३२० वर्ष पहिले से सन् ५०० ईस्वी तक।

अध्याय १

चंद्रगुप्त और अशोक।

यूनानी सिकन्दर की मृत्यु से प्राचीन संसार के इतिहास में एक नया काल आरम्भ होता है। भारतवर्ष में भी इस समय से एक नये काल का आरम्भ होता है। इस नये काल में एक बड़ी राजकीय घटना यह हुई कि चन्द्रगुप्त की बुद्धि से समस्त उत्तरी भारतवर्ष पहिले पहिल एक छत्र के नीचे लाया गया। इस काल की धर्म्मसम्बन्धी एक बड़ी घटना यह हुई कि गौतम बुद्ध के जिस धर्म्म का, अब तक केवल नम्र और नीचे की श्रेणी के लोगों में प्रचार हो रहा था, उसे चन्द्रगुप्त के पोते प्रसिद्ध अशोक ने ग्रहण किया और उसका भारतवर्ष में तथा भारतवर्ष के बाहर भी उपदेश और प्रचार किया।

स्वयं चन्द्रगुप्त के विषय में हम अन्यत्र लिख चुके हैं। उसका राज्य सारे उत्तरी भारतवर्ष में बिहार से लेकर पंजाब तक फैला हुआ था। उसने यूनानियों को पंजाब से निकाल दिया, सिन्ध नदी के उस पार का देश उन लोगों से छीन लिया और अन्त में पश्चिमी

एशिया में सिकन्दर के उत्तराधिकारी सिल्यूकस के साथ मिलाप कर लिया। चन्द्रगुप्त ने जिन देशों को जीता था उन्हें सिल्यूकस ने उसके पास रहने दिया और इस बड़े हिन्दू सम्राट के साथ अपनी पुत्री का विवाह भी कर दिया।

हम यह भी देख चुके हैं कि चन्द्रगुप्त के पास छ लाख पैदल और तीस हजार घुड़सवारों की सेना थी और उसके कर्म्मचारी लोग नगर और गाँव के प्रबन्ध को भली भांति करते थे। वाणिज्य, व्यापार, और खेती की रक्षा की जाती थी, सिंचाई का उत्तम प्रबन्ध किया जाता था और जंगल रक्षित रक्खे जाते थे। एक यूनानी राजदूत ने जो कि चन्द्रगुप्त के दर्बार में रहा था, आश्चर्य और प्रसंशा के साथ लिखा है कि देश के अधिक भाग में सिंचाई का प्रबन्ध होने के कारण इस देश में अकाल पड़ता ही नहीं था और बोई हुई भूमि के पास ही युद्ध और लड़ाइयां होती थीं परन्तु युद्ध करने वालों में से कोई भी किसान वा उसकी खेती को कोई हानि नहीं पहुचाता था। चन्द्रगुप्त के हिन्दू राज्य का बल और विस्तार, उसके राज्य में जान और माल की रक्षा, और उस प्राचीन समय में खेती और सिंचाई के प्रबन्ध की उत्तम दशाओं का वर्णन ऐसा है जिसे आज कल का प्रत्येक हिन्दू उचित अभिमान के साथ स्मरण करेगा।

ईसा के लगभग २९० वर्ष पहिले चन्द्रगुप्त का पुत्र बिंदुसार उसका उत्तराधिकारी हुआ और ईसा के २६० वर्ष पहिले बिन्दुसार का उतराधिकारी प्रसिद्ध अशोक हुआ।

आर्यों के भारतवर्ष में आकर बसने के समय से अब तक ऐसा प्रतापी कोई राजा नहीं हुआ था और इसके उपरान्त भी उससे बढ़कर प्रतापी कोई नहीं हुआ। परन्तु अशोक अपने राज्य और अपने अधिकार के विस्तार के कारण इतना विख्यात नहीं है जितना कि अपने उदार और सहज स्वभाव के कारण, जो कि उसके राज्य प्रबन्ध तथा विरोधियों के साथ उसके व्यवहार में पाया जाता है, और सत्य में बड़ा प्रेम होने तथा सत्य के प्रचार की अभिलाषा के कारण, जिसने कि साइबेरिया से लेकर लंका तक इस का नाम घर घर में प्रसिद्ध कर दिया है। भारतवर्ष के किसी

सम्राट का, यहां तक कि विक्रमादित्य का भी, नाम ऐसा विख्यात नहीं है और किसी सम्राट ने सचाई और पुण्य में उत्साह के कारण संसार के इतिहास पर ऐसा प्रभाव नहीं डाला है।

कहा जाता है कि अपने पिता के राज्य काल में अशोक उज्जैनी के राजप्रतिनिधि के पास भेजा गया था। यदि हम "अशोक अवदान" के ग्रन्थकार को ठीक समझें तो अशोक एक ब्राह्मणी रानी सुभद्राङ्गी से उत्पन्न हुआ था। यही ग्रन्थकार लिखता है कि अशोक अपनी युवावस्था में बड़ा उपद्रवी था और इस कारण वह पश्चिमी सीमा प्रदेश में एक बलवे को शान्त करने के लिये भेजा गया था जो कि तक्षशीला में हुआ था और जिसको कि उसने बड़ी सफलता के साथ शान्त किया। बिन्दुसार की मृत्यु पर अशोक राज गद्दी पर बैठा और उसके गद्दी पर बैठने का समय ईसा के लगभग २६० वर्ष पहिले माना जाता है।

उत्तरी और दक्षिणी बौद्धों के ग्रन्थों में अशोक के राज्य के विषय में बहुत कम प्रामाणिक बातें हैं। लंका की पुस्तकों में लिखा है कि अशोक ने राजगद्दी पाने के पहिले अपने ९९ भाइयों को (तारानाथ के अनुसार उसके केवल छः भाई थे) मार डाला और अशोक अवदान में लिखा है कि बौद्ध होने के पहिले वह अपने कर्म्मचारियों और उनकी स्त्रियों को मार डालता था और बहुतेरे निरपराधियों के साथ बड़ी निर्दयता करता था। ये कथाएं बिलकुल निर्म्मूल हैं और वे केवल बौद्ध धर्म्म के महत्व को बढ़ाने के लिये गढ़ी गई हैं कि बौद्ध होने के पहिले अशोक का आचरण ऐसा कलंकित था।

हम लोगों के लिये हर्ष का विषय है कि इस बड़े सम्राट की सूचनाएं हमें अब तक प्राप्त हैं और वे उत्तर काल के कवियों और इतिहास लेखकों की नाईं कपोलकल्पित कथाएं नहीं है, वरन् वे चट्टानों गुफाओं और स्तूपों पर उसीकी आज्ञा से उसीके समय में उस समय की भाषा और अक्षरों में खुदी हुई है। इन शिलालेखों से जो ऐतिहासिक बातें विदित होती हैं उन्हें फ्रान्स के प्रसिद्ध विद्वान सेनार्ट ने बड़ी विद्वत्ता और बुद्धिमानी से संग्रहीत किया

है और हम उनके "ले इन्सक्रप्शन डी पियदसी" नामक ग्रन्थ से कुछ बातों की आलोचना करेंगे।

चट्टानों पर की १४ सूचनाएं अशोक के राज्याभिषेक के १३ वें और १४ वें वर्ष की खुदी हुई जान पड़ती हैं और स्तूपों पर की आठ सूचनाएं २७ वें और २८ वें वर्षों की खुदी हुई हैं। स्तूपों की अन्तिम सूचना इस बड़े सम्राट के विचारों और इच्छाओं का अन्तिम लेख है जो कि अब हमलोगों को प्राप्त है। गुफाओं की सूचना समय के क्रम से चट्टानों और स्तूपों के बीच की हैं।

दीपवंश और महावंश में लिखा है कि अशोक ने अपने राज्याभिषेक के चौथे वर्ष में बौद्धधर्म्म ग्रहण किया। परन्तु सेनार्ट साहब स्वयं इन शिलालेखों से सिद्ध करते हैं कि उसने इस धर्म्म को अपने राज्याभिषेक के नौवें वर्ष में और कलिङ्ग विजय करने के उपरान्त ही ग्रहण किया था। यह कलिङ्ग के युद्ध की निर्दयता और मार काट ही थी जिसने इस दयालु और परोपकारी सम्राट के हृदय पर एक बड़ा प्रभाव डाला और उसे गौतम का दयालु और कोमल धर्म्म ग्रहण करने के लिये उत्साहित किया। इसके दो वर्षों के उपरान्त अर्थात् अपने राज्याभिषेक के ग्यारहवें वर्ष में अशोक पुनः दूसरी बार बौद्ध बनाया गया अर्थात् उसने पहिले की अपेक्षा अधिक उत्साह के साथ इस धर्म्म के प्रचार की प्रतिज्ञा की। और तेरहवें वर्ष से उसने अपने विस्तृत राज्य के सब भागों में अपनी सूचनाएं खुदवाईं।

इन शिलालेखों से हमें विदित होता है कि उनके खोदने के समय अशोक के भाई और बहिन जीवित थे और इस कारण यह कथा झूठ समझी जानी चाहिए कि अशोक ने राजगद्दी पाने के लिये अपने भाइयों को मार डाला। इस सम्राट की कई रानियाँ थीं और एक शिलालेख में उसकी दूसरी रानी (द्वितीया देवी) की उदारता का उल्लेख है। इस राज्य की राजधानी पाटलीपुत्र थी परन्तु उज्जयिनी, तक्षशिला, तोसली और समापा का भी अधीनस्थ नगरों की भांति उल्लेख पाया जाता है। सारा उत्तरी भारतवर्ष इस सम्राट के हाथ में था।

उत्तरी भारतवर्ष की सीमा के बाहर की चौदह जातियाँ (अपरान्त) भी उसके अधीन थीं। इनमें (बेक्ट्रिया के) यवन लोग (काबुल के) कम्बोज लोग, (कन्धार के) गांधार लोग, राष्ट्रिक लोग (सौराष्ट्र और महाराष्ट्र लोग) और पटेनिक लोग (अर्थात् दक्षिण के पैथन वा प्रतिष्ठान लोग), (दक्षिण के) अन्ध्र लोग. (दक्षिण के) पुलिन्द लोग, (मालव के) भोज लोग, और नामक और नाभपन्ति लोगों का उल्लेख है। इस प्रकार दक्षिण भारतवर्ष में कृष्णा नदी तक और पश्चिम में काबुल, कन्धार और बेक्ट्रिया तक का देश इस बड़े सम्राट के अधीन था।

आस पास की अन्य स्वतंत्र जातियों का भी "प्रात्यन्त" के नाम से उल्लेख किया गया है। इनमें चोल, पांड्य और केरालपुत जाति (जो सब कृष्णा नदी के दक्षिण में थी) तथा पांचो यूनानी राज्य भी सम्मिलित हैं।

अशोक के राज्यप्रबन्ध का वृत्तान्त शिलालेखों से बहुत कम विदित होता है। हमको पुरुषों अर्थात् राजा के कर्म्मचारियों महामात्रों अर्थात् आज्ञापालन करनेवाले कर्मचारियों, धर्म्ममहामात्रों अर्थात् उन कर्मचारियों का जो विशेषतः धर्म का प्रचार और धर्माचरण का पालन किए जाने के लिये नियत थे, प्रादेशिकों अर्थात् प्रदेशों के पैत्रिक सर्दारों और आधुनिक राव, रावलों और ठाकुरों के पुरखाओं का जो कि भारतवर्ष में सैनिक राज्यप्रणाली के कारण सदा बहुतायत से रहे है, उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त अन्तमहामात्रों अर्थात् सीमा प्रदेश के कर्मचारियों, प्रातिवेदकों अर्थात् भेदियों, और रज्जुकों अर्थात् उन लोगों का जो धर्मयुतों को धर्म की शिक्षा देने के लिये नियत थे, उल्लेख भी मिलता है।

अनुसम्यान एक धार्मिक सभा थी जिसमें कि सब धर्मयुत लोग बुलाए जाते थे और उनमें रज्जुक लोग शिक्षा देने का अपना विशेष कार्य करते थे। हमलोग जानते है कि इस प्रकार का बौद्धों का समागम सर्वत्र के लिये प्रत्येक पांचवें वर्ष होता था परन्तु यह सर्वमान्य नियम नहीं था। यह अनुसम्यान स्वयं सम्राट के राज्य में पांचवें

वर्ष होता था। परन्तु उज्जयिनी और तक्षशीला में वह तीसरे वर्ष होता था।

सहसराम के शिलालेख में यह लिखा है कि बौद्ध होने पर अशोक ने (निस्सन्देह ब्राह्मणों का बौद्ध सन्यासियों के समान सम्मान करने के कारण) ब्राह्मणों के देव तुल्य सम्मान को छीन लिया। उसके इस उचित कार्य की झूठ मूठ कथाएं गढ़ डाली गई हैं कि वह ब्राह्मणों का वध करता था, परन्तु यह धार्मिक सम्राट इस पाप से पूर्णतया रहित है। इसी शिलालेख तथा रूपनाथ के शिलालेख में भी यह उल्लेख है कि अशोक ने उस समय के जाने हुए सब देशों में धर्मोपदेशकों (विवुधों) को भेजा। भब्र के शिलालेख में अशोक ने बौद्धों की तीनों बातों अर्थात् बुद्ध, धर्म्म और सङ्घ में अपना विश्वास प्रगट किया है।

अब हम स्वयं शिलालेखों का वर्णन करते हैं और हम पहिले चट्टानों पर की सूचनाओं से प्रारम्भ करेंगे।

भारतवर्ष के पांच भिन्न भिन्न भागों में पांच चट्टानों पर अशोक की एक ही आज्ञावली के पांच पाठ खुदे हुए हैं। उनमें से एक कपुरदगिरि के निकट है जो कि सिन्ध के तट पर अटक से लगभग २५ मील उत्तर-पश्चिम है, दूसरा खालसी के निकट जमुना के तट पर ठीक उस स्थान पर है जहां कि यह नदी हिमालय पर्वत की ऊंची श्रेणी को छोड़ती है, तीसरा गुजरात में गिरनार पर है जो कि प्रसिद्ध सोमनाथ से लगभग ४० मील उत्तर है, चौथा उड़ीसा में धौली पर है जो कटक से २० मील दक्षिण है और पांचवां चिल्क झील के निकट जौगद पर है जो आधुनिक गंजम नगर से १८ मील उत्तर-पश्चिम की ओर है।

ये चौदहों सूचनाएं भारतवर्ष के इतिहास के प्रत्येक जानने वाले के लिये इतनी उपयोगी हैं कि हम यहां पर उनका पूरा अनुवाद देना आवश्यक समझते हैं। पहिले पहिल उनका अनुवाद जेम्स प्रिन्सेप साहब ने किया था और उनके उपरान्त विल्सन, बर्नफ, लैसन, कर्न और सेनार्ट साहबों ने इस अनुवाद को संशोधित किया है। सेनार्ट साहब का अनुवाद सबसे नवीन है

और उन्हीं के आधार पर हम निम्न लिखित अनुवाद देते हैं। यह लिखना कदाचित आवश्यक नहीं है कि इन सूचनाओं में अशोक अपने को पियदसी कहता है—

सूचना १।

यह सूचना देवताओं के प्यारे राजा पियदसी की आज्ञा से खुदवाई गई है। यहां इस पृथ्वी पर कोई किसी जीवधारी जन्तु का वलिदान अथवा भोजन के लिये न मारे। राजा पियदसी ऐसे भोजन में बहुत से पाप देखता है। पहिले ऐसे भोजन की आज्ञा थी और देवताओं के प्रिय राजा पियदर्सी के रसोई घर में तथा देवताओं के प्रिय राजा पियदसी के भोजन के लिये प्रतिदिन हजारों जीव मारे जाते थे। जिस समय यह सूचना खोदी जा रही है उस समय उसके भोजन के लिये केवल तीन जीव अर्थात् दो पक्षी और एक हरिन मारे जाते हैं और उन में से हरिन नित्य नहीं मारा जाता। भविष्यत में ये तीनों जीव भी नहीं मारे जांयगे।

सूचना २।

देवताओं के प्रिय राजा पियदसी के राज्य में सर्वत्र और सीमा प्रदेश में रहने वाली जातियों यथा चोल, पंड्य, सत्यपुत्र और केरलपुत्र के राज्यों में तम्बपन्नी तक, यूनानियों के राजा एण्टिओकस और उसके आसपास के राजाओं के राज्य में सर्वत्र देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने दो प्रकार की औषधियों के दिये जाने का प्रवन्ध किया है अर्थात् मनुष्यों के लिये औषधि और पशुओं के लिये औषधि। जहां कहीं मनुष्यों और पशुओं के लिये लाभदायक पौधे नहीं होते वहां वे ले जाकर लगाए गए हैं और सर्वसाधारण के मार्गों में मनुष्यों और पशुओं के लिये कुएं खोदवाए गए हैं।

सूचना ३।

देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने इस भांति कहा। अपने राज्याभिषेक के वारहवें वर्ष में मैंने इस प्रकार आज्ञाएं दीं। मेरे राज्य में सर्वत्र धर्म्मयुत, राजुक और नगरों के राज्याधिकारी

पाँच वर्ष में एक बार एक सभा (अनुसम्यान) में एकत्रित हों और अपने कर्तव्य के अनुसार इस प्रकार धर्म्म की शिक्षाएं दें "अपने पिता, माता, मित्रों, संगियों और सम्बन्धियों की धर्मयुत सेवा करना अच्छा और उचित है, ब्राह्मणों और श्रामनों को भिक्षा देना, प्राणियों के जीवन का सत्कार करना और अपव्यय तथा कटु वचन से बचना अच्छा और उचित है।' तब राजुक धर्म्मयुतों को मन और वाक्य से विस्तार पूर्वक शिक्षा देगा।

सूचना ४।

प्राचीन समय में कई सौ वर्षों तक जीवों का वध, पशुओं पर निर्दयता, सम्बन्धियों के सत्कार का अभाव और ब्राह्मणों और श्रामनों के सत्कार का अभाव चला आया है परन्तु आज राजा पियदस्सी ने जो कि देवताओं का प्रिय और धर्म काज में बड़ा भक्त है ढिंढोरा पिटवा कर और लाव लशकर हाथी मशाल और स्वर्गीय वस्तुओं को अपनी प्रजा को देखला कर धर्म को प्रगट किया।

देवताओं के प्रिय राजा पियदसी को इन धर्म्म शिक्षाओं के प्रचार के लिये धन्यवाद है कि आज जीवधारी पशुओं का सत्कार, उनके लिये दया, सम्बन्धियो ब्राह्मणों और श्रामनों के लिये सत्कार, माता पिता की आज्ञा का भक्ति के साथ पालन और वृद्धों का आदर होना है जैसा कि कई शताब्दियों तक नहीं रहा। अन्य विषयों की नाईं इस विषय में भी धर्म्म का विचार किया गया है और देवताओं का प्रिय राजा पियदस्सी इसको बराबर प्रचलित रक्खेगा। देवताओं के प्रिय राजा पियदस्सी के पुत्र, पौत्र और परपौत्र इस धर्म्म के प्रचार को सृष्टि के अन्त तक रक्षित रक्खेंगे। धर्म्म और भलाई में दृढ़ रह कर वे लोग धर्म्म की शिक्षा देंगे। क्योंकि धर्म्म की शिक्षा देना सब कार्यों में उत्तम है और भलाई के बिना कोई धर्म्म का कार्य नहीं होता। धार्मिक प्रेम का दृढ़ होना और इसकी वृद्धि होना वांछनीय है। इस उद्देश्य से यह लिखवाया गया है कि वे लोग अपने को इस सर्वोच्च भलाई के कार्य में लगावें और उसकी अवनति

न होने दें। देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने इसको अपने राजगद्दी पर बैठने के बारह वर्ष पीछे खुदवाया है।

सूचना ५

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस भांति बोला। पुण्य करना कठिन है और जो लोग पुण्य करते हैं वे कठिन कार्य्य करते हैं। मैंने स्वयं बहुत से पुण्य के कार्य्य किये हैं। और इसी भांति मेरे पुत्र, पौत्र और मेरी सब से अन्तिम सन्तति कल्पान्त तक पुण्य के कार्य्य करेगी। और जो इस कार्य्य करने में चूकेगा वह पाप का भागी होगा। पाप करना सहज है। देखो प्राचीन समय में धर्म्म का प्रबन्ध करने वाले कर्म्मचारी (धर्म्म महामात्र) नहीं थे। परन्तु मैंने अपने राज्याभिषेक के १३ वें वर्ष में धर्म के प्रबन्ध करने वाले नियत किए हैं। ये लोग सब सम्प्रदाय के लोगों से धर्म्म के स्थापित करने और उन्नति करने के लिये और धर्म्म-युतों की भलाई करने के लिये मिलते हैं। वे यवन, कम्बोज, गान्धार, सौराष्ट्र, पेतेनिक, और सीमा प्रदेश की अन्य (अपारान्त) जातियों के साथ मिलते हैं। वे योधाओं और ब्राह्मणों के साथ, गरीब अमीर और वृद्धों के साथ, उन की भलाई और सुख के लिये और सत्य धर्म्म के अनुयायियों के मार्ग को सब विघ्नों से रहित करने के लिये मिलते हैं। जो लोग बन्धनों में है उन्हें वे सुख देते हैं, और उनकी बाधाओं को दूर करके उन्हें मुक्त करते हैं, क्योंकि उन्हें अपने कुटुम्ब का पालन करना पड़ता है, वे धोखे का शिकार हुए हैं और वृद्धा अवस्था ने उन्हें आ घेरा है। पाटलि-पुत्र तथा अन्य नगरों में वे मेरे भाई बहिनों और अन्य सम्बन्धियों के घर में यत्न करते हैं। सर्वत्र धर्म्ममहामात्र लोग सच्चे धर्म के अनुयायियों, धर्म्म में लगे हुए और धर्म्म में दृढ़ लोगों और दान करने वालों के साथ, मिलते हैं। इसी उद्देश्य से यह सूचना खोदवाई गई है।

सूचना ६

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। प्राचीन

समय में हर समय कार्य करने और विवरण सुनने की ऐसी प्रणाली कभी नहीं थी । इसे मैंने ही किया है। हर समय, खाने के समय, विश्राम के समय, शयनागार में, एकान्त में, अथवा वाटिका में, सर्वत्र वे कर्म्मचारी लोग मेरे पास आते जाते हैं जिन्हें कि मेरी प्रजा के काम काज के विषय की सूचना का भार दिया गया है और मैं अपनी प्रजा के सम्बन्ध की बातें उन के द्वारा कहला देता हूं । स्वयं मेरे मुख से कही हुई शिक्षाओं को मेरे धर्म्ममहामात्र लोग प्रजा से कहते हैं । इस प्रकार मैं ने यह आज्ञा दी है कि जहाँ कहीं धर्म्मोपदेशकों की सभाओं में मतभेद वा झगड़ा हो उसकी सूचना मुझे सदा मिलनी चाहिये क्योंकि न्याय के प्रबन्ध में जितना उद्योग किया जाय थोड़ा है । मेरा यह धर्म्म है कि मैं शिक्षा द्वारा लोगों की भलाई करूं । निरन्तर उद्योग और न्याय का उचित प्रबन्ध सर्व साधारण के हित की जड़ है और इससे अधिक फलदायक कुछ नहीं है। अतएव मेरे सब यत्नों का एक यही उद्देश्य अर्थात् सर्व साधारण से इस प्रकार उऋण होना है।मैं यहाँ इस के नीचे उन्हें इतना सुखी रखता हूं जितना कि मेरे किये हो सकता है । वे भविष्यत में स्वर्ग में सुख पावें। इसी उद्देश्य से मैं ने यह सूचना यहां खुदवाई है कि वह बहुत समय तक बनी रहे और मेरे पुत्र पौत्र और परपौत्र मेरी नाईं सर्व साधरण का हित करें। इस बड़े उद्देश्य के लिये बहुत ही अधिक उद्योग की अवश्यकता है।

सूचना ७

देवताओं के प्रिय राजा पियदसी की यह बड़ी अभिलाषा है कि सब स्थानों में सब जातियां अपीड़ित रहें, वे सब समान रीति से इन्द्रियों का दमन करें और आत्मा को पवित्र बनावें परन्तु मनुष्य अपनी संसारी बातों में अधीन हैं । इस कारण लोग जिन बातों को मानते हैं उन के अनुसार कार्य्य पूर्ण रीति से नहीं करते और जो लोग बहुत सा दान नहीं देते वे भी अपनी

इन्द्रियों को दमन और आत्मा को पवित्र कर सकते हैं और अपनी भक्ति में कृतज्ञता और सचाई रख सकते हैं; और यही प्रशंसनीय है।

सूचना ८

प्राचीन समय में राजा लोग सहेर खेलने जाया करते थे, यहां इस भूमि के नीचे वे अपने जी बहलाने के लिये शिकार तथा अन्य प्रकार के खेल करते थे। मैं, देवताओं के प्रिय राजा पियदसी, ने अपने राज्याभिषेक के १० वर्षों के उपरान्त सत्य ज्ञान को प्राप्त किया। अतएव मेरे जी बहलाने के कार्य ये हैं अर्थात् ब्राह्मणों और श्रामनों से भेंट करना और उनको दान देना, वृद्धों से भेंट करना, द्रव्य बांटना, राज्य में प्रजा से भेंट करना, उन्हें धार्म्मिक शिक्षा देनी और धार्म्मिक विषयों पर सम्मति देनी। इस प्रकार देवताओं का प्रिय राजा पियदसी अपने भले कर्मों से उत्पन्न हुए सुख को भोगता है।

सूचना ९

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। लोग बीमारी में, पुत्र वा कन्या के विवाह में, पुत्र के जन्म पर, और यात्रा में जाने के समय भिन्न २ प्रकार के विधान करते है। इन अवसरों तथा ऐसेही अन्य अवसरों पर लोग भिन्न २ विधान करते हैं। परन्तु ये असंख्य और भिन्न प्रकार के विधान जिन्हें कि अधिकांश लोग करते हैं, व्यर्थ और निरर्थक है। परन्तु इन सब रीतियों को करने की चाल बहुत दिनों से चली आती है, यद्यपि उनका कोई फल नहीं होता। परन्तु इस के विरुद्ध धर्म कार्य्य करना बहुत ही अधिक यश की बात है। गुलामों और नौकरों पर यथोचित ध्यान रखना, और सम्बन्धियों तथा शिक्षकों का सत्कार करना प्रशंसनीय है। जीवों पर दया और ब्राह्मणों तथा श्रामनों को दान देना प्रशंसनीय है। मैं इन तथा ऐसे ही अन्य भलाई के कार्य्यों को धर्म्म कार्य्य का करना कहता हूं। पिता वा पुत्र, भाई वा गुरू को कहना चाहिये कि यही प्रशंसनीय है और इसी का साधन तब तक करना चाहिये जब तक कि उद्देश्य

प्राप्त न हो। यह कहा जाता है कि दान देना प्रशंसनीय है, परन्तु कोई दान इतना प्रशंसनीय नहीं है जितना कि धर्म्म का दान अर्थात् धर्म्म की शिक्षा देनी। इसलिये मित्र, सम्बन्धी वा संगी को यह सम्मति देनी चाहिये कि अमुक २ अवस्थाओं में यह करना चाहिये-यह प्रशंसनीय है। इस में विश्वास रखना चाहिए कि ऐसे आचरण से स्वर्ग मिलता है और मनुष्य को उत्साह के साथ उसे स्वर्ग का मार्ग समझ कर करना चाहिये।

सूचना १०।

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस के अतिरिक्त किसी प्रकार के यश वा कीर्ति को पूर्ण नहीं समझता कि उसकी प्रजा वर्तमान में और भविष्यत में उस के धर्म्म को माने और उसके धर्म्म के कार्य्य करे। इसी यश और कीर्ति को देवताओं का प्रिय राजा पियदसी चाहता है। देवताओं के प्रिय राजा पियदसी के सब उद्योग आगामी जीवन में मिलनेवाले फलों के लिये तथा जीवन मरण से बचने के लिये हैं, क्योंकि जीवन मरण दुःख है। परन्तु इस फल को प्राप्त करना छोटों और बड़ों दोनों ही के लिये कठिन है, जब तक कि वे अपने को सब वस्तुओं से अलग करने का दृढ़ उद्योग न करें। विशेषतः बड़े लोगों के लिये इसका उद्योग करना बड़ा कठिन है।

सूचना ११।

देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने इस प्रकार कहा। धर्म्म के दान, धर्म्म की मित्रता, धर्म्म की भिक्षा, और धर्म्म के सम्बन्ध के समान कोई दान नहीं है। निम्नलिखित बातें करनी चाहिए अर्थात गुलामों और नौकरों पर यथोचित ध्यान रखना, माता और पिता की आज्ञा पालन करना, मित्रों, संगियों, सम्बन्धियों, श्रमनों और ब्राह्मणों की ओर उदार भाव रखना और प्राणियों के जीवन का सत्कार। पिता को पुत्र वा भाई, मित्र, संगी वा पड़ोसी को भी यही शिक्षा देनी चाहिये कि यह प्रशंसनीय है और इसे करना चाहिये। इस

प्रकार यत्न करने से उसे इस संसार में तथा आने वाले जीवन में फल प्राप्त होता है, धर्म्म के दान से अनन्त यश मिलता है।

सूचना १२।

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी सब पन्थ के लोगों का, सन्यासियों और गृहस्थों दोनों ही का सत्कार करता है। वह उन्हें भिक्षा तथा अन्य प्रकार के दान देकर सन्तुष्ट करता है। परन्तु देवताओं का प्रिय ऐसे दान वा सत्कार को उन के वास्तविक धर्म्म आचरणों की उन्नति के उद्योग के सामने कुछ नहीं समझता। यह सत्य है कि भिन्न २ पन्थों में भिन्न २ प्रकार के पुण्य समझे जाते हैं। परन्तु उन सब का एकही आधार है और वह आधार सुशीलता और सम्भाषण में शान्ति का होना है। इस कारण किसी को अपने पन्थ की बड़ी प्रसंशा और दूसरों के पन्थ की निन्दा नहीं करनी चाहिये, किसी को यह नहीं चाहिये कि दूसरों को विना कारण हलका समझे परन्तु यह चाहिये कि उन का सब अवसरों पर उचित सत्कार करे। इस प्रकार यत्न करने से मनुष्य दूसरों की सेवा करते हुए भी अपने पन्थ की उन्नति कर सकते है। इसके विरुद्ध यत्न करने से मनुष्य अपने पन्थ की सेवा नहीं करता और दूसरों के साथ भी बुरा व्यवहार करता है। और जो कोई अपने पन्थ में भक्ति रखने के कारण उस की उन्नति के लिये उस की प्रशंसा और दूसरे पन्थों की निन्दा करता है वह अपने पन्थ में केवल कुठार मारता है। इस लिये केवल मेल ही प्रशंसनीय है, जिस से कि सब लोग एक दूसरे के मतों को सहन करने और सहन करने में प्रेम रखते है। देवताओं के प्रिय की यह इच्छा है कि सब पन्थ के लोगों को शिक्षा दी जाय और उनके सिद्धान्त शुद्ध हों। सब लोगों को, चाहे उन का मत कुछ भी क्यों न हो, यह कहना चाहिये कि देवताओं का प्रिय वास्तविक धर्म्माचरण की उन्नति और सब पन्थों में परस्पर सत्कार की अपेक्षा दान और बाहरी विधानों को कम समझता है। इसी उद्देश्य से धर्म्म का प्रबन्ध करने वाले कर्म्मचारी, स्त्रियों के

लिये कर्म्मचारी, निरीक्षक और अन्यान्य कर्म्मचारी लोग कार्य करते है। इसी का फल मेरे धर्म्म की उन्नति और धर्म्म दृष्टि से उस का प्रचार है।

सूचना १३।

कलिङ्ग का देश, जिसे देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने जीता है बहुत बड़ा है। इसमें लाखों जीव वा लाखों प्राणी गुलाम बनाये गये हैं और लाखों का वध किया गया है। कलिङ्ग विजय करने के समय से देवताओं का प्रिय राजा धर्म्म की ओर फिरा है, धर्म्म में रत है, धर्म्म के लिये उत्सुक है और उस ने अपने को धर्म्म के प्रचार में लगाया है,—कलिङ्ग विजय करने पर देवताओं के प्रिय को इतना अधिक पश्चात्ताप हुआ। इस देश को जो कि मेरे आधीन नहीं था, विजय करने में मैं देवताओं के प्रिय ने देशवासियों के वध और गुलाम बनाए जाने के लिये बहुत अधिक पश्चात्ताप किया है और उसका प्रभाव मेरे ऊपर बहुत पड़ा है। परन्तु यही बात है जिस के लिये देवताओं के प्रिय ने बहुत अधिक पश्चात्ताप किया है। सर्वत्र ब्राह्मण वा श्रामन, सन्यासी वा गृहस्थ लोग रहते हैं और ऐसे लोगो में अधिकारियों के लिये सत्कार, माता पिता की आज्ञा मानना, मित्रों और सम्बन्धियों मे प्रीति नोकरों पर ध्यान रखना और भक्ति में सचाई पाई जाती है। ऐसे मनुष्यों पर कठोरता होती है उनकी मृत्यु होती है तथा प्रिय लोगों से उनका वियोग होता है। और यदि विशेष रक्षा में रह कर वे स्वयं हानि से बच भी जांय तो भी उनके मित्र, जानपहिचान के लोग, संगी और सम्बन्धी लोग उजड़ जाते हैं, और इस प्रकार उन्हें भी क्लेश उठाना पड़ता है। मै, जो कि देवताओं का प्रिय हूं इस प्रकार की कठोरताओं का बड़ा अधिक अनुभव करता और उनपर पश्चात्ताप करता हूं। कोई ऐसा देश नहीं है जहां कि ब्राह्मण और श्रामन लोग नहीं हैं और किसी देश में कोई ऐसा स्थान नहीं है जहां कि लोग किसी न किसी धर्म्म को न मानते हों। कलिङ्ग देश में इतने अधिक लोगों के हत जाने, उजड़ जाने, और

जाने, और गुलाम बनाए जाने के कारण देवताओं का प्रिय इस का आज हजार गुना अधिक अनुभव कर रहा है।

देवताओं का प्रिय सब प्राणियों की रक्षा, जीवन के सत्कार, शान्ति और दया के आचरण का उत्सुक हृदय से अभिलाषी है। इसी को देवताओं का प्रिय धर्म का विजय करना समझता है। अपने राज्य तथा उसके सब सीमा प्रदेशों में, जिसका विस्तार कई सौ योजन है, इन्हीं धर्म के विजयों में देवताओं का प्रिय बड़ा प्रसन्न होता है। उनके पड़ोसियों में यवनों का राजा एण्टि-ओकस, और एण्टिओकस के उपरान्त चार राजा लोग अर्थात् टोलेमी, एण्टिगोनस, मेगेस, और सिकन्दर, दक्षिण में तम्बपन्नी नदी तक चोल और पंड्य लोग और हेनराज विस्मवसी भी, यूना-नियों और कम्बोजों में नाभक और नाभपन्ति लोग, भोज और पेतेनिक लोग, अन्ध्र और पुलिन्द लोग—सर्वत्र लोग देवताओं के प्रिय की धार्मिक शिक्षाओं के अनुकूल है। जहां कहीं देवताओं के प्रिय के दूत भेजे गए वहां लोगों ने देवतओं के प्रिय की ओर से जिस धर्म्म के कर्त्तव्यों की शिक्षा दी गई उसे सुना और उस धर्म तथा धार्मिक शिक्षाओं से सहमत हुए और सहमत होंगे………… इस प्रकार विजय चारों ओर फैलाई गई है। मुझे अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ है, धर्म्म के विजयों से ऐसा सुख ही होता है। पर सच तो यह है कि यह आनन्द एक दूसरी बात है। देवताओं का प्रिय केवल उन फलों को बहुत अधिक समझता है जो कि दूसरे जन्म में अवश्य मिलेंगे। इसी उद्देश्य से यह धार्मिक शिलालेख खुदवाया गया है कि हमारे पुत्र और पौत्र यह न सोचें कि किसी नवीन विजय की आवश्यकता है, वे यह न विचारें कि तलवार से विजय करना 'विजय' कहलाने योग्य है, वे उन में नाश और कठोरता के अतिरिक्त कुछ न देखें, वे धर्म के विजय को छोड़ कर और किसी प्रकार की विजय को सच्ची विजय न समझें। ऐसी विजय का फल इस लोक में तथा परलोक में होता है। वे लोग केवल धर्म में प्रसन्न रहें, क्योंकि उसीका फल इस लोक और परलोक मे होता है।

सूचना १४

यह सूचना देवताओं के प्रिय राजा पियदसी की खोदवाई हुई है। वह कुछ तो संक्षेप में, कुछ साधारण विस्तार की और कुछ बहुत विस्तृत है। अभी सबका एक दूसरे से सम्बन्ध नहीं है क्योंकि मेरा राज्य बड़ा है और मैंने बहुत सी बातें खोदवाई हैं और बहुत सी बातें अभी और खोदवाऊंगा। कुछ बातें दोहरा कर लिखी गई हैं क्योंकि मैं उन बातों पर विशेष जोर दिया चाहता हूं। प्रति लिपि में दोष हो सकते हैं,—यह हो सकता है कि कोई वाक्य कट गया हो वा अर्थ और का और समझा जाय। यह सब खोदनेवाले कारीगर का काम है।

ये अशोक की चौदहों प्रसिद्ध सूचनाएं हैं जिनके द्वारा उसने (१) पशुओं के वध का निषेध किया (२) मनुष्यों और पशुओं के लिये चिकित्सा का प्रबन्ध किया (३) पांचवें वर्ष एक धार्मिक उत्सव किए जाने की आज्ञा दी, (४) धर्म की शोभा प्रगट की (५) धर्म्ममहामात्रों और उपदेशकों को नियत किया, (६) सर्वसाधारण के सामाजिक और गृह सम्बन्धी जीवन के आचरणों की सुधार के लिये आचार शिक्षक नियत किए, (७) सब के लिये धार्म्मिक अप्रतिरोध प्रगट किया (८) प्राचीन समय के हिंसक कार्यों के स्थान पर धार्म्मिक सुखों की प्रशंसा की, (९) धार्मिक शिक्षा और सदुपदेश देने की महिमा लिखी (१०) सत्य धर्म के प्रचार करने की कीर्ति और सत्य वीरता की प्रशंसा की (११) सब प्रकार के दानों में धार्मिक शिक्षा के दान को सर्वोत्तम कहा, (१२) सार्वजनिक सम्मति के सम्मान और आचार के प्रभाव सम्बन्धी सिद्धान्तों पर अन्य धर्म के लोगों को अपने मत में लेने की इच्छा प्रगट की (१३) कलिंग के विजय का उल्लेख किया और उन पांच यूनानी राजाओं तथा भारतवर्ष के राज्यों के नाम लिखे जहां कि धर्मोपदेशक भेजे गए थे, और अन्त में (१४) उपरोक्त शिलालेखों का सारांश दिया और सूचनाओं के खोदवाने के विषय में कुछ वाक्य लिखे।

ऐतिहासिक दृष्टि से दूसरी सूचना बड़े काम की है, क्योंकि इसमें सिरिया के एण्टिओकस तथा हिन्दूराज्यों के नाम दिए हैं। पांचवीं सूचना में भी ऐसे नाम है और तेरहवीं सूचना में कलिङ्ग के विजय का उल्लेख है जिससे कि बंगाल और उड़ीसा का मगध और उत्तरी भारतवर्ष से घनिष्ट राज्यसम्बन्ध हुआ। इसी सूचना में पांच यूनानी राजाओं के नाम दिए है और वह मूल पाठ, जिनमें कि ये नाम आए हैं, उद्धृत किए जाने योग्य है।

"अन्तियोक नाम योन राज, परम च तेन अन्तियोकेन चतुर राजनि, तुरमये नाम, अन्तिकिन नाम, मक नाम, अलिक-सन्दरे नाम।"

ये पांचो नाम सीरिया के एण्टिओकस, ईजिप्ट के टोलेमी, मेसेडन के एण्टिगोनस, साइरीन के मगस, और एपिरस के एलेकज़ाण्डर के है। ये सब अशोक के समकालीन थे और अशोक ने उनके साथ सन्धि की थी और उनकी सम्मति से उनके देशों में बौद्ध धर्म्म के प्रचार के लिये उपदेशक भेजे थे। इसी सूचना में भारतवर्ष तथा उसके आसपास के उन राज्यों के नाम भी दिए है जहां इसी प्रकार धर्मोपदेशक लोग भेजे गए थे।

उपरोक्त चौदहों सूचनाओं के सिवाय, जोकि कानून या आचार नियमों की भांति प्रकाशित की गई थीं, अशोक ने समय समय पर अन्य सूचनाएं भी खुदवाई थीं और उनमें से कुछ खुदे हुए लेख हम लोगों को मिले भी है।

धौली और जौगड़ (जो कटक के दक्षिण-पश्चिम में है) की एक सूचना में तोसली नगर के शासन के लिये दया से भरे हुए नियम लिखे हैं, सब प्रजाओं के लिये धर्माचरण की शिक्षा दी है और पांचवें वर्ष उस धार्मिक उत्सव को करने के लिये कहा है जिसका उल्लेख ऊपर आया है। उसी सूचना में यह भी लिखा है कि उज्जयिनी और तक्षशीला में यह उत्सव प्रति तीसरे वर्ष होना चाहिए।

धौली और जौगड़ में एक दूसरी सूचना भी प्रकाशित की गई थी जिसमें तोसली और समापा के शासन के नियम और सीमा-

प्रदेश के कर्म्मचारियों के लिये शिक्षा है। दो सूचनाओं का अर्थात् एक तो सहसराम (बनारस के दक्षिण-पूरब) की, और दूसरे रूपनाथ (जबलपुर के उत्तर-पूरब) की सूचनाओं का अनुवाद डाक्टर बुहलर साहब ने किया है। उनमें धार्मिक सत्योपदेश हैं और उनसे विदित होता है कि यह धार्म्मिक सम्राट २५६ धर्मोपदेशकों (भिक्षुओं) को नियत करके उन्हें चारों ओर भेज चुका था। वैराट (दिल्ली के दक्षिण-पश्चिम) का शिलालेख मगध के धर्मोपदेशकों के लिये है और उसमें अशोक ने बौद्ध त्रैकत्व अर्थात् बुद्ध, धर्म्म और संघ में अपना विश्वास प्रगट किया है। अशोक की दूसरी रानी की एक धार्मिक सूचना इलाहाबाद में मिली है और अशोक के तीन नये शिलालेख मैसूर में मिले हैं।

अब हम गुफाओं के शिलालेखों का वर्णन करेंगे।

निम्न लिखित गुफाओं के शिलालेख मिले हैं अर्थात् गया के १६ मील उत्तर बरबर और नागार्जुनी गुफाओं के, कटक के उत्तर खण्डगिरि की गुफाओं के, और मध्यप्रदेश में रामगढ़ की गुफाओं के शिलालेख। बरबर की गुफाओं के शिलालेख में लिखा है कि इन गुफाओं को अशोक (पियदसी) ने धार्मिक भिक्षुओं को दिया था, और नागार्जुनी की गुफाओं में लिखा है कि इन्हें अशोक के उत्तराधिकारी दशरथ ने दान किया था। खण्डगिरि और उदयगिरि की गुफाओं में से अधिकांश कलिंग (उड़ीसा) के राजाओं की दान की हुई हैं।

और अन्त में हम लाटों पर खुदे हुए लेखों के विषय में लिखेंगे। दिल्ली और इलाहाबाद की प्रसिद्ध लाटों ने सर विलियम जोन्स के समय से पुरातत्व वेत्ताओं का ध्यान आकर्षित किया है और वे उनकी चतुराई में बट्टा लगाती रही हैं। अन्त में उन्हें पहिले पहिल प्रिन्सेप साहब ने पढ़ा। दिल्ली की दोनों लाट और इलाहाबाद की लाट के सिवाय, तिरहुत में लौरिया में दो लाट और भूपाल में सांची में एक लाट है।

प्रायः सब लाटों में वही छ सूचनाएं खुदी हुई हैं, पर दिल्ली में फीरोजशाह की लाट में दो सूचनाएं अधिक पाई गई हैं।

स्मरण रहे कि ये सूचनाएं अशोक के राज्याभिषेक के २७ वें और २८ वें वर्ष में प्रकाशित की गई थीं। उनमें इस सम्राट के राजकीय विषयों का बहुत ही कम उल्लेख है, पर उसने सदाचरण और धर्म की शिक्षाओं तथा सर्वसाधारण के हित के लिये जो कार्य किए थे उनके वृत्तान्त से वे भरी हुई हैं। संक्षेप में, इस धार्मिक सम्राट ने (१) अपने धर्म सम्बन्धी कर्मचारियों को उत्साह और धार्मिक चिन्ता के साथ कार्य करने का उपदेश किया है, (२) दया, दान, सत्य, और पवित्रता को धर्म कहा है, (३) आत्म परीक्षा करने और पाप से बचने के लिये जोर देकर उपदेश दिया है, (४) लोगों को धार्मिक शिक्षा देने का कार्य रज्जुकों को सौंपा है और जिन लोगों को फांसी की आज्ञा हो उनके लिये तीन दिन की अवधि दी है (५) भिन्न भिन्न प्रकार के पशुओं के वध का निषेध किया है (६) अपनी प्रजा पर अपना हित प्रगट किया है और सब पंथ के लोगों के बौद्ध होजाने की आशा प्रगट की है (७) यह आशा प्रगट की है कि उसकी सूचनाएं तथा धर्मोपदेश लोगों को सत्य पथ पर चलने के लिये उद्यत करेंगे और (८) अन्त में, अपने सर्व साधारण के हित के कार्यों और लोगों की धर्म्मोन्नति के उपायों का पुनरुल्लेख किया है और सदाचार की शिक्षा द्वारा लोगों को अपने मत में लाने की आज्ञा दी है। इन आठों सूचनाओं का निम्न-लिखित अनुवाद सिनार्ट साहब के अनुसार दिया जाता है —

सूचना १।

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। अपने राज्याभिषेक के २६ वें वर्ष में मैंने यह सूचना खुदवाई है। धर्म्म में अत्यन्त उत्साह, कठोर निरीक्षण, पूरी तरह आज्ञा पालन करने और निरन्तर उद्योग के विना मेरे कर्मचारियों को इस लोक तथा परलोक में सुख पाना कठिन है। पर मेरी शिक्षा को धन्य-वाद है कि धर्म के लिये यह चिन्ता और उत्साह बढ़ रहा है और दिन दिन बढ़ेगा। और मेरे उच्च श्रेणी के, मध्यम श्रेणी के तथा नीचे की श्रेणी के कर्म्मचारी लोग उसके अनुसार चलते हैं और लोगों को सत्य मार्ग बतलाते हैं तथा उन्हें हर्षित रखते हैं। और इसी

प्रकार मेरे सीमाप्रदेश के कर्मचारी (अन्त महामात्र) भी कार्य करते हैं। क्योंकि नियम यह है —

धर्म से शासन, धर्म से क़ानून, धर्म से उन्नति और धर्म से रक्षा।

सूचना २।

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। धर्म उत्तम है। पर यह पूछा जा सकता है कि यह धर्म क्या है? धर्म थोड़ी से थोड़ी बुराई और अधिक से अधिक भलाई करने में है। वह दया, दान, सत्य और पवित्र जीवन में है। इस लिये मैंने मनुष्यों, चौपायों, पक्षियों और जलजन्तुओं के लिये सब प्रकार के दान दिए हैं, मैंने उनके हित के लिये बहुत से कार्य किए हैं, यहां तक कि उनके पीने के लिये जल का भी प्रबन्ध किया है और बहुत से अन्य प्रशंसनीय कार्य किए हैं। इस हेतु मैं ने यह सूचना खुदवाई है जिसमें लोग उसके अनुसार चलें और सत्य पथ को ग्रहण करें और यह बहुत काल तक स्थिर रहे। जो इसके अनुसार कार्य करेगा वह भला और प्रशंसनीय कार्य करेगा।

सूचना ३।

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। मनुष्य केवल अपने अच्छे कर्मों को देखता है और कहता है कि मैं ने यह अच्छा कार्य किया। पर वह अपने बुरे कर्मों को नहीं देखता और यह नहीं कहता कि मैंने यह बुरा कार्य किया, यह पाप है। यह सच है कि ऐसी जांच करना दुखदाई है परन्तु यह आवश्यक है कि अपने मन में यह प्रश्न किया जाय और यह कहा जाय कि ऐसी बातें यथा दुष्टता, निर्दयता, क्रोध और अभिमान पाप हैं। सावधानी से अपनी परीक्षा करते और कहते रहना अवश्यक है कि मैं ईर्षा को स्थान नहीं दूंगा और न दूसरों की निन्दा करूंगा। यह मेरे लिये यहां फलदायक होगा, यथार्थ में यह दूसरे जन्म में और भी लाभदायक होगा।

सूचना ४।

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। अपने

राज्याभिषेक के २६ वें वर्ष में मैं ने यह सूचना खुदवाई है। मैं ने लाखों निवासियों के लिये रज्जुकों को नियत किया है। मैंने रज्जुकों को दण्ड देने का अधिकार अपने हाथ में रक्खा है जिस में वे पूरी दृढ़ता और रक्षा के साथ अपना कार्य्य करें और मेरे राज्य के लोगों की भलाई और उन्नति करें। वे उन्नति और दुःख दोनों की बराबर जांच करते रहते हैं और धर्म्मयुतों के साथ वे मेरे राज्य के लोगों को शिक्षा देते हैं कि जिन से लोग सुख और भविष्यत में मुक्ति प्राप्त कर सकें। रज्जुक लोग मेरी आज्ञा पालन करते है पुरुष लोग भी मेरी इच्छा और आज्ञाओं का पालन करते है और मेरे उपदेशों का प्रचार करते हैं जिसमें रज्जुक लोग संतोषजनक कार्य्य करें। जिस भांति कोई मनुष्य अपने बच्चे को किसी सचेत दाई को देकर निश्चिन्त रहता है और सोचता है कि मेरा बच्चा सचेत दाई के पास है उसी भांति मैं ने भी अपनी प्रजा के हित के लिये रज्जुक लोगों को नियत किया है। और जिसमें वे दृढता और रक्षा के साथ बिना किसी चिन्ता के अपना कार्य्य करें, मै ने उन को अभियुक्त करने और दण्ड देने का अधिकार स्वयं अपने हाथ मे रक्खा है। अभियुक्त करने और दराड देने में समान दृष्टि से देखना चाहिए। इसलिये आज की तिथि से यह नियम किया जाता है, कि जिन कैदियों का न्याय हो गया है और जिन्हें फाँसी देने की आज्ञा हुई है उन के लिये तीन दिन की अवधि दी जाय। उन को सूचना दी जायगी कि वे तीन दिन तक जीवित रहैंगे न इस से अधिक और न इस से कम। इस प्रकार अपने जीवन की सूचना पाकर वे अपने दूसरे जन्म के हित के लिये दान देंगे अथवा व्रत रक्खेंगे। मेरी इच्छा है कि बन्दीगृह में भी उन्हें भविष्यत का निश्चय दिलाना चाहिए और मेरी यह दृढ़ अभिलाषा है कि मैं धर्म्म के कार्यों की उन्नति, इन्द्रियों के दमन और दान का प्रचार देखूं।

सूचना ५।

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। अपने राज्याभिषेक के २६ वर्ष के उपरान्त मैंने निम्न लिखित जीवों के

मारे जाने का निषेध किया है अर्थात शुक, सारिका, अरुन, चक्रवाक हंस, नन्दिमुख, गैरत, गेलात, (चमगीदड़) अम्बक पिल्लिक, दाडि, अनस्थिक मछली, वेदवेयक, गंगा नदी के पुपुत, संकुज, कफत-सयक, पमनसस, सिमल, संड्क, ओकपिण्ड, पलमत, स्वेत कपोत, ग्राम कपोत और सब चौपाये जो कि किसी काम में नहीं आते और खाए नहीं जाते। बकरी, भेड़ी और शूकरी जब गाभिन हों वा दूध देती हों वा जब तक उन के बच्चे छः महीने के न हों, न मारी जांय लोगों के खाने के लिये मुर्गी को खिलाकर मोटी नहीं बनाना चाहिए। जीते हुए जानवरों को नहीं जलाना चाहिए। जंगल चाहे असावधानी से अथवा उस में रहनेवाले जानवरों को मारने के लिए जलाए नहीं जायंगे जानवरों को दूसरे जीते हुए जानवर नहीं खिलाए जायंगे। तीनों चतुर्मास्यों की पूर्णिमा को, पूर्णिमा के चन्द्रमा का तिष्य नक्षत्र से और पुनर्वसु नक्षत्र से योग होने पर, चन्द्रमा के चौदहवें और पन्द्रहवें दिन और पूर्णिमा के उपरांत वाले दिन और साधारणतः प्रत्येक उपोसथ दिन में किसी को मछली मारनी वा बेचनी नहीं चाहिए। प्रत्येक पक्ष की अष्टमी चतुर्दशी अमावास्या और पूर्णिमा को और तिष्य पुनर्वसु और तीनों चतुर्मास्यों की पूर्णिमा के दूसरे दिन किसी को सांड बकरा, भेड़, सूअर वा किसी दूसरे बांधे किये जाने वाले जानवरों को बधिया नहीं करना चाहिए। तिष्य पुनर्वसु और चतुर्मास्यों की पूर्णिमाओं को और चातुर्मास्यों की पूर्णिमाओं के दूसरे दिन घोड़े वा बैल को नहीं दागना चाहिए। अपने राज्याभिषेक के २६ वें वर्ष में ने २६ बन्दियों को छोड़ दिया है।

सूचना ६ ।

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। अपने राज्याभिषेक के १२ वर्ष पर मैंने अपनी प्रजा के लाभ और सुख के लिये (पहिले पहिल) सूचनाएं खुदवाईं। मैं यह समझकर प्रसन्न हूं कि वे लोग इस से लाभ उठावेंगे और धर्म में अनेक प्रकार से उन्नति करेंगे और इस भांति ये सूचनाएं लोगों के लाभ और सुख का कारण होंगी। मैं ने उपाय किए हैं जिनसे कि

मेरी प्रजा के—जो मुझसे दूर रहती है और जो मेरे निकट रहती है—और मेरे सम्बन्धियों के भी सुख की उन्नति अवश्य होगी। इसी कारण मैं अपने सब कर्मचारियों पर देखभाल रखता हूं सब पन्थ के लोग मुझसे अनेक प्रकार के दान पाते है। परन्तु मैं उन के धर्म्म परिवर्तन को सबसे अधिक आवश्यक समझता हूं। मैंने यह सूचना अपने राज्याभिषेक के २६ वर्ष उपरान्त खोदवाई है।

सूचना ७।

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। प्राचीन समय में जो राजा लोग राज्य करते थे वे चाहते थे कि मनुष्य धर्म्म में उन्नति करें। परन्तु उन की इच्छानुसार मनुष्यों ने धर्म्म में उन्नति नहीं की। तब देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। मैंने सोचा कि प्राचीन समय के राजा लोग यह चाहते थे कि मनुष्य धर्म्म में उन्नति करें परन्तु उनकी इच्छानुसार मनुष्यों ने उन्नति नहीं की अतःमैं किस प्रकार उन्हें सत्य पथ पर ला सकता हूं। मैं अपनी इच्छानुसार किस प्रकार धर्म्म में उन की उन्नति कर सकता हूं। तब देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। मैंने धर्म्मसम्बन्धी उपदेशों को प्रकाशित करने और धार्म्मिक शिक्षा देने का निश्चय किया जिसमें मनुष्य इनको सुन कर सत्य पथ को ग्रहण करें और उन्नति करें।

सूचना ८।

मैंने धार्म्मिक शिक्षाओं को प्रकाशित किया है और धर्म्म के विषय में अनेक उपदेश दिए है जिसमें धर्म्म की शीघ्र उन्नति हो। मैंने लोगों के लिये बहुत से कर्मचारी नियत किए है उन में से प्रत्येक प्रजा की ओर अपना धर्म्म करने में लगा हुआ है जिसमें कि वे शिक्षा का प्रचार करें और भलाई की उन्नति करें। इस लिये मैं ने हजारों मनुष्य पर रज्जुक लोगों को नियत किया है और यह आज्ञा दी है कि वे धर्म्मयुतों को शिक्षा दें। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। केवल इसी

बात के लिये मैं ने लाटों पर धर्म्म सम्बन्धी लेख खोदवाए हैं. मैंने धर्म्ममहामात्रों को नियत किया है और दूर दूर तक धर्म्मोपदेशों का प्रचार किया है। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। बड़ी सड़कों पर मैंने न्यग्रोध के वृक्ष लगवाए हैं जिस में कि वे मनुष्यों और पशुओं को छाया दें, मैंने आम के बगीचे लगवाए हैं, मैंने आधे आधे कोस पर कुएँ खुदवाए हैं और अनेक स्थानों पर मनुष्यों और पशुओं के सुख के लिये धर्मशाला बनवाई हैं। परन्तु मेरे लिये यथार्थ प्रसन्नता की बात यह है कि पहिले के राजा लोगों ने तथा मैंने अनेक अच्छे कार्य्यों से लोगों के सुख का प्रबन्ध किया है परन्तु लोगों को धर्म्म के पथ पर चलाने के एकमात्र उद्देश्य से मैं अपने सब कार्य्य करता हूं। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला, मैंने धर्म्म महामात्रों को नियत किया है जिसमें कि वे सब प्रकार से धर्म्म के कार्य्य में यत्न करें और सब पन्थ के लोगों में, सन्यासियों और गृहस्थों में यत्न करें। पुजेरियों, ब्राह्मणों, सन्यासियों, निर्ग्रन्थों और भिन्न भिन्न पन्थ के लोगों के हित का ध्यान भी मेरे हृदय में रहा है और उन सब लोगों में मेरे कर्मचारी कार्य्य कर रहे हैं। महामात्र लोग अपने अपने समाज में कार्य्य करते हैं और धर्म्म के प्रबन्धकर्ता लोग प्रायः सब पन्थ के लोगों में कार्य्य करते हैं। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला. ये तथा अन्य कर्मचारी मेरे हथियार हैं और वे मेरे तथा रानियों के दान को बांटते हैं, मेरे महल में वे अपने अपने कमरों में अनेक प्रकार से कार्य्य करते हैं। मैं यह भी जानता हूं कि वे यहां तथा प्रान्तों में मेरे लड़कों के और विशेषतः राजकुमारों के दान को धर्म्म कार्य्यों के साधन और धर्म्म को बढ़ाने के लिये बांटते हैं। इस प्रकार संसार में धर्म्म कार्य्य अधिक होते हैं और धर्म्म के साधन अर्थात् दया और दान, सत्य और पवित्रता उपकार और भलाई की उन्नति होती है। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला, भलाई के अनेक कार्य्य जिन्हें कि मैं करता हूं उदाहरण की भांति हैं। उनको देखकर सम्बन्धियों और गुरुओं

की आज्ञा पालन में, वृद्धों के लिये दया भाव रखने में, ब्राह्मणों और श्रामनों का सत्कार करने में, गरीब और दुखियों तथा नौकरों और गुलामों का आदर करने में, लोगों ने उन्नति की है और उन्नति करेंगे। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। मनुष्यों में धर्म्म का उन्नति दो प्रकार से हो सकती है स्थिर नियमों के द्वारा अथवा उन लोगों में धर्म्म के विचारों को उत्तेजित करने के द्वारा। इन दोनों मार्गों में कठोर नियमों का रखना ठीक नहीं है, केवल हृदय के उत्तेजित करनेही का वस से अच्छा प्रभाव होता है। दृढ़ नियम मेरी आज्ञाएँ है यथा मैं विशेष पशुओं के वध का निषेध करू अथवा और कोई धार्म्मिक नियम बनाऊं जैसा कि मैंने किया भी है। परन्तु केवल हृदय के विचारों के परिवर्तन से ही जीवों के ऊपर दया और प्राणियों को वध न करने से विचार में धर्म्म की सच्ची उन्नति होती है इसी उद्देश्य से मैंने यह लेख प्रकाशित किया है कि वह मेरे पुत्रों और पौत्रों के समय तक स्थिर रहे और जब तक सूर्य्य और चन्द्रमा है स्थिर रहे और जिसमें वे मेरी शिक्षाओं के अनुसार चलें। क्योंकि इस पथ पर चलने से मनुष्य यहां तथा परलोक दोनों ही में सुखप्राप्त करता है। मैंने यह सूचना अपने राज्याभिषेक के २७ वें वर्ष खोदवाई है। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। जहां कहीं यह सूचना पत्थर की लाटों पर है वहां वह बहुत समय तक स्थिर रहे।

यह सूचना बहुत समय तक स्थिर रही है और उस के उपरान्त के दो हजार वर्षों में मनुष्य जाति ने "दया और दान, सत्य और पवित्रता, उपकार और भलाई" की उन्नति करने से बढ़ कर इस संसार ने कोई धर्म्म नहीं पाया है।

——.o——

अध्याय २

भाषा और अक्षर ।

अशोक के शिलालेख हमलोगों के लिये ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में उत्तरी भारतवर्ष की भाषा और अक्षरों के जानने के लिये अमूल्य है । ये सूचनाएँ निस्सन्देह उसी भाषा में है जिसको कि अशोक के समय में लोग बोलते और समझते थे और इन सूचनाओं के ऐसी बोलियों में होने से जिनमें कि भारतवर्ष के भिन्न भिन्न भागो में एक दूसरों से बहुत कम अन्तर है विदित होता है कि इस बड़े सम्राट ने अपने विस्तृत राज्य के जुदे जुदे भागों में अपने नियमों को उसी बोली मे प्रकाशित किया है जो देश के उस भाग में बोली जाती थी ।

इन शिलालेखों से विदित होता है कि उत्तरी भारतवर्ष की भाषा हिमालय से लेकर विंध्य पर्वत तक और सिन्धु से लेकर गंगा तक मुख्यतः एक ही थी। परन्तु इनमें बहुत थोड़े भेद हैं जिन से कि पुरातत्ववेत्ताओं ने यह जाना है कि उस समय में तीन प्रकार की भाषाएं बोली जाती थीं। जेनरल कानिंगहाम साहब इन्हें पंजाबी वा पश्चिमी भाषा, उज्जैनी वा बीच के देश की भाषा और मागधी वा पूर्वी भाषा के नाम से पुकारते है।

पंजाबी भाषा अन्य भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत से बहुत मिलती है। उसमें प्रियदर्शी श्रमन इत्यादि शब्दों में "र" रहता है, उस में संस्कृत स श ष भी रहते हैं और उस के रूप संस्कृत के रूपों से अधिक मिलते हैं। उज्जैनी भाषा में र और ल दोनों होते हैं, परन्तु मागधी भाषा में र का लोप हो कर उस के स्थान पर सदा ल बोला जाता है यथा राजा के स्थान पर लाजा, दशरथ के स्थान पर दशलथ इत्यादि ।

इन तीनों भाषाओं को एक मान कर पुरातत्ववेत्ता लोगों ने इस भाषा को पाली समझा है । प्रिन्सेप साहब कहते है कि यह भाषा संस्कृत और पाली के बीच की है । विल्सन साहब ने चट्टान के

शिलालेखों के चार भिन्न पाठों की ध्यानपूर्वक परीक्षा की है और उन्हों ने अपनी सम्मति इस प्रकार लिखी है "यह भाषा स्वयं एक प्रकार की पाली है और उस में अधिकांश शब्दों के रूप आज कल की पाली व्याकरण के रूपों के सदृश है। परन्तु उन में बहुत से भेद भी हैं जिनमें से कुछ तो उस भाषा के संस्कृत के साथ अधिक सम्बन्ध होने के कारण है और कुछ स्थानिक विशेषताओं के कारण जिससे कि इस भाषा की और भी अनिश्चित दशा विदित होती है।"

लेसन साहब विलसन साहब से इस बात में सहमत हैं कि अशोक के शिलालेखों की भाषा पाली है और वे यह भी कहते हैं कि पाली संस्कृत की सब से बड़ी बेटी है अर्थात् उत्तरी भारतवर्ष में संस्कृत भाषा की बोल चाल का व्यवहार उठ जाने के उपरान्त यह सब से प्राचीन भाषा है। म्योर साहब इन शिलालेखों की भाषा को उन बौद्धग्रन्थों से मिलान करके जो कि लङ्का में ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में भेजे गए थे, इस मत की पुष्टि करते हैं और यह प्रमाणित करते हैं कि वे प्राय: एक ही भाषा अर्थात् पालीभाषा में है। वर्नफ और लेसन साहब अपने "एसे सर ल पाली" लेख में लिखते हैं कि पाली भाषा "संस्कृत की बिदाई की सीढ़ी के पाहिले कदम पर है और वह उन भाषाओं मे सबसे पहिली है जिन्हों ने कि इस पूर्ण और उपजाऊ भाषा को नष्ट कर दिया"।

अब यह काफी स्पष्ट और ठीक प्रमाण है जो कि भारतवर्ष के इतिहास जानने वाले के लिये अमूल्य है। हमलोग वैदिक काल की भाषा को जानते है जो कि ऋग्वेद के सब से सादे और सुन्दर सूत्रों में रक्षित है। हम लोग ऐतिहासिक काव्यकाल की भाषा भी जानते है जो कि गद्य ब्राह्मणों और आरण्यकों में रक्षित हैं। १००० ई० पू० के उपरान्त बोलने और लिखने की भाषा में भेद बढ़ने लगा। विद्वत्तापूर्ण सूत्र प्राचीन व्याकरण की संस्कृत में बनाए जाते थे पर लोगों के बोलने की भाषा और जिस भाषा में गौतम ईसा के पहिले छठीं शताब्दी में शिक्षा देता था वह अधिक सीधी और चंचल थी। वह भाषा क्या थी यह हमें अशोक की सूचनाओं से विदित

होता है क्योंकि ईसा के ४७७ वर्ष पहिले से जब कि गौतम की मृत्यु हुई उसके २६० वर्ष पहिले तक जब कि अशोक राज्य करता था, बोलने की भाषा में बहुत अधिक अन्तर नहीं हो सकता। अतएव तीसरे अर्थात दार्शनिक काल की भाषा पाली का एक पूर्व रूप थी, हम उसे चाहे जिस नाम से (मागधी, इत्यादि) पुकारें। और उत्तरी भारतवर्ष में चौथे अर्थात बौद्ध काल में इसी भाषा के भिन्न भिन्न रूप बोले जाते थे।

पाँचवे अर्थात् पौराणिक काल में पाली भाषा में बहुत अधिक अन्तर हो गया और उससे एक दूसरी ही भाषा अर्थात् प्राकृत भाषा बन गई जो कि इस काल के नाटकों में पाई जाती है। पाली की अपेक्षा प्राकृत के शब्दों के रूप में संस्कृत से बहुत अधिक भेद होता है और इतिहास से भी यह बात विदित है कि कालिदास की नायिकाओं के बोलने की भाषा अशोक के बोलने की भाषा से बहुत पीछे के समय की है। पौराणिक काल के समाप्त होने पर एक दूसरा परिवर्तन हुआ और प्राकृत भाषा और बिगड़ कर उत्तरी भारतवर्ष में लगभग एक हजार ईस्वी तक हिन्दी हो गई।

इस प्रकार यह देखा जायगा कि ४००० वर्षों में उत्तरी भारत वर्ष की बोलने की भाषा में बड़े बड़े परिवर्तन हुए हैं। वैदिक काल में यह ऋग्वेद की संस्कृत थी, और ऐतिहासिक काव्यकाल में यह ब्राह्मणों की संस्कृत थी, दार्शनिक और बौद्ध कालों में वह पाली थी। पौराणिक काल में वह प्राकृत थी, और दसवीं शताब्दी में राजपूतों के उदय के समय से वह हिन्दी रही है।

अब हम भारतवर्ष की बोलने की भाषा के विषय को छोड़ कर उस के अक्षरों के विषय में लिखेंगे। इस के विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है और बहुत से कल्पित अनुमान किए जा चुके हैं।

देवनागरी अक्षर, जिसमें कि अब संस्कृत लिखी जाती है, बहुत ही थोड़े समय के हैं। भारतवर्ष के सब से प्राचीन अक्षर जो कि अब तक मिले हैं, अशोक के शिलालेखों के अक्षर हैं जो

कि ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में लिखे गए थे । यहां पर यह कह देना आवश्यक है कि ये शिलालेख दो जुदे जुदे अक्षरों में खुदे हैं, एक तो आज कल की अरबी और फारसी की नाई दहिनी ओर से बाईं ओर पढ़े जाते हैं और दूसरे आधुनिक देवनागरी और यूरप के अक्षरों की नाई बाईं ओर से दहिनी ओर को। पहिले प्रकार के अक्षर केवल कपुर्दगिरि के शिलालेख में तथा एरियेना के यूनानी और सीरियन राजाओं के सिक्कों में पाए जाते हैं, और वे एरियेनो-पाली अथवा अशोक के उत्तरी अक्षर कहे जाते है। दूसरे प्रकार के अक्षर अशोक के और सब शिलालेखों में है और वे इण्डो-पाली वा अशोक के दक्षिणी अक्षर कहलाते हैं।

एरियेनो-पाली अक्षरों की उत्पति भारतवर्ष से नहीं हुई और वे पश्चिमी सीमा प्रदेश को छोड़कर भारतवर्ष मे और कही प्रच· लित नहीं थे। टामस साहब का यह सिद्धान्त ठीक है कि उनकी उत्पत्ति किसी प्रकार भारतवर्ष में नहीं हुई और यह स्पष्ट है कि यह फिनीशियन के समान किसी अक्षर के आधारपर बने है। ईसा की पहिली शताब्दी के उपरान्त उनका प्रचार उठ गया।

इस के विरुद्ध इण्डो-पाली अक्षरों का प्रचार भारतवर्ष में सर्वत्र ही नहीं था वरन् उन की उत्पत्ति भी भारतवर्ष ही से हुई है। हम पहिले कह चुके है कि वह दहिनी ओर से बाईं ओर को लिखे जाते हैं और देवनागरी तथा आज कल के भारतवर्ष में के अन्य अक्षरों की उत्पत्ति उन्ही अक्षरों से हुई है। टामस साहब को यह कहने में कुछ भी सन्देह नहीं है कि ये अक्षर यहीं पर बनाए गए थे और यहीं उन की उन्नत्ति की गई थी और वे इस वर्णमाला की उत्पत्ति भारतवर्ष से बतलाने में बड़ा जोर देते है, क्योंकि बहुत से पुरातत्त्ववेता लोग इस अनुमान में मग्न है कि हिन्दुओं ने यूनानियों और फिनीशियन लोगों से अपनी वर्णमाला ली है।

जेनरल कनिंगहाम साहब टामस साहब के इस विचार को पुष्ट करते है कि इण्डो-पाली अक्षरों की उन्नति भारतवर्ष से हुई है। उन्होंने साधारणतः अक्षरों की उत्पाति, और विशेषतः इण्डो-

पाली अक्षरों की उत्पत्ति के विषय में जो कुछ लिखा है वह ऐसा सारगर्भित है कि हम उसे यहां उद्धृत करते में संकोच नहीं करते।

"मनुष्यों ने लिखने का जो पहिला उद्योग किया होगा उस में जिन वस्तुओं को वे लिखना चाहते थे ठीक उन्हीं का केवल आकार उन्होंने बनाया होगा। इस अवस्था को हम मेक्सिको के चित्रों में पाते हैं जिन में कि केवल ऐसी वस्तुएं लिखी है जो कि आंख से देखी जा सकती हैं। इन चित्रों की लिखावट में प्राचीन ईजिप्ट के लोगों ने यह उन्नति की कि वे पूरे चित्र के स्थान पर केवल उस का अंश लिखने लगे यथा मनुष्य के स्थान पर केवल मनुष्य का सिर और पक्षी के स्थान पर केवल पक्षी का सिर इत्यादि। इस लेख प्रणाली में कुछ चित्रों को उन वस्तुओं के भिन्न रूप देकर उन्नति की गई। अर्थात् सियार धूर्तता का चिन्ह बनाया गया और बन्दर क्रोध का चिन्ह। इन चिन्हों की और भी उन्नति करके दो हाथों में भाला और ढाल लिख कर वे युद्ध को प्रगट करने लगे, मनुष्य की दो टांगों को लिख कर चलने को प्रगट करने लगे और इसी प्रकार फरसे से खोदने को, आंख से देखने को इत्यादि। परन्तु इन सब बातों में भी चित्रों के द्वारा इस प्रकार विचारों को प्रगट करने की रीति बहुत ही परिमित थी...अतएव यह निश्चय जान पड़ता है कि बहुत ही प्राचीन समय में चित्रों के लिखने की रीति में इतनी उलझन और असुविधा हुई होगी कि ईजिप्ट के पुजेरियों को अपने विचारों को प्रगट करने के लिये कोई अधिक उत्तम रीति की आवश्यकता हुई। जो रीति उन्होंने निकाली वह बड़ी ही अच्छी थी।

"अपने बहुत से चित्रों के चिन्हों में ईजिप्ट के लोगों ने प्रत्येक के लिये एक विशेष उच्चारण नियत किया जिसके लिये पहिले एक चिन्ह था यथा कुत्ता (क) के लिये उन्होंने क का उच्चारण दिया और हाथ (न) के लिये उन्हों ने न नियत किया... "

"ऐसा ही व्यवहार भारतवर्ष में भी जान पड़ता है और हमें इन अभी अशोक के समय के अक्षरों में दिखलाने का यत्न करेंगे जिन में मैं समझता हूं कि भिन्न भिन्न वस्तुओं के चित्रों से उत्पत्ति

हुई है। मेरी यह सम्मति है कि भारतवर्ष के अक्षरों की उत्पत्ति भारतवर्ष से ही हुई है जैसा कि इजिप्ट के चित्राक्षरों का आविष्कार स्वयं ईजिप्ट के लोगों ने किया है. मैं इसे स्वीकार करता हूं कि बहुत से अक्षरों के लगभग वैसे ही रूप हैं जैसे कि ईजिप्ट के चित्राक्षरों में उन्हीं वस्तुओं के लिये मिलते हैं, परन्तु उनके उच्चारण बिलकुल भिन्न हैं क्योंकि इन दोनों भाषाओं में उन वस्तुओं के नाम जुदे जुदे अक्षरों से आरम्भ होते हैं।

"यथा दो पैर जो कि चलने में जुदे हो जाते हैं ईजिप्ट में चलने के चिन्ह थे और वेही रूप कम्पास की दोनों भुजाओं की नाईं भारतवर्ष का ग अक्षर है जो कि सब संस्कृत शब्दों में किसी प्रकार की गति वा चलने को प्रगट करता है। परन्तु इसी आकार के ईजिप्ट के अक्षर का उच्चारण स है। इसलिये मैं समझता हूं कि यदि भारतवासियों ने इस अक्षर को कहीं से लिया होता तो भारतवर्ष में भी इस अक्षर का उच्चारण ग के स्थान पर स होना चाहिए था। और वास्तव में यही बात अकेडियन अक्षरों में हुई जब कि उन्होने असीरियन लोगों के अक्षरों को लिया।"

जनरल कनिंगहाम साहब का अनुमान है कि इण्डो-पाली के ख अक्षर की उत्पत्ति भारतवर्ष की कुदारी से (खन्=खोदना). य की उत्पत्ति यव से, द की उत्पत्ति दाँत (दन्त) से, ध की धनुष से, प की हाथ (पाँणी) से. म की मुख से, व की वीणाँ से, न की नाक (नाँस) से, र की रस्सी (रज्जु) से, ह की हाथ (हस्त) से, ल की हल (लङ्ग) वा मनुष्य के किसी अङ्ग से, श की कान (श्रवण) से हुई है।

"प्राचीन भारतवर्ष के अक्षरों की इस प्रकार परीक्षा करने में मैने अशोक के समय अर्थात् २५० ई० पू० के समय के रूपों को भिन्न भिन्न वस्तुओं वा मनुष्य के अङ्गों वा चित्रों से मिलान किया है और मेरी इस परीक्षा का फल यह हुआ कि यह निश्चय हो गया कि बहुत से अक्षर अपने सरल रूपों में भी अपनी उत्पत्ति चित्रों से होने के बड़े प्रमाण रखते हैं। इन अक्षरों को ईजिप्ट के अक्षरों से मिलान करने से विदित होता है कि उनमें से बहुत से

एक ही वस्तु के प्रायः एक से रूप हैं। परन्तु भारतवर्ष के रूपों का उच्चारण ईजिप्ट के रूपों के उच्चारण से पूर्णतया भिन्न है जिससे यह निश्चय जान पड़ता है कि भारतवासियों ने यद्यपि ईजिप्ट के लोगों की भांति इस विषय में कार्य्य किया तथापि उन्होंने इस कार्य्य को पूर्णतया स्वतन्त्र रीति से किया है और उन्होंने अपने अक्षरों को ईजिप्ट के लोगों से नहीं लिया...

"अब यदि भारतवासियों ने अपने अक्षर ईजिप्ट के लोगों से नहीं लिए हैं तो वे अक्षर स्वयं भारतवासियों के ही बनाए हुए हैं, क्योंकि अन्य कोई ऐसे लोग नहीं थे जिन से कि उन्होंने इन्हें ग्रहण किया हो। उनके सब से निकट के लोग एरियना और फारस के लोग थे जिनमें से एरियना के लोग तो सेमिटिक अक्षर व्यवहार करते थे जिनकी उत्पत्ति फिनीशियन अक्षरों से हुई है। और जो दहिनी ओर से बाईं ओर को लिखे जाते हैं, और फारस के लोग एक त्रिकोणरूपी अक्षरों का व्यवहार करते हैं जो कि जुदी जुदी पाइयों से बने हैं और इनमें भारतवर्ष के अक्षरों के बने रूपों से कुछ भी समानता नहीं है।"

हमने टामस साहब और जनरल कनिंगहाम साहब की सम्मतियां उद्धृत की हैं क्योंकि भारतवर्ष के अक्षरों के विषय में इन लोगों से बढ़ कर और किसी ने प्रामाणिक सम्मति नहीं दी है। परन्तु हमारे पाठकों को इस गहन विषय पर अन्य विद्वानों की सम्मति भी सुनने की इच्छा होगी।

वेबर साहब का मत है कि हिन्दुओं ने अपनी वर्णमाला फिनीशियन लोगों से ली परन्तु उन्होंने अपने अक्षरों को इतना अधिक सुधारा और बढ़ाया कि उनके अक्षरों को हम स्वयं उन्हींका बनाया हुआ कह सकते हैं। मेक्समूलर साहब का मत है कि पांचवीं शताब्दी से अधिक पहिले भारतवासियों में लिखने के अक्षर नहीं थे और उन लोगों ने अपनी वर्णमाला पश्चिम के लोगों से ग्रहण की है। परन्तु राथ साहब जिन्होंने बहुत समय तक वेदों का अध्ययन किया है अपना यह विश्वास प्रगट करते हैं कि वेदों की ऋचाओं का इतना बड़ा संग्रह केवल कण्ठाग्र रख कर आज तक

रक्षित नहीं रह सकता था। और इसलिये उनका विचार है कि वैदिक काल में लोग लिखना जानते थे। बुहलर साहब का यह मत है कि भारतवर्ष की वर्णमाला जिसमें कि पांच सानुनासिक वर्ण और तीन ऊष्म वर्ण हैं ब्राह्मणों के काल के व्याकरणों में ही बनी होगी। गोल्डस्टूकर साहब का मत है कि जिस समय वेद की रिचाएं बनीं उस समय लोग लिखना जानते थे और लेसन साहब की सम्मति है कि इण्डो-पाली या अशोक के दक्षिणी अक्षरों की उत्पत्ति पूर्णतया भारतवर्ष से हुई।

——:o:——

अध्याय ३

मगध के राजा।

छान्दोग्य उपनिषद (७, १, २) में नारद कहते हैं "महाशय मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चौथे अथर्वन वेद, पांचवें इतिहास पुराण इत्यादि को जानता हूं"। ऐतिहासिक काव्यकाल के ग्रन्थों में ऐसे ही ऐसे वाक्यों से विदित होता है कि उस प्राचीन समय में भी राजाओं और उनके घरों का किसी प्रकार का इतिहास था जो कि इतिहास-पुराण कहलाता था। यद्यपि ये इतिहास हमें ब्राह्मण ग्रन्थों में जो कुछ विदित होता है उसके सिवाय वे तो अब बहुत काल हुआ कि उनका लोप हो गया है। सम्भवत ये इतिहास केवल स्थानी कथाओं के द्वारा रक्षित रक्खे जाते थे और उन में प्रत्येक शताब्दी में परिवर्तन होता जाता था और दन्तकथाएं मिलती जाती थीं, यहां तक कि लगभग दो हजार वर्ष के उपरान्त उन्होंने इस रूप को ग्रहण किया जिसमें कि हम उन्हें आज काल के पुराणों में पाते हैं। क्योंकि पुराण जो आज कल वर्तमान हैं वे पौराणिक काल में बनाए गए थे और तब से उन में भारतवर्ष में मुसलमानों की विजय के पीछे कई शताब्दियों तक बहुत से परिवर्तन हुए हैं और उनमें बहुत सी बातें बढ़ाई गई हैं।

जब इन पुराणों का सर विलियम जोन्स साहब तथा यूरप के अन्य विद्वानों ने पहिले पहिल पता लगाया तो इससे बड़ी आशा हुई कि उनसे भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की बहुत सी बातें विदित होंगी। अतः बहुत से प्रसिद्ध विद्वान इस नई खोज में दत्तचित्त हुए और डाक्टर एच. एच. विलसन साहब ने अङ्गरेज़ी जानने वालों के लिये विष्णुपुराण का अनुवाद किया "इस आशा से कि उससे मनुष्य जाति के इतिहास के एक प्रधान अध्याय की सन्तोषदायक पूर्ति हो सकेगी।"

पुराणों में कोशलों के राज्यवंश को सूर्यवंश और कुरु लोगों के वंश को चन्द्रवंश कहा है। पुराणों के अनुसार कुरुआद कुरु

होने के पहिले सूर्य्यवंश के ६३ राजा और चन्द्रवंश के ४५ राजा हो चुके थे। सन् १३५० ई० पू० को इस युद्ध का समय मानकर जैसा कि हमने किया है, और प्रत्येक राजा के शासन का औसत समय १५ वर्ष मान लेने से यह जान पड़ेगा कि आर्य्य लोगों के गंगा की घाटी में बसने और राज्य स्थापित करने का समय १४०० ई०पू० नहीं है जैसा कि हमने माना है वरन् उसका समय कम से कम इस के १००० वर्ष पहिले है। यह जान पड़ेगा कि भारतवर्ष के पुरातत्व वेत्ताओं को ऐतिहासिक काव्य काल १४०० ई० पू० से लेकर १००० ई० पू० तक स्थिर करने के स्थान पर उन्हें इसका समय १५ शताब्दी और पहिले स्थिर करना चाहिए अर्थात २५००० ई० पू० से १००० ई० पू० तक। और चूंकि वैदिक काल ऐतिहासिक काव्यकाल के पहिले है अतएव उसका समत यदि हम उसके और पहिले न स्थिर करें तो कम से कम ३००० ई०पू० से स्थिर करना चाहिए।

हमने इन बातों को यह दिखलाने के लिये लिखा है कि भारतवर्षीय इतिहास के प्रथम दो काल का जो समय निश्चित किया जाता है वह केवल विचाराधीन है और आगे चल कर अधिक खोज से उनके और भी बढ़ाने की आवश्यकता हो सकती है जैसा कि ईजिप्ट और चेलिडया के विषय में हुआ है। पुराणों में सूर्य्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओं की जो सूची दी है केवल उन्हीं के आधार पर अभी हम समय बढाना उचित नहीं समझते परन्तु फिर भी ये सूचियाँ बडे काम की और बहुत कुछ निर्देश करने वाली हैं। इनसे इस बात का स्मरण होता है कि भारतवर्ष में जातियों और राज्य वंशों का उदय और अस्त केवल थोड़ी सी शताब्दियों में ही नहीं हो सकता, परन्तु उनमें १००० वर्ष वा इस से अधिक समय लगा होगा और वे हमें, यह भी स्मरण दिलाती है कि यदि हम ने वैदिक काल का प्रारम्भ होना २००० ई० पू० से मान लिया है तो यह अन्तिम सिद्धान्त नहीं है और आगे चल कर अधिक खोज से कदाचित हमें उसका समय ३००० ई० पू० वा इससे भी पहिले स्थिर करना पड़े।

अब पुराणों की सूची के विषय में यह कहना कदाचित ही आवश्यक है कि उसमें सूर्य्यवंशी राजाओं में हम को रामायण के

नायक राम का नाम और चन्द्रवंशी राजाओं में महाभारत के नायक पांचों पाण्डवों के नाम मिलते हैं। चन्द्रवंशी राजाओं में हमें अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सुम्भ, और पुन्द्र के नाम मिलते हैं जो कि वास्तव में देशों के नाम अर्थात् क्रमात पूर्वी विहार, पूर्वी बङ्गाल उड़ीसा, टिपरा और उत्तरी बंगाल के नाम हैं। कुरु लोगों के राज्यवंश के वृत्तान्त में पूर्वी भारतवर्ष के उपनिवेशित होने के समय की दन्त कथाएं भी मिल गई होंगी।

इस प्रकार यह देखा जायगा कि सूर्य्य और चन्द्रवंशी राजाओं के जो इतिहास पुराणों में दिए हैं वे कुछ अंश में तो सत्य और कुछ अंश में दन्तकथा मात्र हैं। इस सम्बन्ध में उनकी समानता संसार के उन इतिहासों से की जा सकती है जिन्हें कि यूरप के पुजेरियों ने मिडिल एजेज़ में कई शताब्दियों में लिखा है। प्रत्येक पुजेरी सृष्टि के आरम्भ से अपना इतिहास प्रारम्भ करता था जैसा कि प्रत्येक पुराण सूर्य्य और चन्द्र वंशों के स्थापित करने वालों के समय से प्रारम्भ होता है, और पुराणों के बनाने वालों की नाईं ईसाई पुजेरी भी यहूदियों की ऐतिहासिक कथाओं में कल्पित कथाएं और कौतुक की बातें मिला देते थे और ट्रोजन लोगों के ब्रिटेन देश को पाने का वृत्तान्त और आर्थर और रोलेण्ड के विषय की दन्तकथाओं को सच्ची ऐतिहासिक घटनाओं के साथ मिला देते थे। फिर भी प्रत्येक प्रसिद्ध पुजेरी के इतिहासों में एक अंश ऐसा है जोकि ऐतिहासिक दृष्टि से अमूल्य है। जब ग्रन्थकार अपने समय के निकट आता था तो वह अपना अपने देश अपने राजा और अपने यहां के मठों का प्रामाणिक वृत्तान्त लिखता था। और इसी प्रकार मानों इस समानता को समाप्त करने के लिये, हम लोग पुराणों की कथाओं के अन्त में भी कुछ न कुछ बातें ऐसी पाते हैं जो कि इतिहास की दृष्टि से हमारे लिये अमूल्य हैं।

हम कह चुके हैं कि जो पुराण अब वर्तमान हैं वे पौराणिक काल में अर्थात् बौद्ध काल के समाप्त होने के उपरान्त ही संग्रहीत किए गए या नए रूप में बनाए गए थे। और दार्शनिक तथा बौद्ध कालों में मगध का राज्य भारतवर्ष की सभ्यता का केन्द्र था। इसी कारण पुराणों में हमें इस एक राज्य अर्थात मगध के विषय में कुछ

बहुमूल्य बातें मिलती हैं। हम इस राज्य के विषय में विष्णुपुराण की सूची उद्धृत करेंगे।

"अब मैं तुमसे बृहद्रथ की संतति का वर्णन करूंगा जोकि मगध के (राजा) होंगे। इस वंश में बहुत से प्रबल राजा हुए हैं जिनमें सब से प्रसिद्ध जरासन्ध था। उसका पुत्र सहदेव हुआ, उसका पुत्र सोमापि है, उसका पुत्र श्रुतवत होगा, उसका पुत्र अयुतयुस् होगा, उसका पुत्र निरमित्र होगा, उसका पुत्र सुक्षत्र होगा, उसका पुत्र बृहत्कर्म्मन् होगा, उसका पुत्र सेनाजित् होगा, उसका पुत्र शत्रुञ्जय होगा, उसका पुत्र विप्र होगा, उसका पुत्र शुचि होगा, उसका पुत्र क्षेम्य होगा, उसका पुत्र सुव्रत होगा, उसका पुत्र धर्म्म होगा, उसका पुत्र सुश्रम होगा, उसका पुत्र दृढ़सेन होगा, उसका पुत्र सुमति होगा, उसका पुत्र सुबल होगा, उसका पुत्र सुनीत होगा, उसका पुत्र सत्यजित होगा, उसका पुत्र विश्वजित होगा, उसका पुत्र रिपुञ्जय होगा। ये बारहद्रथ राजा हैं जोकि एक हजार वर्ष तक राज्य करेंगे।"

यद्यपि वायु पुराण, भागवत पुराण, और मत्स्य पुराण ने भी विष्णु पुराण की नाईं बारहद्रथों के लिये एक हजार वर्ष का समय दिया है फिर भी हम इन पुराणों के संशोधन करने का साहस करेंगे और इन बाईसों राजाओं के लिये कठिनता से ५०० वर्ष का समय देंगे। वास्तव में विष्णु पुराण ने अपनी भूल का संशोधन स्वयं किया है जैसा कि हम आगे चलकर दिखलावेंगे।

"बृहद्रथ वंश के अन्तिम राजा रिपुञ्जय का एक सुनीक नामक मंत्री होगा जोकि अपने सम्राट को मार कर अपने पुत्र प्रद्योतन को राजगद्दी पर बैठावेगा। उसका पुत्र पालक, उसका पुत्र विशाखयूप, उसका पुत्र जनक, और उसका पुत्र नन्दिवर्धन होगा। प्रद्योत के वंश के ये पांचों राजा पृथ्वी पर १३८ वर्ष तक राज्य करेंगे।"

"उसके उपरान्त शिशुनाग राजा होगा, उसका पुत्र काकवर्ण होगा। उसका पुत्र क्षेमवर्म्मन् होगा, उसका पुत्र क्षत्रौजस होगा, उसका पुत्र विम्बिसार होगा, उसका पुत्र अजातशत्रु होगा, उसका पुत्र दर्भक होगा, उसका पुत्र उदयाश्व होगा, उसका पुत्र भी नन्दि

वर्धन होगा, और उसका पुत्र महानन्दिन् होगा। ये दसो शिशुनाग राजा पृथ्वी पर ३६२ वर्ष तक राज्य करेंगे।"

यहाँ हम रुक जांयगे क्योंकि इस सूची में हमको एक या दो नाम ऐसे मिले हैं जिनसे कि हम परिचित हैं। वायु पुराण में बिम्बिसार को बिंबिसार लिखा है और यह राजगृह का वही राजा है जिसके समय में गौतम बुद्ध ने कपिलवस्तु में जन्म लिया था और उसका पुत्र अजातशत्रु वही प्रतापी राजा है जिसके राज्य के आठवें वर्ष में गौतम की मृत्यु हुई। हमने बुद्ध की मृत्यु का समय ४७७ ई० पू० माना है और यदि अजातशत्रु के शेष समय तथा उसके चारों उत्तराधिकारियों के शासन के लिये एक सौ वर्ष का समय दें तो महानन्द की मृत्यु और शिशुनाग वंश के समाप्त होने का समय लग भग ३७० ई० पू० होता है।

अब यदि हम विष्णुपुराण में दिए हुए राज्य वंश के समय को मान लें तो बृहद्रथ वंश के लिये १००० वर्ष, प्रद्योत वंश के लिये १३८ वर्ष और शिशुनाग वंश के लिए ३६२ वर्ष हैं अर्थात् कुरु पाञ्चाल युद्ध से लेकर शिशुनाग वंश के अन्त तक ठीक १५०० वर्ष होते हैं। अथवा यों समझिए कि यदि शिशुनाग वंश की समाप्ति ३७०ई० पू० में समझी जाय तो कुरुपाञ्चाल युद्ध का समय लगभग १८७० ई० पू० होता है।

परन्तु विष्णु पुराण का यह समय निरूपण ठीक नहीं है और विष्णु पुराण के ज्योतिष ने इस भूल को संशोधित किया है। क्योंकि जिस अध्याय से हमने ऊपर के वाक्यों को उद्धृत किया है उसी अध्याय के अन्त में (खंड ४, अध्याय २४) यों लिखा है "परीक्षित के जन्म से नन्द के राज्याभिषेक तक १०१५ वर्ष हुए। जब सप्तर्षि के प्रथम दोनों तारे आकाश में उगते हैं और उनके ठीक बीचोबीच रात्रि के समय चन्द्रमा सम्बन्धी नक्षत्र पुञ्ज दिखलाई देता है तब सप्तर्षि इस नक्षत्रयुति में मनुष्यों के एक सौ वर्ष तक स्थिर रहता है। परीक्षित के जन्म के समय वे मघा नक्षत्र पर थे, जब सप्तर्षि पूर्वाषाढ़ में होंगे तब नन्द का राज्य आरम्भ होगा।" मघा से पूर्वाषाढ़ तक दस नक्षत्र होते हैं और इसी कारण यह जोड़ा

गया कि परीक्षित और नन्द के बीच एक हजार वर्ष हुए। और यदि नन्द के राज्य के आरम्भ होने का समय (अर्थात् शिशुनाग वंश के समाप्त होने का समय) ३७० ई० पू० माना जाय तो परीक्षित ने चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में जन्म लिया और कुरु पाञ्चाल युद्ध लगभग १४०० ई० पू० में हुआ।

हमारे पाठक लोग देखेंगे कि हमने इस ग्रन्थ के पहिले भाग में इस युद्ध का जो समय निश्चित किया है उसमें और इस समय में केवल डेढ़ शताब्दि से भी कम अन्तर है।

इसके विरुद्ध यदि हम इन ज्योतिष सम्बन्धी बातों को छोड़ दें और वृहद्रथ, प्रद्योत और शिशुनाग वंशों के ३७ राजाओं में से प्रत्येक के राज्य काल का औसत २० वर्ष रक्खें तो कुरु पाञ्चाल युद्ध का समय नन्द के ४७० वर्ष पहिले अर्थात् ११० ई०पू०में होता है और इस तिथि में भी हमारी निश्चित की हुई तिथि से डेढ़ शताब्दी से कम का अन्तर होता है। इसलिये हमने इस युद्ध का जो समय निश्चित किया है वह प्रायः ठीक है।

उपरोक्त बातों से हम मगध के राजाओं के समय की एक सूची बनाने का उद्योग करेंगे। हम जानते हैं कि अजातशत्रु का राज्य ४८५ ई० पू० में प्रारम्भ हुआ और उसके पिता बिंबिसार का राज्य ५३७ ई० पू० में प्रारम्भ हुआ, यदि हम बिंबिसार के चार पूर्वजों के लिये १०० वर्ष का समय मान लें तो शिशुनाग वंश ६३७ ई० पू० में प्रारम्भ हुआ।

शिशुनाग वंश के पहिले प्रद्योत वंश के पांच राजाओं ने राज्य किया और इन पांचों राजाओं का समय ठीक १३८ वर्ष कहा गया है। इससे प्रत्येक राजा का औसत समय २७ वर्ष से कुछ ऊपर होता है जो कि बहुत अधिक है। परन्तु यह मान कर कि एक वा दो राजा ने बहुत अधिक समय तक राज्य किया होगा, हम प्रद्योत वंश का समय १३८ वर्ष मान सकते हैं।

वृहद्रथ वंश के २२ राजाओं का राज्य समय १००० वर्ष कहा गया है। यह एक हज़ार वर्ष केवल एक गोल संख्या है और उसपर

विश्वास नहीं करना चाहिए। इसके लिये ५०० वर्ष का समय अधिक सम्भव है अथवा इसे ४८४ वर्ष रखिए जिसमें २२ राजाओं की संख्या से उसमें पूरा भाग लग सके। परन्तु इससे भी प्रत्येक राज्य का औसत समय २२ वर्ष होता है जो कि अधिक है। परन्तु यह समझ कर कि कदाचित् कुछ अनावश्यक राजाओं का शासन काल छोड़ दिया गया हो हम इस औसत को मान सकते हैं।

इस हिसाब से हम निम्न लिखित सूची बनाते हैं। परन्तु बिंबिसार और अजातशत्रु के ऐतिहासिक राज्य वंश अर्थात् शिशुनाग वंश के जोकि ईसा की पहिले सातवीं शताब्दी में प्रारम्भ होता है, पहिले के राजाओं का समय कहां तक ठीक है, यह हमारे प्रत्येक पाठक को स्वयं निश्चित करना चाहिए।

बृहद्रथ वंश

	ई० पू०		ई० पू०
जरा संध	१२८०	शुचि	१०३९
सहदेव (जो कि कुरु पाञ्चाल युद्ध के समय था)	१२५९	क्षेम्य	१०१७
		सुव्रत	९९५
सोमापि	१२३७	धर्म्म	९७३
श्रुतवत	१२१५	सुश्रम	९५१
अयुतयुस्	११९३	दृढ़सेन	९२९
निरमित्र	११७१	सुमति	९०७
सुक्षत्र	११४९	सुबल	८८५
बृहत् कर्म्मन्	११२७	सुनीत	८६२
सेनजित	११०५	सत्यजित	८४१
शत्रुञ्जय	१०८३	विश्वजित्	८१९
विप्र	१०६१	रिपुञ्जय	७९७ से ७७५ तक

प्रद्योत वंश

प्रद्योतन	७७५	जनक	६९१
पालक	७४७	नन्दिवर्धन	६६५ से ६३७ तक
विशाखयूप	७१९		

शिशुनाग वंश

	ई० पू०		ई० पू०
शिशुनाग	६३७	अजातशत्रु	४८५
काकवर्ण	६१२	दर्भक	४५३
क्षेमधर्म्मन्	५८७	उदयाश्व	४३२
क्षत्रौजस्	५६२	नन्दिवर्धन	४११
बिंबिसार	५३७	महानन्दिन	३६० से ३७० तक

अब हम पुनः वाक्यों को उद्घृत करेंगे।

"महानन्दिन् का पुत्र शूद्र जाति की स्त्री से होगा, उसका नाम नन्द महापद्म होगा क्योंकि वह अत्यंत लोभी होगा। दूसरे परशुराम की नाईं वह क्षत्रिय जाति का नाश करने वाला होगा, क्योंकि उसके पीछे पृथ्वी के राजा लोग (शूद्र) होंगे। वह समस्त पृथ्वी को एक छत्र के नीचे लावेगा; उसके समूल्य इत्यादि आठ लड़के होंगे जो कि महापद्म के पीछे राज्य करेंगे और वह तथा उसके पुत्र एक सौ वर्ष तक राज्य करेंगे। ब्राह्मण कौटिल्य नौ नन्दों का नाश करेगा।"

उपरोक्त वाक्यों में हम नीच जाति के राजाओं को क्षत्रियों की राजगद्दी पर बैठते हुए और मगध के इन राजाओं का बल और महत्व उत्तरी भारतवर्ष में बढ़ते हुए देखते हैं। हमें कौटिल्य अर्थात् प्रसिद्ध चाणक्य का भी उल्लेख मिलता है जिसने नन्द वंश से बदला लेने की प्रतिज्ञा की थी (मुद्राराक्षस नाटक देखो) और चन्द्रगुप्त को मगध की राजगद्दी पर बैठाने में सहायता दी थी। नन्द और उसके आठों पुत्रों के लिये जो १०० वर्ष का समय दिया है वह केवल एक गोल संख्या है और उसे ठीक नहीं समझना चाहिए। यदि हम नन्द और उसके आठों पुत्रों के लिये ५० वर्ष का समय नियत करें तो यह बहुत है और इससे चन्द्रगुप्त के मगध के राज पाने का समय ३२० ई० पू० होता है।

"नन्द वंश के समाप्त होने पर मौर्य्य वंश का राज्य होगा क्योंकि कौटिल्य चन्द्रगुप्त को राजगद्दी पर बैठावेगा, उसका पुत्र विन्दुसार होगा, उसका पुत्र अशोकवर्धन होगा, उसका पुत्र सुय-

शल होगा, उसका पुत्र दशरथ होगा, उसका पुत्र संगत होगा, उसका पुत्र सालिशुक होगा, उसका पुत्र सोमशर्मन होगा, और उसका उत्तराधिकारी वृहद्रथ होगा। ये मौर्य वंश के दस राजा हैं जो कि १३७ वर्ष तक इस पृथ्वी पर राज्य करेंगे।"

विष्णु पुराण का ग्रन्थकर्ता यहां पर अशोक वर्धन का उल्लेख करता है परन्तु उसके राज्य में धर्म्म के उस वृहद परिवर्तन का कुछ भी वृत्तान्त नहीं लिखता, जो कि इस संसार भर में एक अद्वितीय बात है। इस ब्राह्मण ग्रन्थकार के लिये गुणी चाणक्य के कार्य्य जिसने चन्द्रगुप्त को राज्य पाने में सहायता दी थी उल्लेख करने योग्य हैं, परन्तु उस प्रतापी अशोक के कार्य्य वर्णन करने योग्य नहीं हैं जिसने कि भारतवर्ष का नाम यश और धर्म्म एण्टीओक और मेसेडन से लेकर कन्या कुमारी और लङ्का तक फैला दिया था! अस्तु, जाने दीजिए। मौर्य वंश के लिये जो १३७ वर्षों का समय दिया है वह यदि मान लिया जाय तो मौर्य वंश की समाप्ति १८३ ई० पू० में हुई।

"इसके उपरान्त सुङ्ग वंश राज्य करेगा क्योंकि (अन्तिम मौर्य्य राजा का) सेनापति पुष्पमित्र अपने स्वामी को मार कर राज्य ले लेगा। उसका पुत्र अग्निमित्र होगा, उसका पुत्र सुज्येष्ठ होगा, उसका पुत्र आर्द्रक होगा, उसका पुत्र पुलिन्दक होगा, उसका पुत्र घोषवसु होगा, उसका पुत्र वज्रमित्र होगा, उसका पुत्र भागवत होगा, उसका पुत्र देवभूति होगा। ये सुङ्ग वंश के दस राजा हैं जो कि ११२ वर्ष तक राज्य करेंगे।"

प्रसिद्ध कालिदास ने इस वंश के दूसरे राजा का नाम अपने प्रसिद्ध नाटक मालविकाग्निमित्र में अमर कर दिया है। परन्तु वहां अग्निमित्र विदिशा का राजा कहा गया है, मगध का नहीं। और उसके पिता पुष्पमित्र का सिंध नदी पर यवनों (बैक्ट्रिया के यूनानी लोगों) से युद्ध करने का वर्णन किया गया है। इस बात में कदाचित् कुछ सत्यता भी है, क्योंकि सिकन्दर के समय के पीछे भारतवर्ष के पश्चिमी सीमा प्रदेश में बैक्ट्रियन और हिन्दू लोगों में

निरन्तर युद्ध होता रहा और मगध को, जो कि भारतवर्ष का मुख्य राज्य था, इन युद्धों में सम्मिलित होना पड़ता था । सङ्ग वंश के लिये जो ११२ वर्ष का समय दिया है उसे मान लेने से इस वंश की समाप्ति ७१ ई० पू० में निश्चित होती है ।

"सङ्ग वंश के अन्तिम राजा देवभूति के कुकर्मों में लिप्त होने के कारण उसका वासुदेव नामक कान्व मन्त्री उसे मार कर राज्य छीन लेगा । उसका पुत्र भूमिमित्र होगा । उसका पुत्र नारायण होगा, उसका सुशर्म्मन् होगा । ये चारों कान्वायन ४५ वर्ष तक इस पृथ्वी पर राज्य करेंगे ।"

अब हम इन वंशों के राजाओं की तिथि विष्णु पुराण के अनुसार निश्चित करेंगे ।

नन्द वंश

नन्द और उसके आठों पुत्र—३७० से ३२० तक ।

मौर्य्य वंश

	ई० पू०		ई० पू०
चन्द्रगुप्त	३२०	सङ्गत	२०८
विन्दुसार	२९१	सालिशुक	२०१
अशोक	२६०	सोमशमन	१९४
सुयशस्	२२२	वृहद्रथ	१८७ से १८३ तक
दशरथ	२१५		

सङ्ग वंश

पुष्प मित्र	१८३	पुलिन्दक	१२६
अग्नि मित्र	१७०	घोषवसु	११५
सुज्येष्ठ	१५६	वज्रमित्र	१०४
वसुमित्र	१४८	भागवत	६१
अर्द्रक	१३७	देवभूति	८२ से ७१ तक

कन्व वंश

वासुदेव कान्व	७१	नारायण	४८
भूमि मित्र	५६	सुशर्म्मन्	३७ से २६ तक

इनमें से अनेक राजाओं का राज्य काल बहुत ही थोड़ा होने, राज्य वंश बहुधा बदलने और सेनापति और मंत्रियों का राजाओं को मार कर स्वयं राजा हो जाने से विदित होता है कि मगध का प्रताप अब नहीं रहा था और अब निर्बलता और क्षीणता आरम्भ हो गई थी। जिस राज्य ने चन्द्रगुप्त और अशोक के समय में सारे भारतवर्ष के लिये नियम निश्चित किए थे वह अब निर्बलता की अन्तिम अवस्था में था और वह किसी ऐसे प्रबल आक्रमण करने वाले को स्वीकार करने के लिये तयार था जोकि उसका राज्य चाहता हो। ऐसे आक्रमण करने वाले दक्षिण से आए दक्षिण में दार्शनिक काल में ही अन्ध्र का राज्य प्रबल और विख्यात हो गया था और अन्ध्र के एक सर्दार ने (जोकि एक "प्रबल; भृत्य" कहा गया है) अब मगध को विजय किया और वहां ४५० वर्ष तक राज्य किया। विष्णु पुराण से अब हम एक सूची और उद्धृत करते हैं जिसमें कि इन अन्ध्र राजाओं के नाम दिए हैं।

"कान्व सुशर्म्मन् को अन्ध्र जाति का एक सिप्रक नामी प्रबल भृत्य मार डालेगा और स्वयं राजा बन बैठेगा (और वह अन्ध्र भृत्य वंशो का स्थापित करने वाला होगा)। उसका उत्तराधिकारी उसका भाई कृष्ण होगा, उसका पुत्र श्रीमातकर्णि होगा, उसका पुत्र पूर्णोत्मङ्ग होगा, उसका पुत्र सातकर्णि होगा, उसका पुत्र लम्बोदर होगा, उसका पुत्र इवीलक होगा, उसका पुत्र मेघस्वाति होगा, उसका पुत्र पटुमन होगा, उसका पुत्र अरिष्टकर्मन् होगा, उसका पुत्र हाल होगा, उसका पुत्र उहलक होगा, उसका पुत्र प्रविल्सेन होगा, उसका पुत्र सुन्दरसातकर्णि होगा, उसका पुत्र चकोरसातकर्णि होगा, उसका पुत्र शिवस्वाति होगा, उसका पुत्र गौतमीपुत्र होगा, उसका पुत्र पुलिमन होगा, उसका पुत्र शिव सातकर्णि होगा, उसका पुत्र शिवस्कन्ध होगा, उसका पुत्र यज्ञ

श्री होगा, उसका पुत्र विजय होगा, उसका पुत्र चन्द्रश्री होगा उसका पुत्र पुलोमार्चिस होगा। ये अन्ध्र भृत्य वंश के तीस राजा ४५६ वर्ष तक राज्य करेंगे।"

परन्तु उपरोक्त सूची में केवल १४ राजाओं के नाम हैं पर विष्णु पुराण में और वायु पुराण तथा भागवत पुराणों में भी इस वंश के तीस राजा कहे गए हैं। और यदि इस वश का राज्य २६ ई० पू० में आरम्भ हुआ तो उपरोक्त समय के अनुसार उसकी समाप्ति सन् ४३० ई में हुई।

यदि हम इन ४५६ वर्षों को उपरोक्त २४ राजाओं में बांट दें तो प्रत्येक राज्य के लिये १६ वर्षों का औसत समय होता है जैसा कि हम नीचे दिखलाते हैं

अन्ध्र वंश

	ई० पू०		ईस्वी
सिप्रक	२६	पुत्तलक	१८३
कृष्ण	७	प्रबिलसेन	२०२
	ईस्वी	सातकर्णि ३	२२१
सातकर्णि १	१२	सातकर्णि ४	२४०
पूर्णोत्सङ्ग	३१	शिवश्वति	२५९
सातकर्णि २	५०	गौतमीपुत्र	१२७८
लम्बोदर	६६	पुलिमत	२९७
इवीलक	८८	सातकर्णि ५	३१६
मघाश्वति	१०७	शिवस्कन्ध	३३५
पटुमत	१२६	यज्ञश्रीगौतमीपुत्र २	३५४
अरिष्टकर्म्मन्	१४५	विजय	३७३
हाल	१६४	चन्द्रश्री	३९२
		पुलोमार्चिस ४११ से ४३० तक	

परन्तु विद्वानों ने गौतमीपुत्र प्रथम से लेकर गौतमीपुत्र द्वितीय तक ५ राजाओं की जो तिथियां शिलालेखों से निश्चित की हैं वे उपरोक्त तिथियों से नहीं मिलतीं। यह कुछ निश्चय

के साथ जाना गया है कि इन पांचों राजाओं ने लगभग १०० वर्ष तक राज्य किया अर्थात् ११३ ईस्वी से २११ ईस्वी तक।

यहां पर यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अन्ध्र राजाओं का बल समय समय पर बदलता रहा और हम आगे के अध्याय में दिखलावेंगे कि सौराष्ट्र का देश ईसा की पहिली शताब्दी में इन के हाथ से चला गया था परन्तु उसे गौतमीपुत्र ने पुनः जीता। पांचवीं शताब्दी में इस वंश का पतन हुआ और तब मगध के राज का अन्त हो गया क्योंकि अन्ध्र राजाओं के पीछे अनेक विदेशी जातियों ने इस देश पर आक्रमण किया और उसे नष्ट और छिन्नभिन्न कर दिया। विष्णु पुराण में लिखा है कि अन्ध्रों के उपरान्त "भिन्न भिन्न जातियां राज्य करेंगी अर्थात सात आभीर जाति के राजा, १० गर्भभिल राजा, १६ शक राजा, ८ यमन राजा, १४ तुषार राजा, १३ मुण्ड राजा और ११ मौन राजा इस पृथ्वी का राज्य करेंगे।"

———o:———

अध्याय ४

काश्मीर और गुजरात।

पिछले अध्याय में हमने भारतवर्ष के केवल मध्यदेश के राज्य का वर्णन किया है। हम देख चुके हैं कि ईसा के पहिले सातवीं शताब्दी में शिशुनाग के समय से लेकर भारतवर्ष में प्रधान अधिकार मगध के राजा का था। हम यह भी देख चुके हैं कि कई राज्य-वंशों के नाश होने के उपरान्त यह प्रधान अधिकार अन्ध्र वंश के हाथ लगा जिन्होंने कि ईसा के पहिले पहिली शताब्दी से लेकर ईसा के उपरान्त पांचवीं शताब्दी तक उसे रक्षित रक्खा।

जब अन्ध्र लोगों का भारतवर्ष के मध्य में सबसे प्रधान अधिकार था उस समय पश्चिम के प्रान्तों में विदेशी लोगों के बहुत आक्रमण हुए और हम उनमें से कुछ का यहां वर्णन करेंगे।

सिकन्दर के लौट जाने के उपरान्त चन्द्रगुप्त ने सिन्ध नदी के प्रान्तों में यूनानी हाकिम सिल्यूकस को हरा कर यूनानियों को भारतवर्ष से निकाल दिया। परन्तु बेक्ट्रिया में यूनानियों का एक स्वतन्त्र राज्य था और हिन्दुओं तथा बेक्ट्रिया के यूनानियों में कभी मित्रता और कभी शत्रुता का व्यवहार होता रहा। बेक्ट्रिया के यूनानी लोग सिक्के बनाने में बड़े तेज थे और उनके सिक्कों से एक सौ तीन ई० पू० तक उन के सब राजाओं की एक पूरी सूची बनाई गई है। बहुधा इन राजाओं का अधिकार सिन्ध के आगे तक बढ़ जाता था और यह निश्चय है कि बौद्ध हिन्दुओं की सभ्यता और शिल्प पर उन की सभ्यता का बड़ा प्रभाव पड़ा। बौद्धों के खँड़हरों में यूनानी संगतराशी के काम और हिन्दुओं के सिक्कों पर यूनानी लेख खुदे हुए मिलते हैं।

लगभग १२६ ई० पू० में यूची तथा अन्य जातियों ने मध्य-एशिया से हो कर काबुल को जीता और सिन्ध नदी तक अपना अधिकार जमाया और इन लोगों ने बेक्ट्रिया के राज्य का अन्त कर

दिया। इसी जाति का एक राजा हविष्क काबुल में राज्य करता था। ऐसा जान पड़ता है कि वह वहां से निकाला गया और तब उसने काश्मीर को विजय किया जहां कि उस के उत्तराधिकारी जुष्क और कनिष्क ने ईसा के उपरान्त पहिली शताब्दी में राज्य किया है।

कनिष्क बड़ा विजय करने वाला था और उसने अपना राज्य काबुल और यारकन्द से लेकर आगरे और गुजरात तक फैलाया। अशोक के समय से लेकर अब तक भारतवर्ष में ऐसा कोई राजा नहीं हुआ था। हुनत्सांग लिखता है कि चीन के अधीनस्थ राजा लोग उसके पास मनुष्य बन्धक स्वरूप भेजते थे और जिस नगर में ये मनुष्य रहते थे वह चीनपटि कहलाता था। कनिष्क भी एक कट्टर बौद्ध था, उसने उत्तरी बौद्धों की एक बड़ी सभा की और आस पास के राज्य में बौद्ध धर्म्म का प्रचार करने के लिये गुरुदूत भेजे। हम पहिले लिख चुके हैं कि शकाब्द संवत् कनिष्क के राज्यकाल से चला है। डाक्टर ओडेनबर्ग कहते हैं कि यह संवत कनिष्क के राज्याभिषेक के समय से गिना जाता है और यह बात ठीक जान पड़ती है।

कनिष्क की मृत्यु के उपरान्त इसके बड़े राज्य के टुकड़े टुकड़े हो गए और काश्मीर पहिले जैसा हलका राज्य था वैसा ही फिर हो गया। इस राज्य का इतिहास राजतरंगिणी नामक पुस्तक में दिया है जिसे कि कल्हण पण्डित ने बनाया था जो ईसा की बारहवीं शताब्दी में हुआ है। हम यहां पर इस इतिहास की कुछ अलोचना करेंगे।

इसमें कनिष्क के पहिले के समय की कोई मुख्य घटना नहीं लिखी है। उसमें लिखा है कि कुरुपाञ्चाल युद्ध के समय से लेकर कनिष्क के उत्तराधिकारी अभिमन्यु के समय तक १२६६ वर्षों में ५२ राजाओं ने राज्य किया। इसमें कुरुपाञ्चाल युद्ध का समय ईसा के पहिले १२ वीं शताब्दी में निश्चित होता है। उसमें यह भी लिखा है कि कनिष्क के पहिले तीसरा राजा अशोक एक बौद्ध था और वह "एक सत्य और निष्कलङ्क राजा

था और उनने वितस्ता के तटों पर बहुत से स्तूप बनवाए" उसका उत्तराधिकारी जलोक एक कट्टर हिन्दू था और उसने उन म्लेच्छों को भगाया जोकि पश्चिम से बड़ी संख्या में आ रहे थे। ये म्लेच्छ वेही तूरानी लोग रहे होंग जिन्होंने कि इसके उपरान्त शीघ्र ही काश्मीर को विजय किया। जलोक का उत्तराधिकारी द्वितीय दामोदर हुआ और उसके उपरान्त विदेशी लोग आए और "उनके दीर्घराज्य में बौद्ध सन्यासी लोग देश मे सब से प्रबल रहे और बौद्ध धर्म्म का प्रचार बिना किसी बाधा के हुआ।"

हम यहां कनिष्क से लेकर उज्जयिनी के विक्रमादित्य के समकालीन मातृगुप्त क समय तक ३१ राजाओं की नामावली देंगे। यदि हम कनिष्क के राज्याभिषेक का समय ७८ ईस्वी मानें और मातृगुप्त का समय ५५० ईस्वी तो इन ३१ राजाओं का समय ४७२ वर्ष होता है जिससे प्रत्येक राज्य का औसत समय १५ वर्ष होता है और यह असम्भव नहीं है।

	ईस्वी		ईस्वी
कनिष्क	७८	क्षितिनन्द	२९५
अभिमन्यु	१००	वसुनन्द	३१०
गोनन्द	११५	नर २.	३२५
विभीषण प्रथम	१३०	अक्ष	३४०
इन्द्रजीत	१४५	गोपादित्य	३५५
रावण	१६०	गोकर्ण	३७०
विभीषण द्वितीय	१७५	नरेन्द्रादित्य	३८५
नर १	१९०	युधिष्ठिर	४००
सिद्ध	२०५	प्रतापादित्य	४१५
उत्पलाक्ष	२२०	जलोक	४३०
हिरण्याक्ष	२३५	तुञ्जिन	४४५
मुकुल	२५०	विजय	४६०
मिहिरकुल	२६५	जयेन्द्र	४७५
वक	२८०	सन्धिमति	४९०

मेघवाहन	५०५	और हिरण्य का उत्तराधिकारी
श्रेष्ठसेन	५२०	मातृगुप्त हुआ
हिरण्य	५३० से ५५० तक	

इनमें से कुछ राजाओं का संक्षिप्त वर्णन करने योग्य है। कहा जाता है कि नर प्रथम बौद्धों का बड़ा द्वेषी था और उसने बहुत से बौद्धमठ जला डाले और उन मठों के लिये जो गांव थे उन्हें ब्राह्मणों को दे डाला। मुकुल के राज्य में म्लेच्छों ने एक वार पुनः काश्मीर पर अपना अधिकार कर लिया पर उसका उत्तराधिकारी मिहिरकुल बड़ा विजयी था और कहा जाता है कि उसने अपना राज्य करनाट और लंका तक बढ़ाया। वह भी बौद्धों का बड़ा विरोधी था। प्रतापादित्य के राज्य से एक नया वंश आरम्भ होता है। उसके पोते तुञ्जिन के समय में साली अन्न पर अचानचक कड़ा पाला मार जाने के कारण काश्मीर में बड़ा अकाल पड़ा। मेघावाहन बौद्ध धर्मावलम्बी जान पड़ता है। कहा जाता है कि उसने लंका तक विजय किया और उसने अपने राज्य में तथा जिन जिन देशों को उसने जीता उन सब देशों में पशुओं के वध का निषेध किया। उसकी रानियों ने बहुत से बौद्ध मठ बनवाए। उसके उपरान्त उसका पुत्र श्रेष्ठसेन और उसके उपरान्त उसका पौत्र हिरण्य गद्दी पर बैठा और तब उज्जयिनी के विक्रमादित्य ने जोकि उस समय भारतवर्ष में सब से प्रबल था मातृगुप्त को काश्मीर की गद्दी पर बैठाया।

काश्मीर के इस संक्षिप्त वृत्तान्त से अब हम गुजरात की ओर झुकेंगे। हम पहिले कह चुके हैं कि कनिष्क ने अपना राज्य दक्षिण में गुजरात तक फैलाया और गुजरात में उसके अधीनस्थ सहरत जाति के राजा राज्य करते रहे। परन्तु नहपान के उपरान्त ये राजा स्वतंत्र हो गए और मगध के अन्ध्र लोगों से जिनके आधीन सौराष्ट्र देश था, अपनी स्वतन्त्रता स्थिर रक्खी। ये लोग "शाह राजा" वा क्षत्रप राजा कहलाते हैं और उनका वृत्तान्त केवल उनके सिक्कों और शिलालेखों से विदित होता है और बहुत विचार के उपरान्त यह निश्चित हुआ है कि ये लोग शाक

को व्यवहार करते थे और उनके सब सिक्कों और शिलालेखों पर शक सम्वत् दिया है। परिश्रमी और योग्य विद्वान भगवन लाल इन्द्रजीत ने इन शाह राजाओं को जिस क्रम में रक्खा है उसके अनुसार नीचे एक सूची दी जाती है। उसमें हम प्रत्येक राजा के लिये केवल एक एक सिक्के की तिथि देंगे।

सौराष्ट्र के शाह राजा ।

	सिक्के की तिथि	सन ईस्वी		सिक्के की तिथि	सन ईस्वी
नहपान	४१	११६	विजयसेन	१६०	२३८
चष्टन	—	—	ईश्वरदत्त	—	—
जैदायन	—	—	दमजदश्री	१७६	२५४
रुद्र दामन	७२	१५०	रुद्र सेन	१८०	२५८
दामजद	—	—	भर्तृदामन	२००	२७८
जीवदावन	१००	१७८	विश्वसिंह	१६८	२७६
रुद्रसिंह	१०३	१८१	सिंहसेन	—	—
रुद्र सेन	१२५	२०३	विश्वसेन	२१६	२६४
संघदमन	१४४	२२२	रुद्रसिंह	२३१	३०९
पृथ्वीसेन	१४४	२२२	यशोदावन	२४०	३१८
दामसेन	१४८	२२६	सिंहसेन	—	—
दमजदश्री	१५४	२३२	रुद्रसेन	२७०	३४८
वीरदामन	१५८	२३६	रुद्रसिंह	३१०	३८८
यशोदामन	१६०	२३८			

इस राज्य वंश के जो बहुत से शिलालेख पश्चिमी भारतवर्ष के भिन्नाभिन्न स्थानों में पाए गए हैं उनमें से हम यहां पर केवल एक

को लिखेंगे जो कि कदाचित् सब से पुराना है और जिससे हमारे पाठकों को इस शिलालेखों का ठीक ठीक ज्ञान हो जायगा। निम्न लिखित शिलालेख जो कि नासिक की गुफाओं में पाया गया है नहपान का है जो कि उपरोक्त सूची में पहिला राजा है।

"सर्व सम्पन्न को ! यह गुफा और ये छोटे तालाब गोवर्धन में त्रिरश्मि पर्वतों पर दिनक के पुत्र राजा क्षहरत सत्रप नहपान के दामाद प्रिय उसवदात ने बनवाए थे जिसने कि तीन लाख गऊ और सोना दान दिया और बारनासाय नदी पर सीढियां बनवाई, ब्राह्मणों और देवताओं को सोलह ग्राम दिए, प्रतिवर्ष एक लाख ब्राह्मणों को भोजन कराया. पवित्र स्थान प्रभसु पर ब्राह्मणों के लिये आठ स्त्रियाँ रख दीं, भरुकच्छ दशपुर गोवर्धन और सोरप-राग मे चतुष्कोण, गृह और टिकने के स्थान बनवाए, वाटिका, तालाब और कूएँ बनवाए, इबा. परादा, दमन, तापी. करबिना और दहनुका नदियों को पार करने के लिये उनमें डोंगियां छोड़वाई, धर्मशाला बनवाई, और पौसरा चलाने के लिये स्थान दिए और पिण्डित कावड़, गोवर्धन, सुवर्णमुख, सोरपराग, रामतीर्थ, और नाम गोल ग्राम के चरणों और परिशदों के बत्तीस नारियेरों के लिये एक हजार की जमा दी। ईश्वर की आज्ञा से मैं वर्षा काल में घिरे हुए उत्तमभद्र को छुड़ाने के लिये मालय को गया। मालय लोग (हम लोगों के युद्ध के बाजों का) नाद सुनकर भाग गए और वे सब उत्तम भद्र क्षत्रियों के अधीन बनाए गए। वहां से मैं पोक्षरणी को गया और वहां पर पूजा कर के तीन हजार गाय और एक गाँव दान दिया।"

नहपान का उपरोक्त शिलालेख जो कि नासिक की गुफाओं में पाया गया है बड़े काम का है क्यों कि उससे विदित होता है कि काश्मीर के बौद्ध राजाओं का अधीनस्थ एक साधारण राजा भी ब्राह्मणों का सत्कार करने और उन्हें दान देने में कैसा प्रसन्न होता था और सन् ईसवी के आरम्भ की शताब्दियों में हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म दोनों ही साथ साथ किस भांति प्रचलित थे। इन के साथ साथ प्रचलित होने मे बाधा तब ही पड़ती थी जब कि कभी कभी

कोई बड़ा कट्टर राजा गद्दी पर बैठता था। ब्राह्मणों को स्वर्ण, गौ और गांव दान देना, स्नान करने के लिये घाट, टिकने के लिये मकान, धर्म्मशाला, वाटिका, तालाब और कूंए बनवाना बिना कुछ लिये लोगों को नदी के पार उतरने का प्रबन्ध करना और चरणों और परिषदों को दान देना, ये राजाओं के लिये उचित उदारता के कार्य्य समझे जाते थे। और अन्त में इस शिलालेख से हमको यह भी विदित होता है कि सौराष्ट्र लोगों ने उत्तमभद्र क्षत्रिय लोगों की सहायता करने के लिये मालव लोगों पर आक्रमण किया।

शाह लोगों का सब से अद्भुत शिलालेख गिर्नार के निकट एक पुल पर खुदा है जो कि रुद्रदामन का पुल कहलाता है। इसे पहिले पहिल जेम्स प्रिन्सेप साहब ने पढ़ा था और उनके उपरान्त इसके अधिक शुद्ध पाठ प्रकाशित हुए हैं। ऊपर दी हुई राजाओं की सूची से पाठक लोग देखेंगे कि रुद्रदामन नहपान के उपरान्त तीसरा राजा था और उसने ईसा की दूसरी शताब्दी के बीच में राज्य किया। इस शिलालेख में अनूठी बात यह है कि इनमें अशोक और उसके दादा चन्द्रगुप्त का उल्लेख है। इसमें लिखा है कि यह पुराना पुल नदी की बाढ से बह गया था, मौर्य वंशी राजा चन्द्रगुप्त के प्रधान शिल्पकार पुष्पगुप्त ने उसकी मरम्मत की और उसके उपरान्त अशोक के यवन राजा तुशष्प ने। इसके उपरान्त उसे महाक्षत्रप रुद्रदामन ने संवत ७२ में (अर्थात् सन १५० ईस्वी में) बनवाया। इस शिलालेख में रुद्रदामन ने यह भी शेखी हांकी है कि दक्षिण पथ के राजा सातकर्णि को उसने कई बार हराकर उससे सन्धि कर ली। और उसने सौराष्ट्र, कच्छ, तथा अन्य देशों को विजय करने का भी उल्लेख किया है। रुद्रदामन के उपरोक्त शिलालेख से विदित होगा कि सौराष्ट्र के शाह राजा बहुधा प्रसिद्ध अन्ध्र राजाओं की बराबरी करने वाले होते थे।

इनके विरुद्ध नासिक की एक गुफा के शिलालेख में अन्ध्र वंश का राजा गौतमीपुत्र लिखता है कि उसने सौराष्ट्र कच्छ तथा अन्य देशों को विजय किया और खहरत के वंश का नाश कर

दिया । यह द्वितीय गौतमीपुत्र था जिसने कि ईसा की दूसरी शताब्दी के अन्त में राज्य किया है।

हम इन तीनों जातियों के आक्रमण और विजय का वर्णन कर चुके हैं अर्थात् ईसा के पहिले दूसरी शताब्दी में वेक्ट्रिया के युनानियों का, ईसा के उपरान्त पहिली शताब्दी में यूची तथा अन्य तूरानी जातियों का, और अन्त में उनके अधीनस्थ उन शाह राजाओं का, जिन्हों ने तीन शताब्दियों तक सौराष्ट्र में राज्य किया। इसके उपरान्त और जातियों के भी आक्रमण हुए परन्तु उनका इतिहास में कुछ भी पता नहीं लगता ।

अन्त में ईसा की चौथी और पाँचवी शताब्दियों में प्रसिद्ध हन लोग आए । टीडियों के समान उनका बडा दल फ़ारस में फैल गया और वहां के राजा बहराम गौर को उसने भारतवर्ष में आश्रय लेने के लिये विवश किया। उसने कन्नौज के राजा से सम्बन्ध कर लिया और उसकी कन्या से विवाह किया। सम्भवतः वह राजकुमारी, जिसने फारस के पति को स्वीकार किया, गुप्त वंश की कन्या थी, क्यों कि इस समय कन्नौज में गुप्त वंश के राजा राज्य करते थे और वे भारतवर्ष में सब से प्रबल थे । हम उनके विषय में अगले अध्याय में लिखेंगे।

——o——

अध्याय ५

गुप्त वंशी राजा।

५० वर्ष हुए कि जेम्स प्रिन्सेप साहब ने भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के अध्ययन के लिये भारतवर्ष में जो शिलालेख मिले हैं उन सब को क्रमानुसार प्रकाशित करने की आवश्यकता दिखाई और उन्होंने यह भी सम्मति दी कि इस संग्रह का नाम कार्पस इन्सक्रुप्शनम इण्डिकेरम् रक्खा जाय।

इस प्रस्ताव के अनुसार जेनरल सर एलेक्जाण्डर कनिंगहाम साहब ने सन् १८७७ ईस्वी में इस ग्रन्थ का पहिला भाग प्रकाशित किया। उसमें अशोक के वे शिलालेख है जिनके विषय में हम इस पुस्तक के पहिले अध्याय में लिख चुके हैं।

बम्बई के सिविल सर्विस के फ्लीट साहब ने इस पुस्तक का तीसरा भाग सन् १८८६ में प्रकाशित किया। उसमें गुप्त राजाओं के शिलालेख हैं और उनकी तिथियों के विषय में भारतवर्ष तथा यूरप में गत ४० वर्षों से जो वादविवाद हो रहा है उसका भी एक इतिहास दिया है।

इस ग्रन्थ का दूसरा भाग जिसमें कि सौराष्ट्र के शाह राजाओं का शिला लेख होगा अभी तक नहीं आरम्भ किया गया। मैं आशा करता हूं कि कोई योग्य विद्वान और अनुभवी पुरातत्ववेत्ता इस कार्य्य के लिये अब भी नियत किया जायगा और भारतवर्ष के शिलालेखों के इस संग्रह को पूरा कर देगा जो कि भारतवर्ष के बौद्ध समय के इतिहास के लिये इतने उपयोगी है।

हम देख चुके हैं कि इन गुप्त राजाओं के समय के विषय में प्रायः ४० वर्षों तक वादविवाद होता रहा और बहुत से योग्य विद्वानों ने इस वादविवाद में अपना समय लगाया है। इस वादा विवाद के इतिहास लिखने में फ्लीट साहब ने अपने अमूल्य ग्रन्थ के ३० पन्ने लगाए है। पर हर्ष का विषय है कि यह वादाविवाद

अब समाप्त हो गया और अब जो निश्चय किया गया है उसमें कोई सन्देह नहीं रह गया है। ११ वीं शताब्दी में अलबेरुनी ने लिखा है कि गुप्त संवत् शक संवत् से २४१ वर्ष पीछे का है अर्थात् वह सन् ३०० ईस्वी से प्रारम्भ होता है। आधुनिक समय के सब एकत्रित प्रमाणों से यह बात ठीक जान पड़ती हैं और अब हम गुप्त लोगों के सिक्को और शिलालेखों की तिथियों को पढ़ सकते हैं। केवल यह स्मरण रखना चाहिए कि उनसे सन् ईस्वी जानने के लिये हमें उनमें ३१९ वर्ष जोड़ने पड़ेंगे। फ्लीट साहब, जो अपने परिश्रमों की ओर कुछ पक्षपात करने में क्षमा के योग्य हैं, कहते हैं कि मन्दसोर के शिलालेख से, जिसे कि उन्हों ने प्राप्त किया है, यह वादविवाद निश्चित हो जाता है। विद्वान लोग प्राय इस बात में सहमत हैं कि मन्दसोर का शिलालेख इस सिद्धान्त को सम्भवत. निश्चित कर देता है।

हम नीचे गुप्त राजाओं की नामावली तथा उनके सिक्कों और शिलालेखों की तिथियाँ और उनके ईस्वी सन् देते हैं—

	सिक्कों और शिलालेखों की तिथियाँ	
(महाराज) गुप्त घटोत्कच	...	लगभग ३०० ई०
चन्द्रगुप्त १ (वा विक्रमादित्य)	...	,, ३२० ई०
समुद्रगुप्त	..	,, ३५० ई०
चन्द्रगुप्त २ (वा विक्रमादित्य)	८२,८८,९३,९५,	४०१,४०७,४१२,४१४ ई०
कुमारगुप्त (वा महेन्द्रादित्य)	९६,९८,१२९,१३०	४१५,४१७,४४८ ४४९ ई०
स्कन्दगुप्त	१३६,१३७,१३८,१४१,१४४, १४५ १४६,१४८,१४९,	४५५,४५६ ४५७,४६० ई० ४६३,४६४,४६५,४६७, ४६८

डाक्टर बुल्हर साहब का यह मत है कि गुप्त संवत् चन्द्रगुप्त प्रथम का स्थापित किया हुआ है। उसके उत्तराधिकारी समुद्र गुप्त ने चौथी शताब्दि के दूसरे अर्ध भाग में राज्य किया। इलाहाबाद में अशोक की लाट पर खुदा हुआ लेख उस बड़े राजा के अधिकार और राज्य को बहुत कुछ विदित करता है।

"जिसका प्रताप और बड़ा सौभाग्य इस से विदित होता है कि उसने कोशल के महेन्द्र को, व्याघ्र राज महाकान्तार को, केरल के मन्त राज को, पिष्टपुर के महेन्द्र को, कोट्टुर के स्वामिदत्त को, एरण्डपल्ल के दमन को, काञ्ची के विष्णुगोप को, अवमुक्त के नील राज को, वेंगी के हस्तिवर्म्मन को, पलक्क के उग्रसेन को, देवराष्ट्र के कुवेर को, कुष्टलपुर के धनंजय को और दक्षिण के और सब राजाओं को कैद करके फिर छोड़ दिया।

"जिसका प्रताप बहुत बड़ा था और उसकी वृद्धि रुद्रदेव, मेतल, नागदत्त, चन्द्रवर्म्मन, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युत, नन्दिन, बलवर्म्मन, तथा आर्य्यावर्त के अन्य बहुत से राजाओं के जड़ से विनाश करने से हुई थी, जिसने जंगली देशों के सब राजाओं को अपना नौकर बना लिया था।

"जिस राजा को सीमा प्रदेश के राजा लोग अर्थात् समतत, देवाक, कामरूप, नेपाल, कर्तृपुर तथा अन्यदेशों के राजा, और मालव लोग, अर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, अभीर, प्राजुन, सनकानिक, काक, करपरिक, तथा अन्य जातियाँ कर देकर और उसकी आज्ञाओं का पालन करके पूरी तरह से मानती थीं।

"जिसका सारे संसार में फैला हुआ शान्त सुयश बहुत से गिरे हुए राज्यवंशों को पुनः स्थापित करने से हुआ था जो अपने बाहु की बड़ी प्रबलता से सारे संसार को बाँधे हुए था और जिसे देवपुत्र, शाहि, शाहनुसाहि, शक, मुरून्, सिंघल के लोग तथा अन्य सब द्वीपों के निवासी अपने को बलिदान की भाँति देकर, कुमारी स्त्रियों को उस की भेंट करके, गरुड़ चिन्ह देकर; अपने राज्य का भोग उसे दे कर, और उसकी आज्ञाओं का पालन करके सत्कार के साथ उसकी सेवा करते थे।"

यह एक गुप्त राजा का भड़कीला और कदाचित कुछ बढ़ाया हुआ वर्णन् है। उस से हमें विदित होता है कि उसने काञ्ची के राल, तथा दाक्षिणी भारतवर्ष के अन्य देशों को जीता उसने आर्य्यावर्त अर्थात उत्तरी भारतवर्ष के राजाओं का नाश किया, समतत

(पूर्वीबंगाल) कामरूप (आसाम) नेपाल तथा अन्य सीमा प्रदेशों के राजा और मालव, माद्रक, और अभीर इत्यादि जातियां उसके आज्ञाओं का पालन करती थीं और उसे कर देती थीं, और पश्चिमी देश शाह और शाहंशाह और लंका के लोग भी उसके लिये भेंट तोहफे तथा अपने देश की सुन्दर कुमारी स्त्रियाँ भेजते थे। इस शिलालेख के अन्त में लिखा है कि यह बड़ा राजा प्रतापी महाराजा गुप्त का परपौत्र"—"प्रतापी महाराज घटोत्कच का पौत्र"—"प्रतापी महाराजाधिराज चन्द्र गुप्त का पुत्र "—"महादेवी कुमार देवी से उत्पन्न हुआ था" जो कि लिच्छवि वंश की कन्या थीं। समुद्र गुप्त के उपरान्त उसका पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय गद्दी पर बैठा और इसके शिलालेखों में सांची में एक छोटा शिलालेख है जिस में बौद्ध सन्यासियों अर्थात् काकनाद बोट के पवित्र महाविहार के आर्य संघ को एक गांव दान देने का उल्लेख है। एक दूसरे स्थान पर अर्थात् मथुरा में एक शिलालेख पाया गया है जिसमें चन्द्रगुप्त ने अपनी माता का नाम दिया है और अपने को "महादेवी दत्तदेवी से उत्पन्न हुआ" महाराजाधिराज समुद्रगुप्त का पुत्र कहा है। चन्द्रगुप्त द्वितीय का उत्तराधिकारी उसका पुत्र कुमारगुप्त हुआ जिसका एक शिलालेख संयुक्त प्रदेश में बिलसड स्थान में पाया गया है जिसमें कि प्रथम गुप्त राजा से लेकर इस वंश की पूरी वंशावली दी है। और उसने अपने को "प्रतापी महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त का महादेवी ध्रुव देवी से उत्पन्न" पुत्र कहा है।

जिला इलाहाबाद में मनकुवर स्थान में ठाकुर भगवन लाल इन्द्रजी ने सन् १८७० ईस्वी में कुमार गुप्त का एक दूसरा शिलालेख पाया। यह शिलालेख बुद्ध की एक बैठी हुई मुर्ति के नीचे खुदा है और उस में लिखा है कि इस मूर्ति को कुमारगुप्त ने संवत् १२९ (सन् ४४८ ईस्वी में) स्थापित किया था।

प्रसिद्ध मन्दसोर का शिलालेख जिसे कि फ्लीट साहब ने पाया था गुप्त राजाओं का खुदवाया हुआ नहीं है परन्तु उस में कुमार गुप्त का उल्लेख है और इसलिये उस का वर्णन यहां किया जा सकता है। यह सेंधिया के राज्य के दशपुर ग्राम में महादेव के एक मन्दिर के आगे की ओर एक पत्थर पर खुदा हुआ है। इस में लिखा

है कि इस स्थान पर कुछ रेशम वीनने वाले लोग गुजरात से आकर बसे और उन में से कुछ लोगों ने एक अच्छा व्यापार स्थापित किया। "जब कुमारगुप्त सारी पृथ्वी का राज्य करता था" उस समय विश्ववर्म्मन् नामक एक राजा था और उस का पुत्र बन्धुवर्म्मन् दशपुर में उस समय राज्य करता था जब कि वीनने वालों के समुदाय ने वहां एक मन्दिर बनवाया जोकि उस समय समाप्त हुआ "जिस ऋतु में कि बिजली की गरज सोहावनी जान पड़ती है. और जब मालव जाति को स्थापित हुए ४६३ वर्ष हो चुके थे"

"मालवानां गणस्थित्या याते शत चतुष्टते
तृणवत्य-धिकाब्दानां ऋतौ सेव्य घनस्वने'

और इस शिलालेख में यह भी लिखा है कि इस मन्दिर की मरम्मत उस वर्ष में हुई जब कि उसी संवत को व्यतीत हुए ५२६ वर्ष हो चुके थे।

फ्लीट साहब का मत है कि दशपुर के वीननेवालों के शिला लेख में जिस कुमार गुप्त का उल्लेख है वह गुप्त वंश का वही कुमार गुप्त है और इस शिलालेख में जो संवत् लिखा है वह मालव जाति का संवत् है जो कि अब विक्रमादित्य का सवत् कहा जाता है और ईसा के ५६ वर्ष पहिले से आरम्भ होता है। अतएव यह मन्दिर (४६३-५६) =४३७ ईस्वी में बना था और उस की मरम्मत (५२६-५६) =४७३ ईस्वी में हुई।

इससे एक आश्चर्य्यजनक बात विदित होती है, क्योंकि यदि फ्लीट साहब का विचार ठीक है तो विक्रमादित्य के संवत् के स्थापित होने का सच्चा कारण विदित हो गया। इस संवत् को विक्रमादित्य ने ईसा के ५६ वर्ष पहले स्थापित नहीं किया था जैसा कि पूर्व समय के विद्वानों का अनुमान था। परन्तु यह संवत् वास्ताव में मालव लोगों का जातीय संवत् है और आगे चल कर इस में विक्रमादित्य का भी नाम मिल गया जिसने कि ईसा की छठीं शताब्दी में मालव लोगों को सब से श्रेष्ठ जाति बना दी थी।

कुमार गुप्त का पुत्र स्कन्दगुप्त उसका उत्तराधिकारी हुआ। उस का एक शिलालेख गाज़ीपुर के जिले में मिला है और वह भितरी की लाट के नाम से प्रसिद्ध है। उस में गुप्त राजाओं की वंशावली आरम्भ से लेकर स्कन्द गुप्त तक दी है। परन्तु इससे अधिक काम का एक शिलालेख बम्बई प्रान्त के जूनागढ़ में मिला है। उस में विष्णु की आराधना के उपरान्त लिखा है कि स्कन्द गुप्त ने "जिसने कि समुद्रों तक सब पृथ्वी जीत ली थी और जिस के यश को म्लेच्छों के देश में" उस के शत्रु लोग भी मानते थे पर्णदत्त को सौराष्ट्र लोगों के देश का राजा नियत किया। पर्णदत्त ने अपने पुत्र चक्रपालित को नियत किया। संवत् १३६ (अर्थात् सन् ४५५ ईस्वी) में गिर्नार के नीचे की झील की बांध अतिवृष्टि के कारण टूट गई और यह बांध दो महीने में संवत १३७ में फिर बनवाई गई और यही शिलालेख का कारण है।

स्कन्दगुप्त गुप्त वंश का अन्तिम बड़ा राजा जान पड़ता है और इस के उपरान्त इस वंश में छोटे छोटे राजा हुए। बुद्ध गुप्त का एक शिलालेख मध्य प्रदेश में इरन में मिला है और वह संवत् १६४ अर्थात ४८४ ई० का है। उस में लिखा है कि बुद्ध गुप्त का अधीनस्थ राजा सुरश्मि चन्द्र कालिन्दी और नर्मदा के बीच के देश में राज्य करता था। उस शिलालेख में जनार्दन के नाम से विष्णु देवता की पूजा के निमित एक स्तम्भ स्थापित करने का वृत्तान्त है।

इरन के एक दूसरे शिलालेख में भानु गुप्त का उल्लेख है और उस में लिखा है कि गोपराज नामक एक सर्दार उस के साथ युद्ध में जा कर मारा गया। गोप राज की आज्ञाकारिणी प्रिय और सुन्दर स्त्री ने चिता में उस का साथ दिया"।

प्रबल गुप्त वंश के कि जिसने भारतवर्ष में १०० वर्ष के ऊपर तक सर्वोच्च अधिकार अपने हाथ में रक्खा था उस के नाश होने के विषय में बड़ा मत भेद है। डाक्टर फर्ग्युसन साहब कहते हैं कि इन लोगों के उस टीड़ी दल ने जिस ने कि एशिया में दूर दूर तक आक्रमण किया था, फारस को निर्बल कर दिया था, उसी ने

भारतवर्ष से गुप्त वंश का भी नाश किया। फ्लीट साहब इस बात को विश्वास करने के प्रमाण दिखलाते हैं कि पञ्जाब का प्रतापी और कट्टर मिहिरकुल और उस का पिता तोरमान हन जाति का था। स्कन्दगुप्त की मृत्यु के उपरान्त तोरमान ने (जिसने कि हन लोगों को एक बार भगा दिया था) गुप्त राजाओं से लगभग ४६६ ईस्वी में पूर्वी मालवा देश छीन लिया। मिहिर कुल ने अपनी विजय और लोगों का नाश करना लगभग ५१५ ईस्वी में आरम्भ किया और अन्त में उसे उत्तरी भारतवर्ष के प्रतापी राजा यश धर्म्मन ने दमन किया। इस प्रकार मध्य भारतवर्ष में हन लोगों का अधिकार केवल थोड़े समय तक रहा परन्तु कोसमा इण्डिको प्लयूस्टीज ने छठीं शताब्दी में लिखा है कि उस के समय तक भी हन लोग बड़े प्रबल थे और वे पंजाब में आकर बसे थे और यहां का राज्य करते थे।

ये तथा अन्य विदेशी आक्रमण करने वाले, जिनके विषय में हम पहिले लिख चुके हैं, भारतवर्ष के लोगों में आकर बसे, उनकी भाषा धर्म्म और सभ्यता को ग्रहण किया और इस प्रकार उन्हों ने एक नई हिन्दू जाति स्थापित की जिस ने कि पौराणिक समय के अन्त में अर्थात् ९ वीं और १० वीं शताब्दियों में राजकीय उलट फेर में एक विशेष भाग लिया।

——:o:——

अध्याय ६

फाहियान का भारतवर्ष का वृत्तान्त।

पिछले तीन अध्यायों में हमने अपने पाठकों को भारतवर्ष में बौद्ध काल के मुख्य मुख्य राजवंशों का कुछ वृत्तान्त दिया है जोकि दुर्भाग्य वश बहुत सूक्ष्म और थोड़ा है। परन्तु केवल राज्य वंशों का वृत्तान्त ही भारतवर्ष का पूरा इतिहास नहीं है और इसलिये यह आवश्यक है कि हम भारतवर्ष में रहने वाली उन असंख्य जातियों के प्रधान नगरों का, उनके शिल्प और सभ्यता का अधिक स्पष्ट परिचय दें। सौभाग्य वश इस कार्य्य के लिये हमें कुछ सामग्रियाँ मिलती हैं और वे उस चीन के यात्री के ग्रन्थों में हैं जो कि बौद्ध काल के अन्त में भारतवर्ष में आया था।

फाहियान भारतवर्ष में लगभग ४०० ईस्वी में आया और वह अपना वृत्तान्त उद्यान अर्थात् कावुल के आस पास के देश से आरम्भ करता है और लिखता है कि वहीं से उत्तरी भारतवर्ष आरम्भ होता है। उस समय उद्यान में मध्य भारतवर्ष की भाषा बोली जाती थी और यहां के लोगों का पहिरावा भोजन आदि भी मध्य भारतवर्ष के लोगों की ही नाईं था। उस समय यहां बौद्ध धर्म्म का बड़ा प्रचार था और ५०० संघ आराम अर्थात् बौद्ध सन्यासियों के मठ थे। उसने स्वतः गान्धार, तक्षशीला, और पेशावर में होकर यात्रा की और पेशावर में उसने एक अद्भुत सुन्दरता का सुदृढ़ और ऊँचा बौद्ध मीनार देखा।

नगरहार और अन्य देशों में यात्रा करता हुआ, भिन्न नदी को पार कर फाहियान अन्त में यमुना नदी के तट पर मथुरा में पहुंचा। इस नदी के दोनों पार २० संघ आराम बने थे जिनमें कदाचित तीन हजार बौद्ध सन्यासी रहते थे। यहां बौद्ध धर्म्म का बड़ा प्रचार हो रहा था। 'थियाग्रान के आगे पश्चिमी भारतवर्ष के देश हैं। इन देशों (राजपूताने) के राजा लोग सब बौद्ध धर्म में दृढ़ विश्वास रखने वाले हैं...इसके दक्षिण में वह बीच का देश है जो मध्यदेश

कहलाता है। इस देश का जल वायू गरम और एकसा रहता है, न तो वहां पाला पड़ता है और न वर्फ। वहाँ के लोग वहुत अच्छी अवस्था में हैं, उन्हें राज्य कर नहीं देना पड़ता और न राज्य की ओर से उन्हें कोई रोक टोक है। केवल जो लोग राजा की भूमि को जोतते हैं उन्हें भूमि की उपज का कुछ अंश देना पड़ता है। वे जहां जाना चाहें जा सकते और जहां रहना चाहें रह सकते हैं। राजा शारीरिक दण्ड नहीं देता। अपराधियों को उनकी दशा के अनुसार हलका वा भारी जुर्माना लगाया जाता है। यदि वे कई वार राज द्रोह करें तो भी केवल उनका दहिना हाथ काट लिया जाता है। राजा के शरीर रक्षक जो कि दहिनी और वांई ओर उसकी रक्षा करते हैं नियत वेतन पाते हैं। सारे देश में केवल चाण्डालों को छोड़कर कोई लहसुन वा प्याज नहीं खाता कोई किसी जीव को नहीं मारता, और मदिरा नहीं पीता...इस देश में लोग सूअर वा चिड़िया नहीं रखते और पशु का व्यापार नहीं करते। बाजार में मदिरा की दूकानें नहीं होतीं। वेंचने में लोग कौड़ियों को काम में लाते हैं। केवल चाण्डाल लोग हत्या करके माँस वेचते हैं। वुद्ध के निर्वाण के समय से आज तक इन देशों के अनेक राजाओं, रईसों और गृहस्थों ने यहां विहार वनवाए हैं और उनके व्यय के लिये खेत, मकान वगीचे, मनुष्य और वैल दिए हैं। खुदे हुए अधिकार पत्र तय्यार करवाए जाते थे और वे एक राजा के उपरान्त दूसरे राजा के राज्य में स्थिर रहते थे। उन्हें किसी ने छीनने का उद्योग नहीं किया अतएव आज तक उनमें कोई वाधा नहीं पड़ी। इनमें रहने वाले सव सन्यासियों के लिये विछौने, चटाइयाँ, भोजन, पानी, और कपड़े अपरिमित रूप से दिए जाते हैं और यह वात सव जगह है।"

हमारा यात्री संकाश्य से होता हुआ कन्नौज में आया। हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि इस समय कन्नौज गुप्त राजाओं की वढ़ी चढ़ी राजधानी थी परन्तु दुर्भाग्य वश फाहियान ने इस नगर के दो संघआरामों को छोड़ कर और किसी के विषय में कुछ नहीं लिखा है।

साँची में होकर फाहियान, कोशल और उसकी प्राचीन

धानी श्रावस्ती में आया। परन्तु इस बड़े नगर का बुद्ध के समय से अब नाश हो गया था और चीनी यात्री ने इस नगर में केवल बहुत थोड़े से निवासी देखे अर्थात् सब मिला कर कोई २०० घर थे। परन्तु जेतवन की, जहाँ बौद्ध ने बहुधा उपदेश दिया था, स्वाभाविक सुन्दरता अभी चली नहीं गई थी और वहां का विहार अब स्वच्छ तालाब सोहावने कुँज और रंग विरंग के असंख्य फूलों से सुशोभित था। इस विहार के सन्यासियों ने यह सुनकर कि फाहियान और उसका साथी चीन देश से आया है कहा "बड़ा आश्चर्य्य है कि पृथ्वी की सीमा प्रदेश के लोग धर्म्म की खोज की अभिलाषा से इतनी दूर तक आते हैं।"

गौतम का जन्मस्थान कपिलवस्तु अब उस सुशोभित दशा में नहीं था। " इस नगर में न तो कोई राजा है न प्रजा, वह एक बड़े भारी बियाबान की नाई होगया है। उसमें केवल कुछ सन्यासी लोग और गृहस्थों के लगभग १० घर हैं।" कुशिनगर भी, जहाँ कि गौतम की मृत्यु हुई थी, अब नगर नहीं रह गया था। वहां केवल बहुत थोड़े से लोग रहते थे और ये लोग केवल वेही थे जिनका कि वहां के रहने वाले सन्यासियों से कोई न कोई सम्बन्ध था।

तब फाहियान वैशाली में आया जोकि एक समय घमण्डी लिच्छवियों की राजधानी थी और जहाँ गौतम ने अम्बपालि वेश्या का आतिथ्य स्वीकार किया था। यहाँ बौद्धों की दूसरी सभा भी हुई थी और फाहियान ने उसका वर्णन लिखा है " बुद्ध के निर्वाण के १०० वर्ष पीछे वैशाली के कुछ भिक्षुकों ने दस बातों में विनय के नियमों को यह कह कर तोड डाला कि बुद्ध ने ऐसा करने की आज्ञा दी है। उस समय अरहतों और सत्यमतावलम्बी भिक्षुकों ने, जोकि सब मिला कर १०० थे, विनयपितक को फिर से मिलान कर के संग्रहीत किया।

गंगा को पार कर हमारा यात्री पाटलीपुत्र अर्थात् पटने को पहुंचा, जिसे कि पहिले पहिल अजातशत्रु ने अपने उत्तरी शत्रुओं को रोकने के लिये बनाया था और जो इसके उपरान्त प्रतापी अशोक की राजधानी था। " इस नगर में वह राजमहल

है जिसके भिन्न भिन्न भागों को उसने (अशोक ने) देवों से पत्थर का ढेर इकट्ठा करवा कर बनवाया था। इसकी दीवार, द्वार और पत्थर की नकाशी मनुष्य की बनाई हुई नहीं हैं, उनके खँडहर अब तक हैं। ' अशोक के गुम्बज के निकट एक विशाल और सुन्दर संघाराम और मन्दिर था जिसमें कोई छ वा सात सौ सन्यासी रहते थे । प्रसिद्ध ब्राह्मण, गुरु मंजुश्री स्वयं इस बौद्ध संघाराम में रहता था और बौद्ध श्रामन लोग उसका सत्कार करते थे । यहां पर बौद्धों के विधान उस समय जिस धूम धड़ाके से किए जाते थे उसका भी वर्णन है । " प्रतिवर्ष दूसरे मास के आठवें दिन मूर्तियों की एक यात्रा निकलती है । इस अवसर पर लोग एक चार पहिये का रथ बनवाते हैं और उस पर बाँसों को बाँध कर उसे पाँच खण्ड का बनाते है और उसके बीच में एक एक खम्भा रखते है जो कि तीनफले भाले की नाईं होता है और ऊँचाई में २२ फीट या इससे भी अधिक होता है। इस प्रकार यह एक मन्दिर की नाईं देख पड़ता है । तब वे उसे उत्तम स्वेत मलमल से ढाँकते है और फिर उस मलमल को भड़कीले रंगों से रँगते है । फिर देवों की मूर्तियां बना कर और उन्हें सोने चांदी और काँच से आभूषित कर, कामदार रेशमी चन्दुए के नीचे बैठाते हैं । तब रथ के चारों कोने पर वे ताखा बनाते है और उनमें बुद्ध की बैठी हुई मूर्तियां जिनकी सेवा में एक बोधिसत्व खड़ा रहता है बनाते है। ऐसे ऐसे कदाचित् बीस रथ बनाए जाते है और वे भिन्न भिन्न प्रकार से सज्जित किए जाते हैं। इस यात्रा के दिन बहुत से सन्यासी और गृहस्थ लोग एकत्रित होते है। जब वे फूल और धूप चढ़ाते है तो बाजा बजता है और खेल होता है। ब्रह्मचारी लोग पूजा करने के लिये आते है। तब बौद्ध लोग एक एक करके नगर में प्रवेश करते हैं । नगर में आने पर वे फिर ठहरते हैं । तब रात भर वे रोशनी करते हैं, गाना और खेल होता है और पूजा होती है । इस अवसर पर भिन्न भिन्न देशों से जो लोग एकत्रित होते हैं वे इस प्रकार कार्य्य करते है। " ईसा की पाँचवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म्म ने बिगड कर जो मूर्तिपूजा का रूप धारण किया था उसका यह आखों देखा अमूल्य वृत्तान्त है।

इससे अधिक मनोरञ्जक पाटलीपुत्र के धर्म्मार्थ चिकित्सालयों का वृत्तान्त है । "इस देश के अमीरों और गृहस्थों ने नगर में चिकित्सालय बनवाए हैं जहाँ कि सब देश के गरीब लोग, जिन्हें आवश्यकता हो जो लंगडे हों वा रोगग्रस्त हों, रह सकते हैं। वहां वे उदारता से सब प्रकार की सहायता पाते हैं। चिकित्सक उनके रोगों की देखभाल करता है और रोग के अनुसार उनके खाने पीने और दवा काढे और वास्तव में उनके सुख की सब वस्तुओं के लिये आज्ञा देता है । आरोग्य होने पर वे अपनी इच्छानुसार चले जाते हैं।

फाहियान तब अजातशत्रु के नए बनवाए हुए नगर राजगृह में तथा बिम्बिसार के प्राचीन नगर में गया । यहाँ पर इस यात्री ने उस प्रथम बौद्ध संघ का उल्लेख किया है जो कि बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त ही पवित्र पाठों को संग्रहीत करने के लिये हुआ था। "पर्वत के उत्तरी ओर एक पत्थर की गुफा है जो कि चैति कहलाती है । यहीं बुद्ध के निर्वाण के पीछे पवित्र पुस्तकों को संग्रहीत करने के लिये ५०० अरहत एकत्रित हुए थे।"

गया में फाहियान ने सब उजाड़ और बियाबान की नाईं पाया। उसने प्रसिद्ध बो वृक्ष तथा बुद्ध की तपस्याओं और सर्वज्ञता प्राप्त करने से सम्बन्ध रखने वाले सब स्थानों को देखा और उसने उन दन्तकथाओं को लिखा है जो कि गौतम की मृत्यु के उपरान्त गढ़ी गई थीं। तब वह काशी के देश और बनारस के नगर में आया और वहां उसने उस मृगदाव को देखा जहां गौतम ने पहिले पहल सत्यधर्म्म को प्रगट किया था। यहां उस समय दो संघाराम बन गए थे। वहां से वह कौशाम्बी के प्राचीन नगर में गया, जहां गौतम ने बहुत समय तक उपदेश किया था।

बनारस से फाहियान पाटलीपुत्र को लौटा। वह विनयपिटक की हस्तलिखित प्रति की खोज में था । पर "सारे उत्तरी भारतवर्ष में भिन्न भिन्न अधिकारियों ने आज्ञाओं के जानने के लिये केवल मुख की कथा पर भरोसा किया है और उन्होंने कोई मूल ग्रन्थ नहीं रक्खा जिससे नकल की जा सके । इसीलिये फाहियान इतनी दूर मध्य

भारतवर्ष तक आया। परन्तु वहां वड़े संघाराम में उसे आज्ञाओं का एक संग्रह मिला।

गङ्गा नदी के मार्ग से आगे वढ़ता हुआ यह यात्री इस नदी के दक्षिण किनारे पर चम्पा नगर में पहुंचा। हम पहिले ही देख चुके हैं कि चम्पा अङ्ग अर्थात् पूर्वी विहार की राजधानी थी और वह भागलपुर के निकट स्थित थी। पूर्व और दक्षिण की ओर आगे वढ़ते हुए फाहियान ताम्रपल्ली में पहुंचा जो कि उस समय गंगा के मुहाने पर एक वड़ा वन्दरगाह था। उस देश में चौवीस संघाराम थे उन सव में सन्यासी लोग रहते थे, उनमें साधारणतः वुद्ध की आज्ञा का पालन किया जाता था। फ़ाहियान यहां दो वर्ष तक रह कर पवित्र पुस्तकों की नकल करता और मूर्ति के चित्र खींचता रहा। तव वह एक सौदागरी जहाज पर सवार हुआ और जाड़े की ऋतु की पहिली उत्तम हवा में जहाज ने दक्षिण-पश्चिम दिशा को प्रस्थान किया। वे लोग चौदह दिन और चौदह रात की यात्रा के उपरान्त "सिंहों के देश" (अर्थात् सिंहल वा लङ्का) में पहुंचे।

हमारा यात्री कहता है कि लंका में पहिले कोई निवासी नहीं थे, परन्तु यहां वहुत से व्यापारी लोग आकर धीरे धीरे वस गए और इस प्रकार यह एक वड़ा राज्य होगया। तव वौद्ध लोगों ने आकर (फ़ाहियान कहता है कि वुद्ध ने आकर) लोगों में अपने धर्म्म का प्रचार किया। लङ्का की जलवायु अच्छी थी और वहां वनस्पति हरी भरी रहती थी और नगर के उत्तर ओर ४७०. फीट ऊंचा एक वड़ा गुंवज़ और एक संघाराम था जिसमें ५००० सन्यासी रहते थे। परन्तु इन सुहावने दृश्यों के वीच हमारे यात्री का हृदय अपने घर के वास्ते घवराने लगा जिससे कि जुदा हुए उसे वहुत वर्ष हो गए थे। एक अवसर पर एक व्यापारी ने वुद्ध की एक २२ फीट ऊंची रत्नजटित मूर्ति को चीन का वना हुआ एक पंखा भेट किया जिससे फ़ाहियान को उसकी जन्मभूमि का स्मरण हो आया। वह वड़ा उदास हुआ और उसकी आंखों में आंसू भर आए।

लङ्का में दो वर्ष तक रह कर और वितयपितक तथा अन्य ग्रन्थों को जो चीन में "अव तक विदित नहीं थे" नकल करके फाहियान

एक बड़े सौदागरी जहाज पर सवार हुआ जिसमें लगभग २०० मनुष्य थे। एक बड़ा तूफान आया और बहुत सा असबाब समुद्र में फेंक देना पड़ा। फ़ाहियान ने अपना घड़ा और कटोरा समुद्र में फेंक दिया और उसे "केवल यह भय था कि व्यापारी लोग कहीं उसके पवित्र ग्रन्थ और चित्र समुद्र मे न फेंक दें। यह तूफ़ान तेरह दिन पर कम हुआ और यात्री लोग एक छोटे टापू पर पहुचे और वहां जहाज के छेद को बन्द करने के उपरान्त पुनः समुद्र में प्रस्थान किया गया।। "इस समुद्र में बहुत से समुद्री डाकू हैं जो अचानक तुम पर छापा मार कर सब वस्तुओं को नष्ट कर देते हैं। स्वयं समुद्र का कहीं पारावार नहीं और दिशा जानने के लिये सूर्य चन्द्रमा वा तारों को देखने के सिवाय और कोई उपाय नहीं है और उन्हीं के अनुसार यात्रा करनी पड़ती है ...... अन्त को तूफान इत्यादि साफ हो गया उन्होंने अपना स्थान निर्दिष्ट किया और एक बार पुनः ठीक मार्ग को पाकर उन्होंने यात्रा आरम्भ की। और ९० दिन के उपरान्त पो-टी (जावा वा सुमात्रा) में पहुंचे। "इस देश में नास्तिक और ब्राह्मण लोग अधिकता से हैं।

यहां लगभग पांच मास ठहर कर फ़ाहियान एक दूसरे सौदागरी जहाज़ पर सवार हुआ जिसमें लगभग २०० मनुष्य थे और जिसमें ५० दिन के लिये भोजन की सामग्री थी। एक मास यात्रा करने पर समुद्र में एक तूफान आया और इस पर मूढ ब्राह्मण लोग परस्पर बात करने लगे कि "हम लोगों ने इस श्रामन (फ़ाहियान) को जहाज पर चढ़ा लिया है इसी कारण हम लोगों का शगुन अच्छा नहीं हुआ और हम लोग इस दुर्घटना में पड़ गए हैं। आओ अब जो टापू मिले उस पर इस भिक्षु को उतार दें जिसमें एक मनुष्य के लिये हम सबका नाश न हो।" परन्तु फ़ाहियान के संरक्षक ने वीरता से उसका साथ दिया और किसी निर्जन टापू में उसकी मृत्यु होने से उसे बचा लिया। ८२ दिन की यात्रा के उपरान्त वे लोग चीन के दक्षिणी किनारे पर पहुंच गए।

अध्याय ७

बौद्धों की इमारत और पत्थर के काम।

हिन्दू लोगों का ईसा के पहिले चौथी और तीसरी शताब्दियों में पहिले पहल अपने समान की सभ्य जाति से संसर्ग हुआ और वे लोग अपने शिल्प और विद्या की उन्नति के लिये यूनानियो के कितने अनुगृहीत हैं इसके विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। स्वभावत बहुत से ग्रन्थकारों ने इस विषय में शीघ्रता से यह निश्चय किया है कि घर बनाना और पत्थर का काम और लिखना तथा अपने अक्षर भी, हिन्दुओं ने पहिले पहल यूनानियों से सीखे।

किसी सभ्य जाति का संसर्ग किसी बड़ी और सभ्य जाति से होने से उनके शिल्प और सभ्यता में बहुत कुछ उन्नति अवश्य प्राप्त होती है। ईसा के पहिले चौथी और तीसरी शताब्दियों में यूनानी लोग निस्सन्देह संसार की सब जातियों में बड़े सभ्य थे, और उनमें विशेषता यह थी कि सिकन्दर ने जिन जिन देशों को जीता था उन सब मे उन्होंने अपनी अद्भुत सभ्यता का प्रचार किया यहां तक कि एण्टिओक से लेकर बैक्ट्रिया तक समस्त पश्चिमी एशिया मे यूनान की सभ्यता शिल्प और चाल व्यवहार प्रचलित हो गई। हिन्दूलोग बहुत से शिल्पो की उन्नति में ही नहीं वरन् कई कठिन शास्त्रों यथा ज्योतिष शास्त्र इत्यादि के लिये भी युनानियो के बहुत अनुगृहीत हैं। यह बात भारतवर्ष के सब इतिहासज्ञ स्वीकार करते है और ऐसी मित्रता की सेवाओं को जिसे कि एक शिक्षित जाति ने दूसरी जाति के लिये किया है स्वीकार करना हमारा आनन्ददायक कर्तव्य होगा, जहां कहीं कि हम को ऐसी सेवाओं को स्वीकार करने के प्रमाण मिलें अथवा उसका अनुमान ही हो। परन्तु जहां कहीं प्रमाणों का अभाव हो वा जहां इस अनुमान के विरुद्ध प्रमाण मिलते हो उन अवस्थाओं में हमे अपने पाठको को शीघ्रता से कोई अनुमान कर लेने से सचेत करना आवश्यक है।

घर बनाने की विद्या के लिये हिन्दू लोग यूनानियों के अनुगृहीत नहीं हैं। बौद्ध हिन्दुओं ने आरम्भ ही से घर बनाने की विद्या की स्वयं उन्नति की थी, वे अपने घर निराले ही आकार के बनाते थे और यह आकार शुद्ध भारतवर्ष का है, उन्हों ने किसी विदेशी इमारत से इसे नहीं उद्धृत किया है। गान्धार और पञ्जाब में ऐसे खम्भे पाए गए हैं जोकि स्पष्ट आयोनिक ढङ्ग के हैं और साधारणतः इमारत भी यूनानी ढङ्ग की है। परन्तु स्वयं भारतवर्ष में बम्बई से लेकर कटक तक ईसा के तत्काल पीछे और पहिले की इमारतें शुद्ध भारतवर्ष के ढङ्ग की हैं। यदि हिन्दुओं ने घर बनाने की विद्या पहिले पहल यूनानियों से सीखी होती तो ऐसा न होता।

पत्थर की मूर्तियों के काम के लिये भी हिन्दू लोग (पञ्जाब को छोड़ कर) यूनानियों के अनुगृहीत नहीं हैं। डाक्टर फरग्यूसन साहब भरुत के जँगले (२०० ई० पू०) का वर्णन करते हुए लिखते हैं " इस बात पर जितना जोर दिया जाय थोड़ा है कि इसमें जो शिल्पकारी देखी जाती है वह शुद्ध देशी है। उसमें ईजिप्ट के होने का कुछ भी चिन्ह नहीं है वरन् वह सब प्रकार से उसके विरुद्ध है, और न उसमें यूनानी शिल्प का कोई चिन्ह है, और न यही कहा जा सकता है कि इसमें की कोई बात बेबिलोनिया वा असीरिया से उद्धृत की गई है। खम्भों के सिरे कुछ कुछ पर्सीपोलिस की बनावट से मिलते हैं और उनमें फूल पत्ती का काम भी वहीं के जैसा है, परन्तु इसके विरुद्ध शिल्पकारी और विशेषतः जँगलों में मूर्ति की खोदाई का काम स्वयं भारतवासियों का और केवल भारतवासियों का ही जान पड़ता है।"

अब हम हिन्दुओं की इमारत और पत्थर की मूर्ति के काम के कुछ उन अद्भुत नमूनों का संक्षेप में वर्णन करेंगे जो कि ईसा के तत्काल पहिले और पीछे की शताब्दियों के बने हुए अब तक वर्तमान हैं और इस विषय में डाक्टर फरग्यूसन साहब हमारे पथदर्शक होंगे। ऐसे नमूने प्रायः सभी बौद्धों के बनाए हुए हैं। बौद्धों के पहिले पत्थर का काम अधिकतर ईंजीनियरों के कामों

यथा नगर की दीवालों फाटकों पुलों और नदी की बांधों में होता था और यदि कभी कभी महल और मन्दिर इत्यादि भी पत्थर के बनाए जाते रहे हों तो इस समय उसका कोई नमूना प्राप्त नहीं है। इसके सिवाय हिन्दुओं और जैनों की पत्थर की इमारतें जो कि भारतवर्ष में सर्वत्र अधिकता से पाई जाती है ईसा की पांचवीं शताब्दी के उपरान्त की बनी हुई हैं और इसलिये हम पौराणिक काल में उनके विषय में लिखेंगे। इस अध्याय में हम केवल बौद्ध काल के शिल्प का वर्णन करेंगे और ऐसी इमारतें सब बौद्धों की बनाई हुई है।

डाक्टर फरग्यूसन साहब इनके पांच विभाग करते है अर्थात्—

(१) लाट वा पत्थर के खम्भे जिनमें प्रायः शिलालेख खुदे रहते है।

(२) स्तूप जो कि किसी पवित्र घटना वा स्थान को प्रगट करने के लिगे बनवाए जाते थे वा जिनमें बुद्ध के मृत शरीर का कुछ कल्पित शेष भाग समझा जाता था।

(३) जँगले जिनमें बहुधा बहुत अच्छी नकाशी के काम होते थे और जो बहुधा स्तूपों को घेरने के लिये बनाए जाते थे।

(४) चैत्य अर्थात् मन्दिर।

(५) विहार अर्थात् मठ।

सब से प्राचीन लाट वे है जिन्हें भारतवर्ष के अनेक भागों में अशोक ने बनवाया था और जिनमें उसकी प्रजा के लिये बौद्ध धर्म्म के-नियम और सिद्धान्त खुदे हुए है। सब से प्रसिद्ध लाट दिल्ली और इलाहाबाद की है जिन पर खुदे हुए लेखों को पहिले पहल जेम्स प्रिन्सेप साहब ने पढ़ा था। इनमें से दोनो पर अशोक के लेख खुदे हुए है. और इलाहाबाद की लाट पर अशोक के उपरान्त गुप्त वंश के समुद्रगुप्त का लेख भी खुदा हुआ है जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं और इसमें इस राजा के प्रताप का वर्णन और उसके पूर्वजों के नाम दिए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि यह लाट गिरा दी गई थी और इसे शाहंशाह जहांगीर ने सन् १६०५ ईस्वी

में पुनः बनवाया और उस पर अपना राज्य आरम्भ होने के स्मारक की भांति फारसी अक्षरों में एक लेख खुदवाया। बहुत सी अन्य लाटों की नाईं इस लाट का भी सिरा नहीं है, परन्तु तिरहुत की लाट के सिरे पर एक शेर की मूर्ति और मथुरा और कन्नौज के बीच में संकाश्य की लाट के सिरे पर एक खण्डित हाथी है परन्तु वह इतना खण्डित है कि ह्वेनत्सङ्ग ने उसे शेर समझा था। बम्बई और पूना के बीच कर्ली की गुफा के सामने जो लाट है उसके सिरे पर चार शेर हैं। ३२ न० की दोनों लाटों का सम्बन्ध गुप्त राजाओं के संवत् से कहा जाता है।

कुतुब मीनार के निकट जो लोहे का अद्भुत खम्भा है उसे दिल्ली जाने वाले प्रत्येक यात्री ने देखा होगा। वह पृथ्वी के ऊपर २२ फीट है और २० इंच पृथ्वी के भीतर है, और उस का व्यास नीचे १६ इञ्च और सिरे पर १२ इञ्च है। उस पर भी अन्य-लाटों की नाईं लेख खुदा हुआ है परन्तु दुर्भाग्य वश इस लेख में कोई तिथी नहीं दी है। जेम्स प्रिन्सेप साहब कहते हैं कि यह चौथी वा पांचवीं शताब्दी का है और डाक्टर भाऊदाजी इसे पांचवीं वा छठीं शताब्दी का बतलाते हैं। इसका समय पांचवीं शताब्दी मान कर डाक्टर फरग्यूसन साहब के अनुसार "यह हमारी आंख खोल कर बिना सन्देह के बतलाता है कि हिन्दू लोग उस समय में लोहे के इतने बड़े खम्भे को बनाते थे, जो कि यूरप में बहुत इधर के समय में भी नहीं बने हैं और जैसे कि अब भी बहुत कम बनते हैं। और इसके कुछ ही शताब्दी के उपरान्त इस लाट के बराबर के खम्भों को कनारिक के मन्दिर में धरन की भांति लगे हुए मिलने से हम को विश्वास करना चाहिए कि वे लोग इस धातु का काम बनाने में इसके उपरान्त की अपेक्षा बड़े दक्ष थे।

और यह बात भी कम आश्चर्यजनक नहीं है कि १४०० वर्ष तक हवा और पानी में रह कर उसमें अब तक भी मुर्चा नहीं लगा है और उसका सिरा तथा खुदा हुआ लेख अब तक भी वैसा ही स्पष्ट और वैसा ही गहिरा है जैसा कि वह १४०० वर्ष पहले बनाया गया था।"

स्तूपों में भिलसा के स्तूप प्रसिद्ध हैं। पूरब से पश्चिम तक १० मील और उत्तर से दक्षिण तक ६ मील के भीतर भूपाल राज्य में भिलसा गांव के निकट इन स्तूपों के पांच वा छ. समूह है जिन में लगभग २५ वा ३० स्तूप समूह होंगे। जेनरल कानिंगहाम साहब ने पहिले पहल इनका एक वृत्तान्त सन् १८५४ इस्वी में प्रकाशित किया था और तब से उनका कई बेर वर्णन किया गया है। इन स्तूपों में सब से प्रधान सांची का बड़ा स्तूप है जिस की बैठक १४ फीट ऊँची और गुम्बज ४२ फीट ऊँचा है और आधार के ठीक ऊपर उसका व्यास १०६ फीट है। जॅगले ११ फीट ऊँचे हैं और फाटक जिसमें कि बहुत ही अच्छा पत्थर का काम है और जिसका वर्णन हम आगे चल कर करेंगे ३३ फीट ऊँचा है।

इस बड़े ढूहे के बीच का भाग बिल्कुल ठोस है और वह मिट्टी में जमाई हुई ईंटों से बना है परन्तु उसका बाहरी भाग चिकने किए हुए पत्थरों का बना हुआ है। इसके ऊपर मसाले की एक तह थी जिस पर निस्सन्देह चित्रकारी की हुई थी।

सांची के आस पास दूसरे बहुत से स्तूपों के समूह हैं अर्थात् एक तो ६ मील दूर सोनारी पर, दूसरा उसके तीन मील आगे सनधर पर और सांची से ७ मील दूर भोजपुर में अनेक समूह है। एक दूसरा समूह भोजपुर से पांच मील दूर अवधर में है। सब मिला कर एक छोटे से जिले में ६० स्तूपों से कम नहीं है।

हमारे बहुत से पाठक जो बनारस गए होंगे उन्होंने सारनाथ का स्तूप अवश्य देखा होगा जो उसी प्राचीन मृगदाय में बना हुआ है जहां कि गौतम ने पहिले पहल अपने नवीन धर्म्म का उपदेश किया था। उसका आधार पत्थर का ९३ फीट के व्यास का है जो कि ४३ फीट ऊंचा ठोस बना हुआ है। उसके ऊपर ईंट का काम है जो कि आस पास की भूमि से १२८ फीट ऊँचा है। उस के नीचे का भाग अठपहल बना हुआ है जिसके प्रत्येक ओर एक आला खुदा है। जेनरल कनिंगहाम साहब का विश्वास है कि इसके बनने का समय ईसा की छठीं वा ७ वीं शताब्दी है।

बङ्गाल में एक दूसरा स्तूप है जो कि जरासिन्ध की बैठक

के नामसे प्रसिद्ध है। उसका व्यास २८ फीट और ऊँचाई २१ फीट है और वह ४ फीट के आधार पर बनाया गया है। उसका उल्लेख हेनत्साङ्ग ने किया है और उसके बनने का समय सम्भवत ५०० ईस्वी है।

अमरावती का स्तूप वा दगोब जिसे कि हेनत्साङ्ग ने देखा था, अब नहीं है। गान्धार देश में कई प्रकार के स्तूप हैं। परन्तु कनिष्क का वह बड़ा दगोब जो कि ४७० फीट से अधिक ऊँचा था और जिसे फ़ाहियान और हेनत्साङ्ग ने देखा था अब नहीं है। गान्धार के स्तूपों में सब से आवश्यक पञ्जाब में सिन्ध और झेलम के बीच मनिक्यल के स्तूप हैं। इस स्थान पर १५ वा २० स्तूप पाए गए थे और उनमें से कुछ स्तूपों को रणजीतसिंह के फरासीसी सेनापति वेन्टूर और कोर्ट साहबों ने सन् १८३० ई० में पहिले पहल खोला था। इनमें से प्रधान स्तूप का गुम्बज ठीक गोलार्ध है जिस का व्यास १२७ फीट है और इस कारण उसका घेरा लगभग ४०० फीट हुआ।

बौद्ध काल की सब उत्तम इमारतों के काम स्तूपों के चारों ओर के जँगले और फाटक हैं। सब से पुराने जंगले बुद्धगया और भरहुत के हैं। डाक्टर फर्ग्यूसन साहब बुद्ध गया के जँगलों का समय २५० ई० पू० और भरहुत के जँगलों का समय २०० ई० पू० कहते हैं। बुद्धगया के जँगले १३१ फीट लम्बे और ९८ फीट चौड़े सम-कोण चतुर्भुज आकार के हैं और उसके खम्भे ५ फीट ११ इंच ऊँचे हैं।

भरहुत इलाहाबाद और जबलपुर के बीच में है। यहां का स्तूप अब बिल्कुल नहीं रहा है, वह गांव के बनाने के काम में लाया गया परन्तु उसके जँगलो का लगभग आधा भाग अब तक है। वह पहिले ८८ फीट के व्यास का अर्थात् लगभग २७५ फीट लम्बा था। उसके चार द्वार थे जिन पर साढ़े चार फीट ऊँची मूर्तियां थीं। जेनरल कनिंगहाम साहब के मरम्मत के काम से जान पड़ता है कि पूरब के फाटक के खम्भे २२ फीट ६ इञ्च ऊँचे थे। खम्भों पर मनुष्यों की कोई मूर्ति नहीं थी। नीचे की धरन पर हाथियों की

एक पंक्ति थी, बीच की धरन पर शेरों की, और सब से ऊपर की धरन पर सम्भवतः घड़ियालों की। जँगला ९ फीट ऊंचा था और उसके भीतर की ओर लगातार पत्थर की मूर्तियां खुदी थीं जो एक दूसरे से एक सुन्दर बेल के द्वारा जुदी की गई थीं। इनमें से लगभग १०० मूर्तियां पाई गई है और उन सब में कथाओं के दृश्य है और प्रायः सबमें जो जातक दिखलाए गए हैं उनका नाम भी खुदा हुआ है। भारतवर्ष में केवल एक यही स्मारक है जिसमें कि इस प्रकार लेख खुदे हुए हैं और इसीलिये भरहुत के जँगले ऐसे बहुमूल्य समझे जाते हैं।

इन जँगलों से भारतवर्ष के पत्थर के काम की जो अवस्था प्रगट होती हैं उसके विषय में हम डाक्टर फरग्यूसन साहब की सम्मति उद्धृत करने के लिये क्षमा नहीं मांगे गे—

"जब हम लोग हिन्दुओं के पत्थर के काम को पाहिले पहल बुद्ध गया और भारहुत के जँगलों में २०० से ले कर २५० ई० पू० तक देखते है तो हम उसे पूर्णतया भारतवर्ष का पाते हैं जिसमें कि विदेशियों के प्रभाव का कोई चिन्ह नहीं है। परन्तु उनसे वे भाव प्रगट होते हैं और उनकी कथा इस स्पष्ट रूप से विदित होती है जिसकी समानता कम से कम भारतवर्ष में कभी नहीं हुई। उसमें कुछ जन्तु यथा हाथी, हिरन, और बन्दर ऐसे बनाए हुए हैं जैसे कि संसार के किसी देश में बने हुए नहीं मिलते, और ऐसे ही कुछ वृक्ष भी बनाए गए हैं और उनमें नकासी का काम इतनी उत्तमता और शुद्धता के साथ बना हुआ है कि वह बहुत प्रशंसनीय है। मनुष्यों की मूर्तियां भी यद्यपि वे हम लोगों की आज कल की सुन्दरता से बहुत भिन्न हैं परन्तु बड़ी स्वाभाविक है और जहां पर कई मूर्तियों का समूह है वहां पर उनका भाव अद्भुत सरलता के साथ प्रगट किया गया है। रैलफ की नाई एक सच्चे और कार्योपयोगी शिल्प की भांति कदाचित इससे बढ़ कर और कोई काम नहीं पाया गया।"

भूपाल के राज्य में सांची के बड़े स्तूप के चारों ओर का जँगला गोलाकार है। उसका व्यास १४० फीट है और उसके अठ पहल

खम्भे ८ फीट ऊँचे एक दूसरे से दो दो फीट की दूरी पर हैं। वे सिरे पर तथा बीच से भी दो फीट ३ इञ्च मोटी धरनों से जुटे हुए हैं। परन्तु यह तो साधारण सजावट हुई और दूसरे स्थानों में जँगलों के फूल पत्ती का काम बढ़ता गया है यहां तक कि फूल पत्ती और बेलबूटे और मूर्तियां इतनी आम और इतनी अधिक हो गई हैं कि उनसे खम्भे और धरन बिलकुल ढंक गए हैं और उनका मूल ढाँचा बिलकुल बदल गया है।

सांची का बड़ा स्तूप जिसके विषय में हम पहिले लिख चुके हैं सम्भवतः अशोक के समय में बना था। उसके प्रत्येक जंगले पर जो लेख खुदा है उससे विदित होता है कि वह भिन्न भिन्न मनुष्यों का दिया हुआ है। इसके उपरान्त चारों फाटक सम्भवतः इसके पीछे बनवाए गए थे। डाक्टर फरग्यूसन साहब उनका इस भांति वर्णन करते हैं—

"ये चारों फाटक वा तोरन भीतर और बाहर दोनों ओर अर्थात् जहां धरनों में जोड़े जाने के कारण उनका जितना भाग ढंक गया है उतने भाग को छोड़ कर और सर्वत्र सब से उत्तम पत्थर के काम से ढंके हुए थे। बहुधा इनमें बुद्ध के जीवन के दृश्य खुदे हुए हैं। इन दृश्यों के सिवाय उनमें उन जातकों के दृश्य हैं जिनमें कहा गया है कि शाक्य मुनि ने ५०० जन्मों में अवतार लिया और उसके उपरान्त वे इतने पवित्र हुए कि पूर्ण बुद्ध हो गए। इनमें से एक अर्थात् वेसन्तर वा "दान देने का" जातक उत्तरी फाटक के सब से नीचे की पूरी धरन पर है और उसमें उस अद्भुत कथा की सब बातें ठीक उसी प्रकार से दिखलाई गई हैं जैसी कि वे लंका की पुस्तकों में आज तक मिलती हैं .... अन्य मूर्तियों में युद्ध, घेरा डालने, तथा अन्त में विजय पाने के दृश्य दिखलाए गए हैं। परन्तु जहां तक विदित होता है ये युद्ध स्मारक स्थित रखने के लिये वा किसी धर्म सम्बन्धी कार्य के लिये किए गए थे। अन्य मूर्तियों में मनुष्य और स्त्रियां खाते पीते तथा प्यार करते हुए दिखलाए गए हैं। फाटकों की सजावटों में भारतवर्ष में ईसा की पहिली शताब्दी के बौद्धों के धर्म ग्रन्थ के पूर्ण चित्र हैं।"

सांची के जंगलों का समय घुसगया और भरहुत के जंगलों के तीन शताब्दी पीछे का कहा जाता है और अमरावती के जंगले सांची के जँगलों से भी तीन शताब्दी पीछे के हैं। अमरावती के जँगले का समय ईसा की चौथी वा पांचवीं शताब्दी कहा जाता है।

अमरावती कृष्णानदी के मुहाने के निकट उसके दक्षिणी किनारे पर है और वह बहुत समय तक दक्षिणी भारतवर्ष के अन्ध्र राजाओं की राजधानी थी। अमरावती का जँगला फूलपत्ती और मूर्तियों से भरा हुआ है। बड़े जंगले का व्यास १६५ फीट और भीतरवाले जंगले का व्यास १६५ फीट है और इन दोनों के बीच यात्रा का मार्ग था। बड़ा जंगला बाहर से १४ फीट और भीतर से १२ फीट और छोटा जँगला ठोस और ६ फीट ऊंचा था। बड़े जँगले की दीवार में जानवरों और लड़कों की मूर्तियां खुदी थीं और खम्भे अन्य खम्भों की नाईं अठपहल थे और उन पर फूल खुदे थे। बड़े जँगले में बाहर की अपेक्षा भीतर की ओर बहुत उत्तम काम था और जँगले के ऊपरी भाग में लगातार ६०० फीट की लम्बाई में मूर्तियां खुदी हुई थीं। बड़े जँगले की अपेक्षा भीतरी जँगले में और भी उत्तम काम था और उसमें बुद्ध के जीवन चरित्र के अथवा कहानियों के दृश्य भी उत्तमता के साथ खुदे हुए थे।"

डाक्टर फरग्यूसन साहब ने अपनी पुस्तक में दो चित्र दिए हैं एक बड़े जँगले का और दूसरा भीतरी जँगले का। ये दोनों बड़े मनोरञ्जक हैं। पहिले में एक राजा अपने सिंहासन पर बैठा हुआ किसी राजदूत से मिल रहा है और सामने उसकी सेना दीवालों की रक्षा कर रही है। उसके नीचे पैदल सिपाही घुड़सवार और हाथी युद्ध की सजावट के साथ निकल रहे है और उन में से एक शत्रु मेल के लिये बात चीत कर रहा है। दूसरे अर्थात् भीतरी जँगले के चित्र में पूजा की तीन वस्तुएँ है अर्थात् एक तो स्तूप तथा उसके जँगले, दूसरे चक्र अर्थात् धर्म्म का पहिया और तीसरे एक जनसमुदाय जो वो पवित्र वृक्ष का पूजा कर रहा है।

अब हम चैत्यों अर्थात् सभा भवन वा मन्दिरों के विषय में लिखेंगे। इन बौद्ध मन्दिरों में विशेषता यह है कि वे उठाए नहीं जाते वरन् ऊंची ऊंची चट्टानो में काट कर बनाए जाते है। इस समय बीस

वा तीस ऐसे मन्दिर हम लोगों को विदित हैं और एक के सिवाय और सब चट्टानों के भीतर उनको काट कर बनाए गए हैं। यूरोप के गिर्जों और हिन्दुओं के मन्दिरों के बाहरी रूप बहुत ही उत्तम और मनोहर होते हैं परन्तु चट्टानों में खोद कर बनाए हुए बौद्ध मन्दिरों के बाहर की ओर केवल मुंह को छोड़ कर जिस पर कि बहुधा काम किया हुआ रहता है और कोई बात देखने योग्य नहीं होती।

दस में से नौ चैत्य जो कि अब तक पाए जाते हैं बम्बई प्रान्त में है और इसका कारण यह है कि भारतवर्ष के इसी प्रान्त में बहुत सी गुफाएँ हैं और उनकी चट्टानें काटी जाने के लिये बहुत ही उत्तम है।

बिहार में एक गुफा है और यह विश्वास किया जाता है कि यही राजगृह की वह सतपनि गुफा है जिसमें वा जिसके सामने गौतम की मृत्यु के उपरान्त ही उसके नियमों को निश्चित करने के लिये बौद्धों की पहिली सभा हुई थी। यह एक स्वाभाविक गुफा है जिसमें कि कारीगरी के द्वारा कुछ थोड़ी सी उन्नति कर दी गई है और हेनत्साङ्ग ने मगध में रहने के समय उसे देखा था।

गया के १६ मील उत्तर अनेक गुफाओं का एक मनोरञ्जक समूह है और उनमें से सबसे मनोरञ्जक गुफा लोमश ऋषि की गुफा के नाम से प्रसिद्ध है। उसकी छत्त नोकीली वृत्ताकार है और उसके मुंह पर सादे पत्थर का काम है। भीतर ३३ फीट लम्बा और १६ फीट चौड़ा एक दालान है जिसके आगे एक वृत्ताकार कोठरी है। ये सब गुफाएँ ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी की खुदी हुई कही जाती हैं।

पश्चिमी घाट में पांच या छ चैत्य की गुफाएँ हैं और वे सब ईसा के पहिले की खुदी हुई कही जा सकती हैं और उनमें से भज की गुफा सब से प्राचीन कही जाती है। बौद्ध जंगलों की नाईं उनके चैत्यों में भी पत्थर के काम को हम धीरे धीरे काठ के कामों से निकलते हुए पाते हैं। भज की गुफा के खम्भे भीतर की ओर बहुत ही झुके हुए हैं ठीक उसी भांति जैसे कि काठ के

खम्भे किसी इमारत में चांड देने के लिये तीखे खड़े रहते हैं। गुफाओं की धरने लकड़ी की हैं जिनमें से बहुत सी आज तक वर्तमान है। इस गुफा का समय ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी कहा जाता है।

गुफाओं का एक दूसरा समूह बेदसोर में है जिसमे कि बहुत अधिक उन्नति दिखलाई पड़ती है। उनके खम्भे अधिक सीधे हैं, यद्यपि वे भी भीतर की ओर कुछ झुके हुए है। उसके द्वार पर बौद्ध जँगलों का सा काम है। उसका ढांचा स्वयं जँगलों ही से लिया गया है परन्तु यहां वह केवल शोभा की भांति बनाया गया है। इन गुफाओं का समय दूसरी शताब्दी का प्रथमार्ध भाग कहा जाता है।

इसके उपरान्त नासिक में एक गुफा है। उसके खम्भे इतने सीधे है कि उनका झुकाव बहुत कठिनता से जान पड़ता है और उसके द्वार पर यद्यपि उन्हीं जँगलों का सा काम है परन्तु उनमे बहुत ही उत्तमता देख पड़ती है। इस गुफा का समय दूसरी शताब्दी का द्वितियार्ध कहा जाता है।

और जब हम अन्त में कार्ली की गुफा को देखते है जो कि पूना और बम्बई के बीच की सड़क पर है तो हम इस प्रकार की इमारतों को अपनी पूर्ण अवस्था में पहुंचा हुआ पाते हैं। इसके खम्भे बिलकुल सीधे है, इसके पर्दे पर पत्थर का काम खुदा हुआ है और इसके भीतर और बाहर की बनावट का ढङ्ग निर्मल और शुद्ध है। यह गुफा ईसा के उपरान्त पहिली शताब्दी की खुदी हुई कही जाती है और भारतवर्ष में अब तक जितने चैत्य मिले हैं उनमें यह सब से बड़ी और सबसे पूर्ण है और इसके उपरान्त की शताब्दियों में इसकी समता की इस ढङ्ग की इमारत नही बनी।

निम्न लिखित वृत्तान्त हमारे पाठकों को मनोरञ्जक होगा—

"यह इमारत ईसाइयों के प्राचीन गिरजों से बहुत कुछ मिलती है। उसमें गिर्जों की नाई एक मध्य भाग है और इसके दोनो ओर दालाने हैं

और यह अर्ध गुम्बजाकार होकर समाप्त होती है जिसके चारो ओर दालान हैं। इसके भीतर की लम्बाई द्वार से ले कर पीछे की दीवार तक १२० फीट है और चौड़ाई ४५ फीट ७ इञ्च है। परन्तु इसके बगल की दालानें इसाई गिर्जों से बहुत सकरी हैं। इनमें से बीच की दालान २५ फीट ७ इञ्च चौड़ी है और अन्य सब. खम्भों की मोटाई लेकर केवल १० फीट चौड़ी है। प्रत्येक ओर १५ खम्भे दालानों को मध्यभाग से जुदा करते हैं, प्रत्येक खम्भे के नीचे की कुर्सी ऊंची है. खम्भा अठपहल है और उसके ऊपर के दासे में बहुत अच्छी नकाशी है, दासे के ऊपर दो हाथी घुटनो के बल बैठे हुए है और उनके ऊपर दो मूर्तियां हैं जो कि प्रायः एक मनुष्य और एक स्त्री की है और कहीं कहीं पर दोनो स्त्रियां ही है। और यह सब ऐसे उत्तम खुदे हुए हैं कि वैसे साधारणतः देखने में नहीं आते। पीछे के ७ खम्भे केवल सादे अठपहल हैं जिसके नीचे न तो कुर्सी है और न ऊपर दासा...........इसके ऊपर छत है जो कि अर्धवृत्ताकार है परन्तु दोनों ओर वह कुछ लम्बी है जिसमें कि अर्ध वृत्त की ऊंचाई उसके व्यासार्ध से अधिक हो गई है... ..

अर्ध गुम्बज के ठीक नीचे और लग भग उसी स्थान पर जहां कि ईसाई गिर्जों मे वेदी रहती है, डगोवा स्थित है।

" भीतर के भाग का हम पूरी तरह से विचार कर सकते हैं और वह निस्सन्देह ऐसा गम्भीर और उत्तम है जैसा कि कहीं भी होना सम्भव है। और उसके प्रकाश का ढंग बहुतही पूर्ण है—एक पूरा प्रकाश ऊपर के एक छेद से आकर ठीक वेदी अर्थात् इस इमारत की मुख्य वस्तु पर पड़ता है और शेष भाग सब अंधकार में रहता है। यह अंधकार तीनों भागों को और तीनों दालानों को जुदा करने वाले मोटे मोटे घने ८ खम्भों से और भी अधिक हो जाता है। "—फर्ग्यूसन

अजण्टा में चार चैत्य हैं जिनका समय सम्भवतः ईसा की पहिली शताब्दी से लेकर छठीं शताब्दी तक है। पीछे के समय के चैत्यों में बुद्ध की मूर्तियां हैं और इनमें से सब से अन्तिम समय के चैत्य में बौद्ध धर्म्म का जो रूप प्रगट होता है वह छठीं शताब्दी

तथा उसके पीछे के हिन्दू धर्म से बहुत कुछ मिलता है।

एलोरा की विश्वकर्मा गुफा का चैत्य बौद्ध काल के अन्तिम भाग का बना हुआ है। उसके कमरे की लम्बाई ८५ फीट और चौड़ाई ४३ फीट है और छत में सब बेल और नक्काशियां पत्थर में खुदी हुई हैं यद्यपि उनमें भी लकड़ी की नक्काशियों की नकल की गई है। यहां पर हमें नाल के आकार का द्वार नहीं मिलता जो कि इसके पहिले के सब चैत्यों में एक प्रधान बात है। इसका आगे का भाग किसी साधारण से दो खण्ड के गृह की नाईं जान पड़ता है और उसके बरामदे में बहुत उत्तम पत्थर की नकाशी है।

बम्बई के बन्दरगाह में सालसेट टापू की कन्हेरी की गुफा प्रसिद्ध है। वह पांचवीं शताब्दी के आरम्भ में खुदवाई गई थी। वह कार्ली की गुफा की नकल है परन्तु वह उससे कहीं घट कर नीचे की श्रेणी की है।

अन्त में अब हम विहारों अर्थात् मठों का वर्णन करेंगे। बौद्ध विहारों में सब से प्रथम (पटना के दक्षिण) नालन्द का प्रसिद्ध विहार है जिसे ह्वेनत्साङ्ग ने सातवीं शताब्दी में देखा था। कई उत्तरोत्तर राजाओं ने काम बनवाया था और एक राजा ने सब विहारों को घेर कर एक ऊंची दीवार उठवाई थी जो कि १६०० फीट लम्बी और ४०० फीट चौड़ी थी और जिसके चिन्ह अब तक मिलतें है। इस घेरे के बाहर स्तूप और गुम्बज बनवाए गए थे जिनमें से दस बारह की जेनरेल कनिंगहाम साहब ने पहिचान की है।

परन्तु इस बड़े विहार की इमारत का ठीक तरह पर जीर्णोद्धार नहीं किया गया और न उनकी बनावट का ढङ्ग स्पष्ट किया गया है। यह सन्देह करने के कई कारण हैं कि इस इमारत की भूमि के ऊपर की बनावट काठ की थी और यदि यह ठीक है तो उसका कोई चिन्ह अब नहीं रहा है।

हमारे बहुत से पाठक जो कटक और भुवनेश्वर गए होंगे उन्होंने इन स्थानों में उदयगिरि, और खण्डगिरि की पहाड़ी की दोनों गुफाए, जो कटक से लगभग बीस मील दूर हैं, अवश्य

देखी होगी। हाथी गुम्फ के एक शिलालेख में लिखा है कि इस लेख को कलिङ्ग के राजा ऐर ने खुदवाया था जिसने आस पास के राजाओं को दमन किया।

गणेश गुम्फ और राजरानी गुम्फ दोनों ही सन् ईस्वी के पहिले के खुदी हुई हैं और उन दोनों में एक अद्भुत कथा खुदी हुई है। एक मनुष्य एक वृक्ष के नीचे सोया है और एक स्त्री, जो कि प्रत्यक्ष में उसकी पत्नी है, अपने प्रेमी का स्वागत करती है। इस पर युद्ध होता है और जीतने वाला स्त्री को अपनी गोद में ले भागता है।

इन सब से अधिक प्राचीन छोटी छोटी और सादी गुफाएं हैं जिनमें उदयगिरि की व्याघ्र गुफा सब से प्रसिद्ध है।

अब पश्चिमी भारतवर्ष में नासिक में तीन मुख्य मुख्य विहार हैं जो नहपान गौतमी पुत्र और यज्ञश्री के नाम से विख्यात हैं। इनमें से पहिली दोनों गुफाएं एकही ढंग की हैं, उनके दालान ४० फीट लम्बे और उतनेही चौड़े हैं और उनके तीन ओर सन्यासियों के रहने के लिये १६ छोटी छोटी कोठरियां तथा चौथी ओर १६ खम्भों वाला एक बरामदा है। नहपान विहार में एक शिलालेख खुदा हुआ है जिससे विदित होता है कि इसको शाहवंश के सबसे प्रथम राजा नहपाल के दामाद ने बनवाया था और इसलिये इस विहार के बनने का समय लगभग १०० ईस्वी है। गौतमी पुत्र विहार इसके दो वा तीन शताब्दी उपरान्त का समझा जाता है। यज्ञश्री विहार का दालान ६० फीट लम्बा और ४० से ४५ फीट तक चौड़ा है और उसमें सन्यासियों के लिये २० कोठरियां हैं। उसमें एक देवस्थान भी है जिसमें खुदाई के बहुत उत्तम काम किए हुए दो खम्भे तथा बुद्ध की एक बहुत बड़ी मूर्ति है जिसकी सेवा में बहुत से लोगों की मूर्ति बनी हैं। एक शिलालेख से इस विहार का समय पांचवीं शताब्दी विदित होता है।

कदाचित भारतवर्ष में सब से अधिक मनोरंजक विहार अजंटा के १६ वें और १७ वें विहार हैं। ये बौद्ध विहारों के बड़े सुन्दर नमूने हैं और ये बड़े ही काम के हैं क्योंकि उनमें अब तक भी

चित्र ऐसी स्पष्टता के साथ वर्तमान हैं कि जैसे और किसी विहार में नहीं पाए जाते। उनका समय निश्चित हो गया है। वे पांचवीं शताब्दी के आरम्भ में बनवाए गए थे, जब कि भारतवर्ष में गुप्त-वंशी सम्राटों का राज्य था।

नं० १६ का विहार ६५ फीट लम्बा और उतना ही चौड़ा है और उसमें २० खम्भे है। उसके दोनों ओर सन्यासियों के रहने के लिये १६ कोठरियां बीच मे एक बड़ा दालान, आगे की ओर एक बरामदा और पीछे की ओर देवस्थान है। इसकी दीवारे चित्रों से भरी हुई है जिनमें बुद्ध के जीवन वा मुनियों की कथाओ के दृश्य है और छत तथा खम्भे में बेल बूटों आदि के काम है और इन सब बातों से उसकी एक अद्‌भुत शोभा हो जाती है। इन चित्रों के जो नमूने प्रकाशित हुए हैं उनको देखने से चित्रकारी किसी प्रकार हलकी नहीं जान पड़ती है। मूर्तियां स्वाभाविक और सुन्दर है, मनुष्यों के मुख मनोहर और भाव प्रकट करने वाले है और वे उन विचारों को प्रगट करते है जिनके लिये कि वे बनाए गए है, और स्त्रियों की मूर्तियां लचीली, हलकी और उत्तम है और उनमे वह मधुरता और शोभा है जिससे कि वे विशेषता भारतवर्ष की जान पड़ती है। सजावटे शुद्ध और ठीक तथा अद्‌भुत शोभा देने वाली है। यह आशा की जाती है कि इस अद्‌भुत चित्रकारी का एक पूर्ण संग्रह अब भी प्रकाशित किया जायगा जिससे कि प्राचीन भारतवर्ष की चित्रकारी की विद्या का वृत्तान्त प्रगट हो और यह ग्रन्थ भारत वर्ष के शिल्प का इतिहास जानने वालो के लिये उतना ही अमूल्य होगा जितना कि यूरोप के प्राचीन शिल्प का इतिहास जानने वालों के लिये पोम्पिआई के वे चित्र है जो कि नेपिल्स के अजायब घर में रक्षित हैं। डाक्टर फर्ग्यूसन साहब को यह भय है कि अजण्टा की चित्रकारी की नकल लेने के लिये उन के रङ्ग को चटकीला करने के जो उपाय किए गए है उन से तथा वृटिश यात्रियों की नाश-कारी प्रकृति के कारण ये अमूल्य भण्डार नष्ट हो गए है।

१७ वें नम्बर का अजण्टा विहार भी सोलहवें नम्बर के विहार के सदृश है और वह राशि चक्र की गुफा के नाम से प्रसिद्ध है।

क्योंकि उसमें एक बौद्ध चक्र है जो कि भूल से राशिचक्र समझा गया था।

मण्डु से ३० मील पश्चिम बोध नामी स्थान में ८ वा ९ विहार हैं। यहां के बड़े विहार में ९६ फीट लम्बा चौड़ा एक दालान है और उससे सटी हुई एक शाला है जो कि ९४ फीट लम्बी और ४४ फीट चौड़ी है और दालान तथा शाला के आगे २२० फीट लम्बा बरामदा है। दालान में २८ खम्भे, शाला में १६ खम्भे और बरामदे में एक पंक्ति में २० खम्भे सुशोभित हैं। किसी समय में बरामदे की पीछे की दीवार चित्रकारी से सुशोभित थी जो कि सुन्दरता में अजंटा की चित्रकारी के बराबर थी। इस में मुख्य विषय घोड़ों और हाथियों पर की यात्रा है। स्त्रियां मनुष्यों से अधिक हैं और उनमें नाच और प्रेम भाव विशेष करके दिखलाया गया है।

एलोरा में विश्वकर्म्मा चैत्य के विषय में हम पहिले लिख चुके हैं। इस चैत्य से लगे हुए बहुत से विहार हैं। सब से बड़ा विहार ११० फीट लम्बा और ७० फीट चौड़ा है और यह तथा अन्य छोटे विहार सम्भवतः उसी शताब्दी के हैं जब का कि यह चैत्य है।

यहां पर तीन मन्दिर हैं जिससे यह बात अद्भुत रीति से प्रगट होती है कि बौद्ध गुफाएँ धीरे धीरे हिन्दुओं के चाल जैसी हो गईं। पहिला मन्दिर दोतल नामी दो खण्ड का एक बौद्ध विहार है जिस की बनावट सब प्रकार से बौद्ध ढङ्ग की है। दूसरा मन्दिर तीन तल है जो कि दोतल के सदृश है उसके पत्थर के काम भी बौद्ध ढङ्ग के हैं परन्तु वे सरलता से इतनी दूर हैं कि ब्राह्मणों का उसे अधिकार में करलेना न्याय्य है। तीसरा मन्दिर दशा अवतार का है जो कि बनावट में पहिले दोनों मन्दिरों के सदृश है परन्तु उसके पत्थर के काम बिलकुल हिन्दुओं के ढङ्ग के हैं। इसके उपरान्त जब हिन्दु धर्म्म ने बौद्ध धर्म्म को पूरी तरह से दबा लिया तो दक्षिणी भारतवर्ष के हिन्दुओं ने इस स्थान पर ईस्वी की आठवीं वा नौवीं शताब्दी में कैलाश का प्रसिद्ध मन्दिर

बना दिया है। परन्तु इस मन्दिर तथा हिन्दुओं की अन्य इमारतों के विषय में हम आगे चल कर पौराणिक काल मे वर्णन करेंगे। यहां पर केवल इतना ही लिखना आवश्यक होगा कि बौद्धों और हिन्दुओं की इमारतों में मुख्य भेद यह है कि बौद्धों के चैत्य और विहार पर्वतों में गुफा खोदकर बनाए गए हैं परन्तु हिन्दू लोग जब वे चट्टानों या पहाड़ियों पर भी इमारत बनाते थे तो वे जिस स्थान पर इमारत बनवाया चाहते थे उसके चारो ओर की चट्टानो को काट डालते थे और बीच की बची हुई जगह के भीतर से काट कर उसे मकान की नाईं बनाते थे जिसमें यह मकान उठाई हुई इमारत की नाईं अपने चारों ओर की चट्टानों से ऊपर उठा हुआ रहता था। एलारा का कैलाश ऐसा ही है।

हमे गान्धार के विहारों का वृत्तान्त देकर इस अध्याय को बढ़ाना नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वहां पर यूनानियों के प्रभाव से इमारत बनाने के ढङ्ग में बहुत कुछ परिवर्तन हुआ और पंजाब में बहुत से खम्भों के सिरे और मूर्तियां मिली हैं जो कि स्पष्ट यूनानियों के ढङ्ग की है। और न यहां लङ्का की इमारतो का ही वृत्तान्त देना सम्भव है। इस टापू में और विशेषतः अनुराधपुर के निकट, जो कि १० शताब्दी तक लंका की राजधानी रही है, प्राचीन स्तूपों और इमारतो के असंख्य, खंड़हर पाए जाते है। लंका मे दो सब से बड़े स्तूपही है एक अभय गिरि पर जिसका घेरा ११०० फीट और ऊंचाई २४४ फीट है और दूसरा चेतवन में जो कि उससे कुछ फीट ऊंचा है। इनमें से पहिला ईसा के ८८ वर्ष पहिले बना था और दूसरा सन् २७५ ईस्वी में।

ऊपर के संक्षिप्त वर्णन से हमारे पाठकों को विदित होगा कि इमारत बनवाने तथा पत्थर के काम में भारतवर्ष ने ईसा के पहिले और उसके तत्काल उपरान्त पूर्ण उत्तमता प्राप्त की थी। इस विषय मे पहिले उद्योगों के लिये उड़ीसा और विहार की वेडौल गुफाओं को देखना चाहिए जिनके आगे के भाग में कहीं कहीं पर जानवरों की वेडौल मूरतों का सङ्गतराशी का काम है। उदाहरण के लिये उड़ीसा की व्याघ्र गुफा है और हमें इस श्रेणी की गुफाओं का

समय बौद्ध धर्म्म के पहिले पहल प्रचार होने का समय अर्थात् ईसा के पहिले चौथी शताब्दी समझना चाहिए। ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में इस विद्या की बड़ी उन्नति की गई और कदाचित् ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी से लेकर उसके उपरान्त पहिली शताब्दी के भीतर इमारत और सङ्गतराशी के सब से उत्तम काम बने हैं। भरहुत और साँची के सर्वोतम नकाशी के पत्थर के जंगलों का समय २०० ई० पू० और १०० ईस्वी है और चैत्यों में जो सब से उत्तम कार्ला का चैत्य है वह भी ईसा के उपरान्त पहिली शताब्दी का है। इसके उपरान्त की तीन वा चार शताब्दियों में भी यह विद्या ऐसी ही चढ़ी बढ़ी रही परन्तु उनमें कोई उन्नति का होना नहीं कहा जा सकता। क्योंकि बेल बूटों के बनाने की ओर प्रवृत्ति का होना सच्ची उन्नति कही जा सकती है वा नहीं इस में सन्देह है। अजण्टा के विहार और अमरावती के जंगलों में जो कि ईसा के चौथी वा पांचवी शताब्दी में बनाए गए थे, कारीगरी की वही उच्च अवस्था पाई जाती है जिसे कि भारतवर्ष ने तीन वा चार शताब्दी पहिले प्राप्त किया था। चित्रकारी भी जिसके आरम्भ के नमूने हमें नहीं मिलते, पांचवीं शताब्दी में पूर्ण उत्तमता को प्राप्त हो गई थी।

अतः हिन्दुओं ने बौद्धों के इमारत बनाने और संगतराशी के काम को ग्रहण किया। छठीं और सातवीं शताब्दी के प्राचीन हिन्दू मन्दिर जो उड़ीसा में अथवा अन्यत्र हैं उनमें पत्थर का काम वैसा ही उत्तम और प्रशंसनीय है जैसा कि बौद्धों के जंगलों का, परन्तु इसके उपरान्त के समय में इस विद्या की अवनति हुई।

हिन्दुओं के उत्तर काल के मन्दिरों में शिल्प के ये उच्च गुण नहीं हैं और उनमें बहुधा ऐसे उपायों का आश्रय लिया गया है—यथा मुख्य मुख्य मूर्तियों को अन्य मूर्तियों के दूने आकार का बनाना, और देवताओं में मनुष्यों से अधिक सिर और हाथ को दिखला कर भेद प्रगट करना।

अध्याय ८

जाति ।

हिन्दुओं के इमारत बनाने की विद्या और पत्थर के काम के उपरान्त अब हम बौद्ध समय में उनके सामाजिक आचरण तथा अवस्था का वर्णन करेंगे।

हम पहिले कह चुके हैं कि भारतवर्ष में कई शताब्दियों तक बौद्ध और हिन्दू धर्म दोनों ही साथ साथ प्रचलित रहे। कट्टर हिन्दू लोग विशेष कर उच्च जाति के लोग वेद के धर्म और वेद के यज्ञों का अवलम्बन करते रहे। दूसरी ओर बौद्ध सन्यासियों और मठों की संख्या बढ़ती जाती थी और साधारण लोगों में से झुंड के झुंड मनुष्य बौद्ध धर्म को ग्रहण करते और मूर्तियों की पूजा करते थे। इन दोनों धर्मों में प्रत्यक्ष में परस्पर कोई द्वेष नहीं था और उस अवस्था को छोड़ कर जब कि कोई अज्ञानी और अत्याचारी राजा अपने राज्य काल में दुःख देता था, और किसी अवस्था में हिन्दुओं और बौद्धों में द्वेष का कोई भाव नहीं था और वे भारतवर्ष में बहुत शताब्दी तक मित्रता के साथ रहते थे और अपने अपने धर्म्म के अनुसार चलते थे।

बौद्धों की धर्म्म पुस्तकों से हमने इस पुस्तक के दूसरे भाग में जो अनेक वाक्य उद्धृत किए हैं उनसे बौद्धों के जीवन और चाल व्यवहार का बहुत कुछ वृत्तान्त विदित होता है। इस काल में हिन्दुओं के जीवन और चाल व्यवहार को जानने के लिये हमे मनुस्मृति का आश्रय लेना चाहिए जो कि कई बातों में इस काल का एक बड़ा अद्भुत ग्रन्थ है।

हम पहिले लिख चुके हैं कि भारतवर्ष में मनु की स्मृति पहिले सूत्र के रूप में प्रचलित थी और दार्शनिक काल में दूसरे सूत्रकार लोग इसे बड़े सत्कार की दृष्टि से देखते थे। परन्तु वह प्राचीन स्मृति हम लोगों को अब प्राप्त नहीं है और अब जो मनुस्मृति वर्तमान है वह बौद्ध काल में पूर्णतया दोहरा करके पद्य में

बनाई गई थी। अतएव उससे बौद्ध काल के हिन्दुओं की रीति और चाल व्यवहार विदित होती है और इस प्रकार वह इस के पहिले के दार्शनिक काल के सूत्र ग्रन्थों और इसके उपरान्त के पौराणिक काल के धर्म्म शास्त्रों की मध्यवर्ती कड़ी है।

पहिले के समय के सूत्र किसी न किसी वैदिक शाखा से सम्बन्ध रखते हैं। परन्तु मनु अपना सम्बन्ध किसी विशेष शाखा वा सम्प्रदाय से नहीं रखता वरन् उसने आर्य्य हिन्दू मात्र के लिये नियम बनाए हैं। इस बात में दार्शनिक काल के सूत्र ग्रन्थों से मनु का भेद है।

इसके सिवाय पौराणिक काल के धर्म्म शास्त्रों से मनु का और भी अधिक भेद है। इन धर्म्म सूत्रों में पौराणिक वा आधुनिक हिन्दू धर्म्म को माना है और उनमें हिन्दुओं के तीन देवताओं तथा मूर्ति पूजा में विश्वास प्रगट किया है। परन्तु मनु इन आधुनिक बातों को नहीं मानते। वे वैदिक धर्म्म और वैदिक यज्ञों को मानते हैं और उत्तर काल के हिन्दुओं की त्रिमूर्ति को नहीं मानते और मूर्तिपूजा को पाप समझते हैं। इस प्रकार मनु की अवस्था अनोखी और आकर्षणीय है, और उससे हिन्दुओं की वह परिवर्तित अवस्था प्रगट होती है जिसमें कि वे लोग बौद्ध काल में आधुनिक वा पौराणिक धर्म्म को पूरी तरह से ग्रहण करने के पहिले थे। इसी बात में मनु की स्मृति अमूल्य है और इस स्मृति के आधुनिक रूप में बनने का समय डाक्टर बुहलर तथा अन्य विद्वान लोग ईसा के पहिले वा उपरान्त पहिली वा दूसरी शताब्दी में स्थिर करते हैं।

हम पहिले लिख चुके हैं कि प्राचीन सूत्रकार भिन्न जातियों की उत्पत्ति का कारण चारों मूल जाति में भिन्न भिन्न जाति के स्त्री और पुरुष के संयोग बतलाते हैं और दुर्भाग्यवश मनु ने भी इसी लड़कपन की कथा को माना है। हम नीचे मनु की मिश्रित जातियों की सूची या यों कहिए कि मनुष्यों की जाति की उत्पत्ति के विषय में मनु का सिद्धान्त देते हैं। प्रथम श्रेणी की तीन जातियों में नीचे की तीन जाति की स्त्री से जो पुत्र उत्पन्न होता था

[illegible]

पिता	माता	जाति
ब्राह्मण	वैश्य	अम्बष्ठ
,,	शूद्र	निषाद
क्षत्रिय	,,	उग्र
,,	ब्राह्मण	सूत
वैश्य	,,	वैदेह
,,	क्षत्रिय	मागध
शूद्र	वैश्य	आयोगव
,,	क्षत्रिय	क्षत्री
,,	ब्राह्मण	चाण्डाल
ब्राह्मण	उग्र	अवृत्त
,,	अम्बष्ठ	अभीर
,,	अयोगव	धिग्वन
निषाद	शूद्र	पुकस
शूद्र	निषाद	कुक्कुटक
क्षत्री	उग्र	स्वपाक
वैदेहक	अम्बष्ठ	वेण

प्रथम तीनो जातियाँ { अपनी ही जाति की स्त्रियों से जो अपने पवित्र कर्म्मों को न करती हों। } व्रात्य

ब्राह्मण व्रात्यों से............................... { भ्रिज्जकन्तक, अवन्त्य, वातधान, पुष्पध, सखे }

क्षत्री व्रात्यों से. .... { झल्ल, मल्ल, लिच्छिवि, नट, करन, खस, द्रविड }

पिता	माता	जाति
वैश्य व्रात्यों से ...	....	सुधन्वन अचार्य्य कारुश विजन्मन मैत्र सात्वत
दस्यु	अयोगव	सैरिन्ध्र
वैदेह	,,	मैत्रयक
निषाद	,,	मागध वा दास वा कैवर्त्त
,,	वैदेह	कारावर
वैदेहिक	कारावर	अन्ध्र
,,	निषाद	मेद
चण्डाल	वैदेह	पाण्डुसोपाक
निषाद	,,	अहिन्दिक
चण्डाल	पुक्कस	सोपाक
,,	निषाद	अन्त्यावसायिन

और अनार्य्य जातियों की इस सूची को काफी न समझ कर इस बड़े स्मृतिकार ने इस नियम में पृथ्वी की सब जातियों को सम्मिलित करने का उद्योग किया है ! पौन्ड्रक (उत्तरी बङ्गाल के लोग),उद्र(उड़िया लोग),द्रविड़ (दक्षिणी भारतवर्ष के लोग), कम्बोज (काबुल के लोग), यवन (बेक्ट्रिया के यूनानी लोग), शक (तूरानीजाति के आक्रमण करनेवाले). पारद, पह्लव (फारस के लोग), चीन(चीन के लोग), किरात (पहाड़ी लोग), और दरद और खस लोग पहिले के क्षत्रिय कहे गए हैं परन्तु वे पवित्र कर्मों को न करने और ब्राह्मणों की सम्मति धीरे धीरे इस संसार में न लेने के कारण तथा धार्मिक कर्मों को न करने के कारण शूद्रों की अवस्था को प्राप्त हुए हैं। (१०, ४३, और ४४)।

मिश्रित जातियों की उपरोक्त सूची को ध्यान पूर्वक देखने से हमलोगों को विदित होगा कि उनमें वे सब अनादि आर्य्यवासी तथा विदेशी सम्मिलित हैं जो कि मनु के समय में हिन्दुओं को विदित थे, परन्तु व्यवसाय करने से जो जातियाँ बनी हैं वे उनमें

सम्मिलित नहीं है और वे जातियाँ आज कल की बनी हैं। उनमें हमको कायस्थों, वैद्यों, सोनारों, लोहारों, वणिकों, कुम्हारों, जुलाहों तथा अन्य कारीगरों की जातियों के नाम नहीं मिलते जोकि आजकल पाए जाते है। इन जातियों की उत्पत्ति कैसे हुई और उनकी उत्पात्ति कब हुई और आजकल जो सैकड़ों नई जातियाँ पाई जाती है उनकी उत्पत्ति का कारण क्या हम मनु की लिखी हुई भिन्न भिन्न मिश्रित जातियों के मनुष्यों और स्त्रियों के सम्मेल से समझें।

फिर, जब हम आज कल की हिन्दू जातियों को देखते है तो हमें बहुत से प्रान्तो में उस प्राचीन वैश्य जाति का नाम भी नहीं मिलता जिस जाति में कि मनु के समय के अधिकांश लोग सम्मिलित थे। वे वैश्य क्या हुए? भारतवर्ष के बहुत से प्रान्तों से उनका कब और कैसे लोप होगया? और क्या हम उपरोक्त कथा के अनुकूल यह विश्वास करें कि वैश्य लोग दूसरी जाति की स्त्रियों से ही विवाह करने और अपनी जाति की स्त्रियों से ही विवाह न करने के इतने आदी थे कि वे निरन्तर अन्य जातियों से विवाह करते रहे, यहां तक कि उनकी जातिही न रह गई?

भारतवर्ष के इतिहास जानने वालों को ऐसी बच्चों की सी कहानियों को मान लेने की आवश्यकता न पड़ेगी। बुद्धि उन्हें बतलाएगी कि मनु के समय के वैश्य लोग अपने अपने व्यवसाय के अनुसार नई नई जातियों में बँटते गए। मनु भी सोनार, लोहार, और वैद्यों का उल्लेख करता है। परन्तु वह उनकी गिनती जुदी जातियों में नहीं करता। मनु के समय में वे जातियां नहीं थीं वरन् व्यवसाय थे और वे सब व्यवसाय करनेवाले उस समय तक एकही अविभाजित वैश्य जाति में सम्मिलित थे। मनु के समय तक लेखक, वैद्य और शिल्पकारों को प्राचीन आर्यों के अधिकार प्राप्त थे अर्थात् उन्हें धार्म्मिक ज्ञान प्राप्त करने, धार्म्मिक विधानों को करने और यज्ञोपवीत पहिनने का अधिकार था। परन्तु हमलोग जाति भेद के फलों के लिये चाहे जितना खेद करें, पर यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सन् ईस्वी के तत्काल पहिले और तत्काल पीछे

की शिताब्दियों में भी जाति भेद अपनी सब से बुरी अवस्था को नहीं प्राप्त हुआ था। पवित्र विद्या तब तक भी ब्राह्मणों की घपौती नहीं होगई थी, और वे ईमानदार लोग जोकि लेखक, वैद्य, सोनार, लोहार, कोरी, कुम्हार इत्यादि का व्यवसाय करके अपना जीवन निर्वाह करते थे उस समय तक भी एक ही जाति में थे अर्थात् वे सब वैश्य थे और उस समय तक भी आर्य्यों की विद्या और धन प्राप्त करने के अधिकारी थे।

अब हम इन बातों का उदाहरण देने के लिये बङ्गाल की आज कल की कुछ बातों का वर्णन करेंगे। खास बंगाल अर्थात् उस देश के जहाँ की भाषा बंगला है (जिसमें कि प्रेसीडेन्सी, बर्दवान, राजशाही, ढाका, और चिटगाँव की कमिश्नरियां सम्मिलित हैं) निवासियों की संख्या सन् १८८१ की मनुष्य गणना के अनुसार, ३५५०००००० है। इनमें से मोटे हिसाब से १८०००००० मुसलमान, १७०००००० हिन्दू (जिनमें कि आदि वासियों की जातियाँ भी सम्मिलित हैं) और शेष ५०००००० बौद्ध, इसाई इत्यादि है।

ये १७०००००० हिन्दू बहुत सी जातियों के हैं और वे जातियां जिनमें २००००० या इससे अधिक मनुष्य हैं नीचे दिखलाई जाती हैं।

१ कैवर्त	२००६०००	१७ धनियाँ	३१८०००
२ चण्डाल	१५६४०००	१८ जुगी	३०६०००
३ कोच	१२१५०००	१९ कमार	२८६०००
४ ब्राह्मण	१०७७०००	२० कुम्हार	२५२०००
५ कायस्थ	१०५६०००	२१ बारी	२५२०००
६ बाग्दी	७२००००	२२ तओर	२२९,०००
७ गोवाला	६१३०००	२३ धोबी	२२७०००
८ सद्गोप	५४७०००		
			१३७६००००
९ नापित	४४७०००	दूसरी जातियाँ जिनमें २००००० मनुष्यों से कम हैं	३४६४०००
१० वैष्णव	४३६०००		
११ चमार	४१००००		
१२ सूंरी	३८३०००	सब हिन्दू निवासियों का जोड़	१७२२४०००
१३ तेली	३८३०००		
१४ जौलिआ	३७५०००		
१५ नागी	३३००००		
१६ गोद	३२५०००		

दो सब से बड़ी जातियाँ अर्थात् कैवर्त और चाण्डाल का उल्लेख मनु ने अपनी मिश्रित जातियों की सूची में किया है। बङ्गाल के कैवर्त लोगों की संख्या २०००००० है जो कि बङ्गाल के समस्त हिन्दू निवासियों का लगभग आठवाँ भाग हुआ। उन सभों के शारीरिक आकार एकही से है, वे एकही व्यवसाय अर्थात् मछली मारने और खेती का कार्य्य करते है और उनमें धैर्य परिश्रम शिक्षा शीलता और मन्द बुद्धि के गुण एकही प्रकार से पाए जाते हैं। इनमें से तीन भाग मनुष्य बङ्गाल के उत्तर पश्चिमी कोने में अर्थात् मिदनापुर, हुगली, हवड़ा, चौबीस परगना, नदिया और मुर्शिदाबाद के जिलों में रहते है। क्या हमारे पाठकों मे कोई ऐसा भी सीधा सादा होगा जो मनु की इस बात पर विश्वास करे कि यह इतनी बड़ी जाति जिनके कि चेहरे और विशेष लक्षण एक ही से है और जो अधिक तर बङ्गाल के एक विशेष भाग में रहते है वे अयोगव जाति की स्त्रियों से उत्पन्न हुए हैं जिनमें से लाखों स्त्रियाँ ने अपने पति को छोड़ छोड़ कर निषादों को स्वीकार किया ? इस अद्भुत और प्रचलित पतित्याग अर्थात् अयोगव स्त्रियों के निषादो के द्वारा हरण किए जाने की दन्त कथाएँ कहाँ हैं कि जिनके आगे सबाइन स्त्रियो का हरण किया जाना केवल एक खेलवाड़ सा है ? बुद्धि ऐसे बेसिर पैर की कथाओं को नहीं स्वीकार करती और वह इन परिश्रमी और सीधे सादे लाखों कैवर्तों को उन आदि जातियों में पहिचान लेगी जो कि आर्य्यों के आने के पहिले बङ्गाल में बसती थी और जिन्होंने कि विजयी हिन्दुओं की सभ्यता भाषा और धर्म्म को स्वीकार किया और उनसे उस भूमि को जोतना बोना सीखा जहां कि वे पहिले मछली मार कर और शिकार करके जीवन निर्वाह करते थे।

अब बङ्गाल के चण्डालों को देखिए। वे भी एक बहुत बड़ी जाति के हैं जिनमें कि १५००००० लोग हैं और जो अधिकतर बङ्गाल के दक्षिण पूर्वी स्थानों में अर्थात् बाकरगंज, फरीदपुर, ढाका, जैसोर और खुलना में रहते हैं। वे धैर्य्यवान और परिश्रमी हैं और नाव खेने और मछली पकड़ने में अद्वितीय है और ज़मीदार लोग ऊसर और दलदल भूमि को जोतने बोने योग्य करने के लिये

उन्हें काश्तकार रखने से प्रसन्न होते हैं * परन्तु फिर भी चण्डाल लोग कोमल, डरपोक और दुर्बल जाति के हैं और वे पूर्वी बङ्गाल के कठोर मुसलमानों के अनेक अत्याचारों को बिना किसी शिकायत के सहते हैं। चण्डालों में भी एक विशेष शारीरिक और मानसिक समानता है जिससे विदित होता है वे एक जुदाही जाति के हैं।

और यह जाति कैसे उत्पन्न हुई? मनु कहता है कि वे उन ब्राह्मण स्त्रियों के सन्तान हैं जिन्हों ने शूद्र मनुष्यों को ग्रहण किया। दक्षिण-पूर्व बङ्गाल में प्राचीन समय में ब्राह्मणों की अधिक संख्या नहीं थी और अब भी उपरोक्त पांचो जिलों में उनकी संख्या ढाई लाख से भी कम है। अतएव मनु के सिद्धान्त के अनुसार इन जिलों में दस लाख चण्डालों के होने का कारण बतलाना कठिन है। क्या हम यह विश्वास करें कि शुद्ध ब्राह्मणों की स्त्रियां बराबर काले शूद्र पुरुषों का ही ग्रहण करती रहीं? क्या हम यह विश्वास करें कि लाखों रूपवती और दुर्बल ब्राह्मण कन्याओं को शूद्र लोग, जो कि एक नई जाति को उत्पन्न करने के लिये कमर बांधे हुए थे उनके पिता और माता के यहां से बहका ले जाते रहे? अथवा क्या हम यह विश्वास करें कि इस सम्मेल से जो पुत्र उत्पन्न हुए उनकी वृद्धि दलदलों और मछली मारने वाले गावों में परिश्रम और दुःख के साथ रह कर भी अधिक हुई अर्थात् उनकी वृद्धि

* ग्रन्थकार ने बाकरगंज के कुछ भाग के चण्डालों के उस अद्भुत ढंग को बहुधा देखा है जिससे कि वे लोग दलदल को ठोस जोतने बोने योग्य बना लेते हैं। वे घासों नरकट आदि का बोझों को समुद्री नदियों में मिला देते हैं जिसमें दलदल के ऊपर वर्षों तक नित निकली मिट्टी की तह जमती रहे। अथवा वे दलदलों में उत्पन्न होने वाली एक प्रकार की घास एकत्रित करते हैं और दलदलों में उसकी तह के ऊपर तह निरन्तर जमाते जाते हैं यहां तक कि अन्त में नीचे वाली तह भूमि के पेंदे में पहुंच जाती है। इस ग्रन्थकार ने इस प्रकार बनाए

उन सच्चे ब्राह्मणों से भी अधिक हुई जिन्हें कि राज्यसम्मान और पुजेरियों के विशेष अधिकार प्राप्त थे ? हमें इन कल्पनाओं का उल्लेख केवल उनके बेतुकेपन को दिखलाने के लिये करना है और इन कल्पनाओं के साथ मनु का मिश्रित जातियों के सिद्धान्त, कल्पित कथाएं और बालकों के किस्से कहानियों से प्रमाणित होते है ! हमारे जो पाठक बंगाल के चण्डालों के विषय में कुछ भी जानकारी रखते है उन्हें उनकी बुद्धि कह देगी कि ये लोग दक्षिण-पूर्वी बंगाल के आदिम निवासी थे और वहां जो बहुतायत से खाड़ी और नहर है उनमें मछली मार कर अपनी जीविका निर्वाह करते थे और जब आर्य लोग बंगाल में आकर बसे तो उन्होंने स्वभावतः हिन्दुओं का धर्म, उनकी भाषा और सभ्यता ग्रहण करली ।

हम यह दिखला चुके कि कैवर्त और चण्डाल लोग जुदी जुदी आदिवासी जाति के थे और जब उन्हें विजयी आर्यों ने हिन्दू बनाया तब उनकी हिन्दू जातियों में गणना हुई । बंगाल में ऐसे ही और भी है । पाठकगण उपरोक्त सूची में कोच, बाग्दी, पोद, बौरी, और तेओर लोगों का नाम देखेंगे, और ये सब भिन्न भिन्न है । बगाल में हिन्दुओं के आने के पाहिले ये भिन्न भिन्न जातियां आदिवासी जाति की थीं और अत्यन्त प्राचीन काल की प्रत्येक शताब्दी में वे विजयी हिन्दुओं की शरण आती गईं और उनकी भाषा, धर्म और जोतने बोने की रीति को ग्रहण करके हिन्दुओं की जाति में नीच जातियां बन गईं । बंगाल की इन जातियों में से बहुत से नाम मनु को विदित नहीं थे । जो जातियां उसको विदित थीं उनकी उत्पति के विषय में कोई एतिहासिक वा मनुष्य गणना के प्रमाण न होने के कारण उसने अपनेही सिद्धान्तों के अनुसार उनकी उत्पत्ति वर्णन करने का यत्न किया गया है ।

अब हम इन उपजातियों को छोड़ कर व्यवसाय करने वाली जातियों का उल्लेख करेंगे । उपरोक्त सूची में पाठकों को कायस्थ वा लेखक, गोआल अर्थात् गैया रखने वाले, नापित अर्थात् हजाम, तेली अर्थात् तेल बनानेवाले, जोलियां अर्थात् मछुआहे, तांती अर्थात् कपड़ा बीननेवाले,बनियां अर्थात् व्यापारी, कुमर अर्थात् लोहार, कुम्हार अर्थात् मट्टी के बर्तन बनाने वाले, धोबी अर्थात् कपड़ा

धोने वाले इत्यादि जातियों के नाम मिलेंगे। यह बात अद्भुत है कि मनु की मिश्रित जातियों की सूची में कुछ उपजातियों के नाम मिलते हैं परन्तु उस सूची में व्यवसाय करने वाली एक भी जाति का नाम नहीं मिलता। तो क्या ये व्यवसाय मनु के समय में थे ही नहीं? क्या मनु के समय में लेखक और व्यापारी लोग, लोहार, और कुम्हार लोग, हज्जाम और धोबी लोग थे ही नहीं? यह कल्पना बिना सिर पैर की है, क्यों कि मनु के समय में भारतवर्ष सभ्यता में चढ़ा बढ़ा था और मनु ने अपनी स्मृति में इनके व्यवसाय का उल्लेख भी किया है। परन्तु उसने अपनी मिश्रित जातियों की सूची में उनका उल्लेख नहीं किया और न उन्हें जाति की भांति कहीं लिखा है। और इससे यह बात दृढ़ निश्चय के साथ प्रमाणित होती है कि मनु के समय में ये भिन्न भिन्न व्यवसाय केवल व्यवसायही थे। उनकी भिन्न भिन्न और जातियां नहीं बनी थीं। वैश्य लोगों की और ऐसेही शूद्र लोगों की भी अब तक एकही जाति थी यद्यपि वे लोग भिन्न भिन्न व्यवसाय और व्यापार करते थे।

अब हमको उन व्यवसाय की जातियों की सच्ची उत्पत्ति का पता लग गया जोकि मनु के समय में नहीं थीं और जो उसके उपरान्त बनी हैं। और हमको उन उपजातियों की उत्पत्ति भी विदित होगई जोकि मनु के समय के पहिले बन गई थीं और जो मनु को विदित थीं। और अन्त में हमें यह भी विदित होगया कि मनु ने इन उपजातियों की उत्पत्ति लिखने में कैसी भूल की है। मनु की भूल ऐसी थी जिससे वह बच नहीं सकता था। उसने कैवर्तों और चण्डालों की नाईं भिन्न भिन्न जातियां देखी और उसे उन जातियों की उत्पत्ति का इतिहास विदित नहीं था। उसके समय में यह धार्मिक कथा प्रचलित थी कि सब मनुष्य जाति की चार मुख्य जातियों से ही उत्पत्ति हुई है और इसलिये उसे अपने समय की नई जातियों की उत्पत्ति के लिये भी इसी प्राचीन सिद्धान्त का आश्रय लेना पड़ा। यह सब बात समझ में आने योग्य है। जो बात समझ में नहीं आती वह यह है कि इस प्राचीन सिद्धान्त पर आज कल के ऐतिहासिक खोज और तर्कना के समय में भी कुछ हिन्दू लोग कैसे विश्वास

करते है। परन्तु इस स्मृति की पवित्रता ही ऐतिहासिक खोज को दूर भगाती है, ठीक जाँच को रोकती है और गुण और दोष की परीक्षा करनेवालों का मुंह बन्द करती है। यही कारण है कि मिश्रित जातियों का प्राचीन सिद्धान्त बहुत से प्रमाणों और सम्भावनाओं के रहते हुए भी इतनी शताब्दियों तक मान और सत्कार की दृष्टि से देखा गया है। इसकी जाँच तथा झूठ और सच की परीक्षा न किए जाने से यह सिद्धांत सत्यधर्म्मावलम्बी हिन्दुओं के विचार और विश्वास में स्थान पाता रहा है। और फिर भी यह सिद्धान्त जो कि ऐसा सम्यक और समझ में आने योग्य तथा ऐसा पूर्ण है परीक्षा की अंगुली से छुए जाने के साथही साबुन के एक सुन्दर बुलबुले के सदृश लुप्त होजाता है।

——:o.——

अध्याय ९

सामाजिक जीवन ।

मनु ने गृह्य विधानों का जो वृत्तान्त लिखा है वह प्रचीन सूत्रकारों के आधार पर ही है । जातकर्म्म बच्चे के जनमते ही नार काटे जाने के पहिले होना चाहिए । जन्म के दसवें वा बारहवें दिन वा किसी शुभ दिन, शुभ मुहूर्त और शुभ नक्षत्र में नामधेय की रीति की जानी चाहिए और बच्चों का नाम रक्खा जाना चाहिए । चौथे मास में निष्क्रमण की रीति करके बच्चे को घर के बाहर निकालना चाहिए और छठें मास में बच्चे के अन्नप्राशन अर्थात् उसे पहिली बार चावल खिलाने की रीति की जानी चाहिए । उपनयन अर्थात् विद्यारम्भ कराने की रीति ब्राह्मण के लिये आठवें वर्ष, क्षत्रिय के लिये ग्यारहवें वर्ष और वैश्य के लिये बारहवें वर्ष में की जानी चाहिए और तब लड़के को यज्ञोपवीत पहिना कर गुरु को सौंपना चाहिए ।

विद्यार्थी के जीवन के नियम वे ही हैं जो कि धर्मसूत्रों में कहे हैं । विद्यार्थी को एक धोती, एक छड़ी, और एक या दो कपड़े होने चाहिए । उसे अपने गुरु की आज्ञा माननी और उसका सत्कार करना चाहिए । उसे नित्य द्वार द्वार भीख मांग कर जो कुछ मिले उसे गुरु के सामने ला रखना चाहिए और प्रति दिन जब कि वह विद्या सीखता जाय तो उसे अपने गुरु के यहां रह कर उसकी सब प्रकार की नीचे सेवा करनी चाहिए । केशान्त अर्थात् सिर मुड़ाने की रीति ब्राह्मण के लिये १६ वें वर्ष, क्षत्रिय के लिये २२ वें वर्ष और वैश्य के लिये २४ वें वर्ष की जानी चाहिए ।

तीनों वेदों के पढ़ने का समय ३६ वर्ष या १८ वर्ष या ९ वर्ष भी अथवा जब तक विद्यार्थी पूरी तरह से न पढ़ ले, कहा गया है । यहाँ पर (३, १) हमें चौथे वेद का नाम नहीं मिलता और न

अथर्वन् के सीखने के लिये कोई समय नियत किया गया है। विद्यार्थी अपना अध्ययन समाप्त करने पर स्नान करके स्नातक हो जाता था और घर लौट कर विवाह करता था और फिर गृहस्थ हो कर रहता था। विवाह के समय पवित्र अग्नि जलाई जाती थी और गृहस्थ को अपने गृहविधानों और पंच महायज्ञों को बराबर अपने जन्म भर करने की आज्ञा दी जाती थी। ये महा-यज्ञ ये हैं (१) पढ़ाना और पढ़ना जो कि उपमा की भांति परमा-त्मा (ब्रह्मन्) का यज्ञ कहा गया है, (२) पितरों को जल देना, (३) छोटे देवताओं को जली हुई वस्तुएँ चढ़ाना (४) पितरों को बलि चढ़ाना और (५) अतिथियों का सदैव सत्कार करना जो कि मनुष्यों का यज्ञ कहा गया है(३, ६७,और७०) यह अन्तिम धर्म्म बहुत आवश्यक था और हिन्दू ऋषि लोग धार्म्मिक हिन्दुओं के हृदय पर अपने भाइयों के लिये इस महान कर्तव्य के अंकुरित करने में कभी नहीं चूके है।

पितरों को नित्य बलिदान देने के सिवाय प्रति मास पिण्ड-पितृ यज्ञ (३, १२२) किया जाता था और उसमें पिण्ड बनाकर पितरों को चढ़ाया जाता था। नित्य के बलिदान तथा मासिक बलिदान में ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था और सूत्रकारों की नाईं मनु भी मूर्ख ब्राह्मणों को भोजन कराने का बड़ा विरोधी है।

"जैसे किसान ऊसर भूमि में बीज बोकर फसिल नहीं काट सकता वैसे ही याज्ञिक भोजन देने वाला यदि उस भोजन को किसी ऐसे मनुष्य को खिलावे जो कि ऋचाओं को नहीं जानता तो उसे कोई फल नहीं होता।" (३, १४२)

"कोई मूर्ख मनुष्य देवताओं वा पितरो के यज्ञ में जितने ग्रास खाता है उतने ही लाल तप हुए भाले कील और लोहे के गोले भोजन खिलाने वाले को मृत्यु के उपरान्त निगलने पड़ते है।" (३, १३३)

दूसरे स्थान पर बिल्ली बगुले की नाईं कार्य्य करने वाले किसी ब्राह्मण को जल भी न देने के लिये कहा गया है। और मनु ने अपने समय के बिल्ली और बगुलो के ऐसे ब्राह्मणों की निन्दा

जिन शब्दों में की है उनको उद्धृत करना हमारे हिन्दू भाइयों का अपमान करना होगा (४, १६२, १९५, १६६)

यज्ञों के विषय में लिखा है कि ब्राह्मणों को नित्य संध्या और सवेरे अग्निहोत्र करना चाहिए, चन्द्रदर्शन और पूर्णिमा को उसे दर्श और पौर्णमास इष्टि करनी चाहिए तीन ऋतुओं के अन्त में उसे चातुर्मास यज्ञ करना चाहिए, अयन के समय उसे पशुओं का बलिदान करना चाहिए और वर्ष की समाप्ति के समय सोम यज्ञ करना चाहिए। जब नया अन्न काटा जाय तो उसे आग्रयन इष्टि तथा एक पशु का बलिदान करना चाहिए। (४.२५-२७) इन विधानों तथा अन्य विधानों के जो वर्णन प्राचीन सूत्र ग्रन्थों में दिए हैं उनके लिये पाठकों को इस पुस्तक का चौथा भाग देखना चाहिए।

प्राचीन सूत्रों में कहे हुए इन दैनिक, मासिक और सामयिक विधानों को करने के लिये मनु ने जो आज्ञाएँ दी हैं उनसे विदित होता है कि प्राचीन वैदिक रीतियों का व्यवहार अब बहुत कम होता जाता था। ऐसे वाक्यों में जैसे "जो ब्राह्मण पवित्र अग्नि रखता है" (४, २७) से विदित होता है कि ऐसी पवित्र अग्नि का रखना अब विरले कहीं होता था। नास्तिकों के विषय में जो कटुवाक्य लिखे हैं उनसे विदित होता है कि बौद्ध लोगों का प्रभाव प्राचीन धर्म्म और रीतियों पर बहुत अधिक पड़ रहा था। गृहस्थों के लिये वेद का खण्डन करने वाले किसी नास्तिक या तार्किक का सत्कार करना वा उनसे भेट करना भी निषेध किया गया है। (४, ३०) उसे वेद की व्यर्थ निन्दा वा खण्डन से बचने के लिये कहा गया है (४, १६३) और जो स्त्री किसी नास्तिक के सम्प्रदाय को ग्रहण करें उनकी समानता व्यभिचारी स्त्रियों, शराबी स्त्रियों, अपने पति को मारने वाली स्त्रियों तथा भ्रूण हत्या करने वाली स्त्रियों से दी गई है। (५, ९०)

सम्भवतः यह हमको ठीक ठीक कभी विदित नहीं होगा कि वैदिक रीतियों और ऐतिहासिक काव्य काल तथा दार्शनिक काल के धर्म्म का किस किस अंश में और किस किस प्रकार से

आधुनिक हिन्दू धर्म्म के रूप में परिवर्तन होगया । परन्तु यह बात निश्चय है कि जिस समय मनुस्मृति बनाई गई उस समय प्राचीन गृह्ययज्ञ जो कि गृहस्थों के घर में किए जाते थे, और अधिक आडम्बर के श्रौत यज्ञ जिन्हें पुजेरी लोग करते थे उनका प्रचार बहुत कम हुआ जाता था और उनका स्थान मन्दिर के वे पुजेरी ले रहे थे जिनकी समानता कि मनु ने मांस और मदिरा बेचने वालों तथा दुकानदारों और अधिक ब्याज खाने वालों से की है (३, १५२, १८०) इस स्मृति में प्राचीन धर्म्म को नए धर्म्मों के विरुद्ध स्थिर रखने के लिये व्यर्थ उद्योग किया गया है और इतिहास जानने वालों को इस बात के जानने में बहुत कम कठिनाई पड़ेगी कि उस समय की क्या अवस्था हो रही थी।

मनु ने जिन जिन प्रकार के विवाहों को लिखा है वे धर्म्म सूत्रों में कहे हुए ही है। वह ब्राह्म, दैव, आर्श, प्रजापत्य, आसुर, गन्धर्व, राक्षस, और पैशाच विवाहों का उल्लेख करता है। परन्तु वह इनमें से कुछ विवाहों के विरूद्ध है, "पैशाच (लुभाना) और आसुर (बेचना) विवाह कभी नहीं करना चाहिए" (३,२५)। और फिर यह बहुत ज़ोर देकर कहा गया है कि 'जो पिता इस नियम को जानता हो उसे अपनी कन्या के लिये कुछ भी भेंट नहीं लेनी चाहिए क्योंकि जो मनुष्य लालच वश भेंट लेता है वह अपनी सन्तान का बेचने वाला होता है" (३, ५४)। और इस विषय में कोई सन्देह न रखने के लिये यह भी कहा है कि शूद्र को भी विवाह की भेंट नही लेनी चाहिए और ऐसा व्यवहार कभी नहीं सुना गया है (६, ६८, और १००) परन्तु प्राचीन समय में सम्भवतः यह भेंट नीच जातियों में ली जाती थी जैसा कि भारतवर्ष में आज कल भी किया जाता है। और मनु ने एक स्थान पर असावधानी से यह नियम लिखा है कि यदि दुलहे को एक कन्या दिखलाई जाय और दूसरी कन्या दी जाय तो वह एक-ही मूल्य में दोनों से विवाह कर सकता है। (८, २०४)

इसी प्रकार मनु विधवा विवाह का भी बड़ा विरोधी है और यह प्राचीन रीति उत्तर काल के हिन्दूओं को अप्रिय हो रही थी

और यदि कोई पाठक इस स्मृति के उन सब अध्यायों और श्लोकों को ध्यान पूर्वक पढ़े जो कि स्त्रियों की अवस्था के विषय में है तो कुछ बाधा डालनेवाले वाक्यों के रहते हुए भी उस मनु के समय में हिन्दू सभ्यता और चाल व्यवहार की तथा स्त्रियों की उच्च अवस्था निस्सन्देह विदित होगी।

स्त्रियाँ अपने वंश के पुरुषों की आश्रित समझी जाती थीं,—इस बात को मनु ज़ोर देकर कहता है। परन्तु फिर भी स्त्रियों का उनके कुल में सत्कार होता था, उनके सम्बन्धी लोग तथा जिस समाज में वे रहती थीं वे सब उनको सत्कार की दृष्टि से देखते थे अब यह बात केवल मनु के नियमों से ही नहीं वरन् सब संस्कृत-ग्रन्थों के प्रतिबिम्ब से भी विदित होती है।

"उपाध्याय की अपेक्षा आचार्य्य दस गुना पूज्य है, आचार्य की अपेक्षा पिता सौ गुना, परन्तु पिता की अपेक्षा माता हजार गुनी पूज्य है (२, १४५)।

"स्त्रियों के पिता, भाई, पति और देवर का, जो कि उनके हित चाहनेवाले हैं, सत्कार करना चाहिए।

"जहां स्त्रियों का सत्कार होता है वहीं देवता प्रसन्न रहते हैं परन्तु जहां उनका सत्कार नहीं होता वहां पुण्य के कर्म्मों का कोई फल नहीं मिलता।

"जिस वंश में स्त्रियां शोक में रहती हैं उस वंश का शीघ्रही सत्यानाश होजाता है परन्तु जहां स्त्रियां सुखी रहती हैं उस वंश की सदा वृद्धि होती है।" (३, ५५—५७।

इसके सिवाय स्त्रियों के कर्तव्यों का भी वैसाही स्पष्ट वर्णन है।

"स्त्री को बाल्यावस्था में अपने पिता के अधीन रहना चाहिए और युवा अवस्था में अपने पति के अधीन, अपने पति की मृत्यु पर अपने पुत्रों के अधीन। स्त्रियों को कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिए।

"उसे अपने पिता, पति वा पुत्रों से जुदे होने का विचार नहीं करना चाहिए। उनको छोड़ने से वह अपने और अपने पति के वंशों को कलङ्कित करती है।

"उसे सदैव प्रसन्न रहना चाहिए, अपने घर के कार्य्यों में चतुर, अपने वर्तन साफ करने में सावधान और अल्पव्ययी होना चाहिए।

"उसका पिता वा उसके पिता की आज्ञा से उसका भाई जिस मनुष्य के साथ उसका विवाह करदे उसकी आज्ञाओं का पालन उसे यावज्जीवन करना चाहिए और उसकी मृत्यु के पीछे उसकी स्मृति का अपमान नहीं करना चाहिए।

"पति यद्यपि गुणों से रहित हो वा विलास में लिप्त हो अथवा पुण्यात्मा न हो तथापि धार्म्मिक स्त्री को सदा देवता की नाईं उसकी पूजा करनी चाहिए।

"स्त्रियों को अपने पति से अलग कोई यज्ञ संकल्प वा व्रत नहीं करना चाहिए। यदि स्त्री अपने पति की आज्ञाओं का पालन करे तो केवल उससे ही वह स्वर्ग में जायगी।" (५, १४८—१५१, और—१५४, १५५)।

अध्याय १०

राज्यप्रबन्ध ।

मनु राजाओं के नित्यकृत्य और घरेऊ जीवन का बड़ा मनोहर वर्णन देता है।

अपनी प्रजा की रक्षा करना, पक्षपात रहित होकर न्याय करना, अनुचित करनेवाले को दण्ड देना, ये राजाओं के मुख्य कर्तव्य थे और स्वयं समाज का अस्तित्व इन्हीं कर्तव्यों के पालन पर निर्भर था (७, २, १६—३५) मद्य, जुआ, स्त्री, और अहेर, ये राजाओं के सब से बड़े अवगुण थे (७, ५०)।

राजा रात्रि के अन्तिम प्रहर में उठता था और अपने शरीर की शुद्धि तथा अग्नि में हवन करने के उपरान्त वह प्रातःकाल सभाभवन में जाता था। वहां जो प्रजा उससे भेंट करने जाती थी उसे वह प्रसन्न करता था और उसे विदा करके एकान्त में अपने मन्त्रियों से सलाह करता था जहां कि सर्वसाधारण नहीं जाने पाते थे, (७. १४५—१४७) सलाह होजाने के उपरान्त राजा अपना नियमित व्यायाम करता था और स्नान करके भोजन के लिये महल में जाता था। नमकहलाल नौकर लोग भोजन तय्यार करते थे जो कि पवित्र मन्त्रों के द्वारा शुद्ध और विष से रहित किया जाता था और भली भांति जची हुई स्त्रियां पंखे, जल और सुगन्ध से उसकी सेवा करती थीं। भोजन के विषय में जो सावधानी लिखी गई है वही राजा की गाड़ी, बिछौने, आसन, स्नान, शृंगार और आभूषणों के सम्बन्ध में भी कही गई है और उससे विदित होता है कि राजाओं के गृह कार्यों में विष वा छल के द्वारा मृत्यु की दुर्घटना न होने का पूरा प्रबन्ध रहता था। (७, २१६—२२०)

भोजन के उपरान्त राजा महल में अपनी स्त्रियों के साथ कुछ समय व्यतीत करता था परन्तु तीसरे पहर वह फिर राजसी वस्त्र पहन कर निकलता था और अपने योद्धाओं, रथों, पशुओं, शस्त्रों

और युद्ध की सामग्रियों की देख भाल करता था और तब अपनी संध्या समय की पूजा करने के उपरान्त वह अपने जासूसों से बातें करता था और वे जिन गुप्त वातों का पता लगाते थे उन्हें सुनता था। इसके उपरान्त वह अपने महल में जाकर भोजन करता था और फिर गान से अपना जी वहला कर शयनागार में जाता था। (७, २२१—१२५)

राज्यप्रवन्ध में राजा की सहायता के लिये मंत्री होते थे—मनु कहता है कि सात वा आठ मंत्री होते थे-जोकि शास्त्रों के ज्ञाता, शस्त्र विद्या में निपुण, उत्तम और ऊंचे हुए वंश के होते थे। ये मंत्री राजा को शान्ति और युद्ध मे, कर और दान के विषयों में सम्मति देते थे। राजा कर उगाहने के लिये तथा खानो, शिल्पशालाओं और भण्डारों के लिये योग्य पुरुषों को नियत करता था और अपने कार्य्यों के सम्पादन के लिये ऐसे राजदूत को रखता था "जो इशारे और मुँह की आकृति और चेष्टाओं को समझता हो" (७, ५४-६३)

गाँव और नगर की रक्षा करने के लिये जुदे जुदे कर्मचारी नियत किए जाते थे। राजा प्रत्येक गाँव का एक स्वामी, दस गाँव के ऊपर एक स्वामी, २० गाँव पर एक स्वामी, १०० गाँव के ऊपर एक स्वामी, और १००० गाँव के ऊपर एक स्वामी, नियत करता था और उन लोगों का यह कर्तव्य था कि गाँव के निवासियों की रक्षा करें और जुर्म को रोकें। इसी प्रकार प्रत्येक नगर में भी सब कार्यों की देख भाल के लिये एक सरदार होता था जो स्वयं सब कर्मचारियों के कार्य्य की देख भाल करता था और उनकी चाल व्यवहार के विषय मे गुप्त रीति से पता रखता था। "क्योंकि राजा के वे नौकर जो प्रजा की रक्षा के लिये नियत किए जाते है वहुधा दुष्ट हो जाते है और दूसरों की सम्पत्ति छीनते है। उसे चाहिए कि ऐसे मनुष्यों से अपनी प्रजा की रक्षा करे" (७, ११५—१२३) राज्य कर्म्मचारियों के लुटेरेपन के विषय में ये वड़े कटुवाक्य है परन्तु आज कल के प्रवन्ध करने वाले कर्म्मचारियों में से वहुत कम ऐसे होंगे जो कि इस निन्दा को आजकल की प्रजा रक्षकों

अर्थात् उन पुलीस अफसरों के लिये कटु समझेंगे जिनके अधीन एक बड़ा थाना होता है जिसमें पचास हजार वा एक लाख मनुष्य बसते हैं।

राजा की अपनी सम्पत्ति से जो आय होती थी उसकी न्यूनता राज्य कर से पूरी की जाती थी। मनु "पशु और स्वर्ण की वृद्धि पर पचासवां भाग" राज्यकर नियत करता है जो कि प्रायः सैकड़े में दो के हिसाब से हुआ और "अन्न के लिये आठवां, छठाँ, वा बारहवाँ भाग नियत करता है जो कि आज कल की लगान से बहुत कम हुआ। राजा वृक्ष, मांस, मक्खन, मिट्टी और पत्थर के बर्तन इत्यादि पर छठां भाग ले सकता था और मास में एक दिन शिल्पकारों और मजदूरी करने वाले शूद्रों से कार्य्य करवा सकता था। परन्तु उसे किसी अवस्था में भी श्रोत्रियों पर कर नहीं लगाना चाहिए। और अन्त में राजा बहुत अधिक कर न लगाने के लिये सचेत किया गया है। "उसे बहुत अधिक लालच से अपनी जड़ तथा दूसरों की जड़ भी न काटनी चाहिए, क्योंकि अपनी वा दूसरों की जड़ काटने से वह अपने को वा दूसरों को अति दुखी बनाता है।" (७, १३०—१३६)

राज्य प्रबन्ध और कर लगाने के इन तथा अन्य नियमों से विदित होता है कि अब से दो हजार वर्ष पूर्व से लेकर १५०० वर्ष के भीतर भारतवर्ष में शासन की एक प्रणाली प्रचलित थी। और इस देश में चीन और यूनान के जो ग्रन्थकार रहे थे उनकी साक्षी से विदित होता है कि ये सब विचार केवल सिद्धान्तकारों और ग्रन्थकारों के ही नहीं थे वरन उन्हें राजा और उनके कर्मचारी लोग व्यवहार में लाते थे। मेगास्थिनीज़ चन्द्रगुप्त के राज्य की बड़ी प्रशंसा करता है और फाहियान तथा हुएनसांग जिन्होंने भारतवर्ष में कई वर्षों तक रह कर यहां के कई राज्यों को देखा था वे भी हिन्दुओं की राज्यप्रणाली की प्रशंसा करते हैं और उन्होंने कहीं भी प्रजा पर अधिक कर लगाए जाने वा राजाओं के मन माने अत्याचारों से उनके दुःख पाने वा भयानक बुरी तरह उनके सत्यानाश का कहीं उल्लेख नहीं किया है। इसके विरुद्ध उन्होंने जो वर्णन किया है उससे हम उन्हें एक सुखी और भाग्यवान

जाति पाते हैं जो कि अपने राजा की बड़ी भक्त थी, और दयालु, उपकारी तथा सभ्य राज्य प्रणाली के सुखो को भोग रही थी। खेती सब जगह भरी पूरी थी, शिल्प की उन्नति हो रही थी, विद्या को हिन्दू और बौद्ध दोनों ही समान रीति से बड़े परिश्रम के साथ पढ़ते और उसका सत्कार करते थे। धर्म्म की शिक्षा मन्दिरों और मठो में बिना किसी रोक टोक के होती थी और लोग बिना किसी अत्याचार वा हस्तक्षेप के अपना अपना कार्य्य करते थे। परोपकारी राज्य प्रणाली के ये चिन्ह स्मृति के कैसे ही उचित और दयालु नियमों की अपेक्षा अधिक विश्वास दिलाने वाले है।

रक्षा के लिये किलों की बड़ी कदर की जाती थी और मनु कहता है कि "किले में एक धनुष चलानेवाला युद्ध में १०० शत्रुओं का सामना कर सकता है" (७–७४)। वह कहता है कि राजा को अपनी रक्षा के लिये एक किला अवश्य बनाना चाहिए और उसे बियावान वा जल वा वृक्षों, खाई वा शस्त्रधारी योद्धाओं के द्वारा रक्षित रखना चाहिए, परन्तु वह पहाड़ी के किलों को सब से उत्तम समझता है जो कि सब किलों से अधिक दृढ़ होते है। और इन किलो को शस्त्र द्रव्य अन्न तथा बोझ ढोनेवाले पशुओं और ब्राह्मणों, शिल्पकारों, यन्त्रों और सूखी घास और जल से भली भांति भरा रखना चाहिए (७,७०,७१,७५) ऐसे पहाड़ी किलों की कदर भारतवर्ष के आधुनिक युद्धो में बारम्बार प्रमाणित हुई है और खाने पीने की सामिग्री तथा स्वाभाविक रक्षाओं और वीर योधाओं से सज्जित एक एक किले से आक्रमण करनेवाले शत्रु की समस्त सेना का बहुधा नाश होगया है।

हिन्दुओं में युद्ध के नियम सदा से सत्कार योग्य तथा दयालु होते आए है। रथ, घोड़े, हाथी, अन्न, पशु और स्त्रियां जो युद्ध में जीते जांय वे जीतनेवाले के होते है, परन्तु उसके लिये भागते हुए शत्रु वा ऐसे शत्रु को मारने का कड़ी निषेध है जो कि हाथ जोड़कर बैठ जाय और कहे कि "मै तुम्हारे अधीन हूं।" इसी प्रकार शस्त्रहीन मनुष्य, घायल मनुष्य वा केवल तमाशा देखनेवाले मनुष्यों को जो युद्ध में सम्मिलित न हों, कोई दुःख नहीं देना चाहिए (७–९१, ९२, ९३, ९९,) इन नियमों का प्राचीन समय से लेकर

आधुनिक राजपूतों के युद्धों तक सावधानी से पालन किया गया है और विदेशियों ने गाँव के निवासियों को अपने नित्य का काम शान्ति से करते हुए और किसानों को अपना खेत बिना किसी आशङ्का के जोतते हुए ऐसे समय में देखा है जब कि उनके सामने ही दो फौजें राज्य के लिये लड़ रही हों।

राजाओं की नीति और युद्ध का प्रबन्ध करने के लिये अनेक नियम दिए गए हैं जिनमें से कुछ मनोरञ्जक हैं। अपने सबसे निकट के राजा को अपना शत्रु समझना चाहिए और उसके उपरान्त के देश के राजा को मित्र समझना चाहिए, और इस नियम का उदाहरण आज कल यूरप—फ्रान्स, जर्मनी—और एशिया की राज नीति में भी पाया जाता है (७,१५८) आज कल की नाईं उस समय भी डील के लम्बे मनुष्य भारतवर्ष में सबसे उत्तम सैनिक समझे जाते थे और राजाओं के लिये मत्स्य, पाञ्चाल, कुरुक्षेत्र और सूरसेन देश के लोगों को अपनी सेना में रखने की और युद्ध में उन्हें आगे की ओर रखने की सम्मति दी गई है (७,१९३)। सेना को प्रस्थान करने के लिये जाड़े के आरम्भ अथवा समाप्ति का समय उपयुक्त कहा गया है परन्तु युद्ध की आवश्यकता के अनुसार किसी समय भी सेना प्रस्थान कर सकती थी (७,१८२, १८३)। कहीं कहीं पर हमलोगों को उन नियमों की अद्भुत झलक मिलती है जिनके अनुसार प्रस्थान वा युद्ध में सेना सुसज्जित की जाती थी। प्रस्थान में सेना छड़ी की नाईं (आयत के आकार में) वा गाड़ी (वेज=त्रिकोणाकार) की नाईं वा सूअर (विषम समचतुर्भुज) की नाईं वा मकर (दो त्रिभुज जिनकी शिखा मिली हों) की नाईं वा सूई (लम्बी पंक्ति) की नाईं, वा गरुड़ (विषम समचतुर्भुज जिसकी शाखाएं फैली हुई हों) की नाईं रखी जाती थी। युद्ध में कुछ सैनिक निकट निकट रक्खे जा सकते थे, वा सैनिकों के बीच अधिक स्थान छोड़कर सेना फैलाई जा सकती थी वा कुछ लोग सूई की नाईं एक पंक्ति में होकर लड़ सकते थे अथवा बहुत से लोग वज्र के आकार में सज्जित किए जा सकते थे (७, १८७ और १९१)। जब कोई शत्रु किसी नगर या किले में हो तो आक्रमण करने वालों को उस के बाहर घेरा डाल कर शत्रु की घास अन्न लकड़ी और जल नाश

कर देना चाहिए, उसके तालाव, किले की दीवाल और खाई को नष्ट करना चाहिए, रात्रि के समय उसको बिना जनाए हुए आक्रमण करना चाहिए वा उसकी प्रजा और उसके लोगों को बहका कर बलवा कराना चाहिए (७, १९५—१९७)।

और जब कोई राजा अपने शत्रु को जीते तो उसे पराजित राजा के किसी सम्बन्धी को पराजित प्रजा की सम्मति के अनुसार गद्दी पर बैठाना चाहिए और उनके देश की रीतियों और नियमों को मानना चाहिए (७, २०२, २०३)। ये न्याययुक्त और दयालु नियम हैं जो कि हिन्दू विजयी राजाओं के योग्य है।

—— o ——

अध्याय ११।

कानून।

मनुस्मृति में बारह अध्याय है जिनमें २६८५ श्लोक है। इसके दो सबसे बड़े भागों में (८ वें और ९ वें भाग में) ७५६ श्लोक है और वे दीवानी और फ़ौजदारी के कानून से सम्बन्ध रखते है। इनमें से बहुत से कानून प्राचीन सूत्रकारों के ही कानूनों के पुनःरुल्लेख वा परिवर्तित रूप हैं।

प्राचीन भारतवर्ष में राजा न्याय का मूल था और मनु कहता है कि राजा को विद्वान ब्राह्मणों और अनुभवी मंत्रियों को साथ लेकर न्यायालय में जाना चाहिए और वहां न्याय का कार्य्य करना चाहिए। यदि राजा स्वयं इस कार्य्य को न करे तो उसे तीन परमेश्वर की सहायता से इस कार्य्य को करने के लिये विद्वान ब्राह्मणों को नियत करना चाहिए। "जहां राजा के नियत किए हुए वेदों के जानने वाले तीन ब्राह्मण और एक विद्वान न्याय कर्ता बैठते है वह ब्रह्मा की सभा कही जाती है।" (८-१, २, ९, १०, ११,) सत्य बोलने के लिये जो आज्ञा दी गई है वह ऐसी गम्भीर और कड़ी है जैसी कि किसी विरले ही समय वा देश में रही होगी।

"या तो न्यायालय में जाना ही नहीं चाहिए अथवा जाय तो सत्य बोलना चाहिए। जो मनुष्य या तो कुछ नहीं कहता (अर्थात् सत्य को छिपाता है) अथवा झूठ बोलता है वह पापी होता है।" (८-१३)

"न्यायालय में वादी और प्रतिवादी के सामने गवाहों के एकत्रित होने पर न्यायकर्ता को उन्हें मेहरबानी के साथ इस प्रकार समझाकर उनकी परीक्षा करनी चाहिए—

हमारे सामने खड़े हुए दोनों मनुष्यों में इस विषय में परस्पर जो बातें हुई हों उनका जो वृत्तान्त तुम्हें विदित हो वह सब सत्य सत्य कहो क्योंकि इस अभियोग में तुम साक्षी हो।

"जो गवाह अपनी गवाही में सत्य बोलता है वह मृत्यु के पीछे सब से उत्तम स्वर्ग और इस लोक में अद्वितीय यश पाता है। ऐसी साक्षी का स्वयं ब्रह्म सत्कार करता है।

"जो मनुष्य झूठी साक्षी देता है वह वरुण के बन्धन में बंधता है और १०० जन्मों तक दुःख पाता है। अतएव मनुष्यों को सत्य साक्षी देनी चाहिए।

"सत्यता से, साक्षी देनेवाला पवित्र होता है, सत्यता से उसके यश की वृद्धि होती है अतः सब जाति के साक्षी देनेवालों को सत्य बोलना चाहिए।

"जीव की साक्षी स्वयं जीव है, जीव की शरण स्वयं जीव है। अपने जीव का, जो मनुष्यों का परम साक्षी है निरादर मत करो।

"पापी अपने मन में समझता है कि हमें कोई नहीं देखता। परन्तु देवता लोग उसको और उनके हृदय के भीतर के भाव को स्पष्ट देखते है।

"आकाश, पृथ्वी, जल, हृदय, चन्द्रमा, सूर्य्य, अग्नि, यम, वायु, रात्रि, और दोनों गोधूली और न्याय सब देहधारी प्राणियों के कर्मों को जानते है।" (८, ७६–८६)

इसके आगे जो आदेश किए गए है वे और भी गंभीर है—

"जो मनुष्य झूठी गवाही देगा वह नंगा होकर भूख और प्यास से व्यथित और अन्धा होकर अपने शत्रु के द्वार द्वार ठिकरा लेकर भीख मांगेगा।

"जो पापी मनुष्य न्यायकर्ता के एक प्रश्न का भी झूठ उत्तर देता है वह सीधे नर्क के पूर्ण अन्धकार में ठोकर खाता है।" (८, ६३, ६४)।

और आठवें भाग के १२३ वें श्लोक में यह कहा है कि जो मनुष्य झूठी साक्षी दे उसे राजा को अपने देश से निकाल देना चाहिए।

जो लोग साक्षी देने के योग्य नहीं थे और जो साक्षी देने से वरी किए गए थे उनकी एक बड़ी सूची दी गई है। ऐसे मनुष्य जो अभियोग से सम्बन्ध रखते हों, जो वादी वा प्रतिवादी के मित्र वा शत्रु हो, जो पहिले झूठी साक्षी देने के दोषी हो चुके हो और जो किसी पाप से कलङ्कित हों, वे लोग साक्षी देने के

अयोग्य समझे जाते थे । और राजा, श्रोत्रिय, वेद पढ़ने वाले विद्यार्थी तथा शिल्पकार और भांडलोग साक्षी देने से बरी थे। परन्तु यह स्पष्ट है कि ये नियम कठोरता से पालन किए जाने के लिये नहीं थे और आगे चल कर लिखा है कि उपद्रव, चोरी, व्यभिचार, बदनामी करने, और मारपीट की अवस्थाओं में अर्थात् फौजदारी के अभियोगों में साक्षी की अयोग्यता के नियम का कठोरता से पालन नहीं करना चाहिए। (८,६४, ६५, ७२)

मनु समस्त मुख्य कानूनों को १८ भाग. में बांटता है अर्थात् (१) ऋण (२) धरोहर (३) किसी सम्पत्ति के स्वामी हुए विना उसे बेचना (४) सांझा (५) दान का फेर लेना (६) वेतन न देना (७) प्रतिज्ञा का पालन न करना (८) बिक्री और खरीद की हुई वस्तु का लौटाना (९) स्वामी और सेवकों के झगड़े (१०) सीमा के सम्बन्ध के झगड़े (११) मार पीट (१२ बदनामी करना (१३) चोरी (१४) डांका और उपद्रव (१५ व्यभिचार (१६) पति और पत्नी के कर्तव्य (१७) उत्तराधिकार पाना (१८) जुआ खेलना और बाज़ी लगाना। यह विदित होगा कि ११ से लेकर १५ संख्या तक तथा १८ संख्या के कानून फौजदारी से सम्बन्ध रखते हैं और शेष सब दीवानी से। मनु ने इन विषयों को जिस क्रम में रक्खा है उसी क्रम से हम भी उनका वर्णन करेंगे और प्रत्येक विषय में हमारा कथन अवश्य ही बहुत संक्षिप्त होगा।

(१) ऋण-इस विषय में मनु अपने समय के प्रचलित तौलों की एक सूची देता है। यह सूची सब से छोटे तौल अर्थात् त्रसरेणु से आरम्भ होती है। त्रसरेणु उस ज़र्रे को कहते हैं जो कि किसी खिड़की के द्वारा आनेवाली धूप में दिखलाई देता है।

८	त्रसरेणु	=	१	लिक्षा (जूंआ के अंडे)
३	लिक्षा	=	१	राई
३	राई	=	१	सरसों
६	सरसों	=	१	यव
३	यव	=	१	कृष्णल या रत्तिका
५	रत्तिका	=	१	माशा

१६ माश	= १	सुवर्ण
४ सुवर्ण	= १	पल
१० पल	= १	धरन
२ क्रिश्मल (चांदी-का)	= १	माशक (चांदी का)
१६ माशक	= १	धरन (चांदी की)
१ कर्ष तांबे का	= १	कार्षापण वा पण

१० धरन (चांदी)	= १	शतमान

४ सुवर्ण	= १	निष्क

(८, १३१-१३७)

ऋण पर व्याज के विषय में मनु ने वसिष्ठ के धर्मसूत्र को उद्धृत किया है। वह कहता है कि "ऋण देने वाला अपनी पूंजी की वृद्धि के लिये वसिष्ठ के कहे अनुसार व्याज ले कर सकता है और प्रति मास एक सौ का ८० वां भाग ले सकता है। यह पन्द्रह रुपए सैकड़ा वार्षिक व्याज हुआ और यह व्याज जमानत पर लिया जाता था, परन्तु बिना जमानत के ऋण पर व्याज ऋण लेने वाला यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्र हो तो उसी के अनुसार २४) रु०, ३६) रु०, ४८) रु०, वा ६०) रु०. सैकड़ा होता था (८, १४०-१४२)। परन्तु यह कहना अनावश्यक है कि व्याज का यह क्रम केवल नाम मात्र को था और ऋण देने वाला ऋण लेने वाले की जाति की अपेक्षा उसकी रुपया चुकाने की योग्यता पर अधिक ध्यान देता था

ऐसा जान पडता है कि ऋण लेने वाला अन्य सम्पति की नांई दासियों को भी गिरों रख सकता था (८, १४६) यदि गिरों रखने की वस्तु ऐसी हो जिससे कुछ आय होती हो (यथा भूमि) तो व्याज नही लिया जाता था (८, १४३)। साठ रुपए सैकड़ा वार्षिक व्याज अधिक से अधिक था (८, १५२), परन्तु जिस अवस्था में व्यापारी लोग समुद्र यात्रा करते थे उनमें, सम्भवतः जोखिम के बीमे के लिये, विशेष व्याज लिया जा सकता था (८, १५७)। और अन्त में यह भी कहा है कि जो प्रतिज्ञाएं नशे की अवस्था में अथवा नियम और रीति के विरुद्ध, वा छल अथवा

जबरदस्ती की जाती थीं वे नाजायज़ समझी जाती थीं (८, १६३-१६८)

(२) धरोहर—जिस मनुष्य के यहां खुली हुई अथवा बन्द मोहर की हुई धरोहर रक्खी जाती थी वह कानूनन उसे लौटा देने के लिये बाध्य था यदि वह धरोहर चोरी न गई हो, पानी में बह न गई हो या आग में जल न गई हो। यह जान पड़ेगा कि बेइमानी करके बिना धरोहर रक्खी हुई वस्तु को मांगना और धरोहर को लौटाने के समय नकार जाना किसी भांति अविदित नहीं था, और इन दोनों अवस्थाओं में दोषी को चोर की भांति दण्ड दिया जाता था। (८, १६१)

(३) बिना अधिकार के सम्पत्ति को बेचना—ऐसी बिक्री नाजायज समझी जाती थी और बेचने वाला यदि सम्पत्ति के स्वामी का कोई सम्बन्धी हो तो उसे ६०० पण का दण्ड लगाया जाता था और यदि सम्बन्धी न हो तो उसे चोर की भांति दण्ड दिया जाता था। (१८६, १९९)

(४) साझा—जान पड़ता है कि जो पुरोहित मिलकर किसी धार्मिक कृत्य को करवाते थे उनमें दान का बटवारा करने में बहुधा झगड़े उठते थे। मनु कहता है कि अध्वर्यु को रथ, ब्राह्मण को घोड़ा, होत्रि को भी घोड़ा और उद्गातृ को गाड़ी लेनी चाहिए। और यह स्मृतिकार कहता है कि इस सिद्धान्त के अनुसार साथ मिलकर कार्य करने वालों में बटवारा होना चाहिए। इस सिद्धान्त का अभिप्राय, जो कि कुछ अस्पष्ट है, यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने कार्य के अनुसार हिस्सा पाना चाहिए।

(५) दान का फेर लेना—यदि किसी पुण्य के कार्य के लिये कुछ दान दिया जाय और यदि जिस कार्य के लिये द्रव्य दिया गया हो उस कार्य में वह न लगाया जाय तो दान फेर लिया जा सकता था। (८, २१२)

(६) वेतन न देना—इसके लिये कानून बहुत साधारण था अर्थात् मजदूर जब तक प्रतिज्ञा के अनुसार अपना कार्य पूर्ण न करे तब तक उसे वेतन नहीं दिया जाता था। (८, २१७)

(७) प्रतिज्ञा का पालन न करना—प्रतिज्ञा करने के उपरान्त

उसे भङ्ग करने के लिये बड़ा कड़ा दण्ड दिया जाता था, ऐसा अपराधी देश से निकाल दिया जाता था, कैद कर लिया जाता था, और उसपर चार चार सुवर्ण के छ निष्क और चांदी का एक शतमान दण्ड लगाया जाता था। (८, २१९, २२०)

(८) बिक्री और खरीद की हुई वस्तु को लौटाना—यह एक बड़ा अद्भुत नियम है कि खरीदने वाला वा बेचने वाला दस दिन के भीतर यदि चाहे तो बेची हुई वस्तु को लौटा सकता था। भाष्यकारों ने कहा है कि नियम केवल उन वस्तुओं के लिये था जो कि सहज में नष्ट नहीं हो सकती, यथा भूमि, तांबा इत्यादि (८, २२२)

(९) पशुओं के स्वामियों और उनके दासों में झगड़े—पशुओं के स्वामी और उनके दासों में सम्भवतः बहुधा झगड़े उठते थे और इस विषय के नियम कुछ सूक्ष्मता के साथ वर्णन किए गए हैं। दिन के समय पशु की रक्षा का उत्तर दाता चरवाहा होता था और रात्रि के समय उसका स्वामी अर्थात् यदि रात्रि के समय वह स्वामी के घर मे रहे। और यदि चरवाहे को किसी प्रकार की मज़दूरी न मिले तो वह दस में से एक गाय का दूध ले सकता था। जो पशु उसकी असावधानी से खोजांय उनके लिये वह उत्तरदाता होता था। यथा यदि कोई भेड़िया बकरी और बकरों पर आक्रमण करे और चरवाहा उनकी रक्षा का यत्न न करे तो इस हानि के लिये वह उत्तरदाता होता था। प्रत्येक गाँव और प्रत्येक नगर के चारों ओर चरागाह रखने का नियम था जिसका कि दुर्भाग्य वश आजकल लोप होगया है। गांव के चारों ओर १०० धनु चौड़ी भूमि चरागाह के लिये छोड़ी जाती थी और नगर के चारों ओर इस कार्य्य के लिये इसकी तिगुनी भूमि होती थी। यदि कोई पशु इस चरागाह में किसी बिना घिरे हुए खेतो के अन्न की हानि करे तो चरवाहा उसके लिये उत्तरदाता नहीं होता था। परन्तु इस चरागाह के बाहर के खेत घिरे हुए नहीं रहते थे और यदि पशु वहां तक चलाजाय और खेती को हानि पहुंचावे तो प्रत्येक पशु पीछे सवा पण का दण्ड लगाया जाता था और उसके सिवाय जितनी हानि हो उसे भी देना पड़ता था। (८, २३०-२४१)

(१०) सीमा सम्बन्धी झगड़े—इस विषय के कानून से हमें उस समय के ग्रामों और खेती की अवस्था का एक अद्भुत वृत्तान्त प्रगट होता है। भारतवर्ष में वर्ष भर में ज्येष्ठ (मई जून) का महीना सबसे सूखा है और यह कहा गया है कि दो गावों के बीच की सीमाओं के सब झगड़ों का निर्णय इसी मास में होना चाहिए। ये सीमाएं प्रायः अश्वत्थ, किंशुक वा कोई दूसरे वृक्षों के द्वारा अथवा तालाब, कूएं, कुञ्ज और सोतों द्वारा प्रगट की जाती थीं। सीमा का निर्णय करने के लिये छिपे हुए चिन्ह छोड़ दिए जाते थे और जहां दो सीमाएं मिलती थीं वहां पत्थर, हड्डियां कंकड़ इत्यादि गाड़ दिए जाते थे।

जहां इन चिन्हों के द्वारा सीमा का निर्णय नहीं किया जासकता था वहां गांव के निवासियों की साक्षी ली जाती थी, और उन लोगों से भी निर्णय न होने पर शिकारियों, बहेलियों चरवाहों, मछुवाहों, सपेरों बनरखों, और बीनने वालों की साक्षी ली जाती थी। यदि इनमें से किसी प्रकार से सीमा का निर्णय न हो सके तो उस अवस्था में राजा के लिये कहा गया है कि अपने में से उदारता के साथ झगड़ा करने वाले गावों में से किसी को भी जो हानि सम्भव जान पड़ती हो उसे पूरा करदे। (८ २४५–२६५)

(११) और (१२) मार पीट और बदनामी करना—अब हम फौजदारी के कानून के विषय पर आए और इसमें हमें फिर उस हानिकारक प्रणाली का प्रभाव मिलता है जिसने कि हिन्दू सभ्यता और जीवन की प्रत्येक बातों में अपना प्रभाव डाला है। ब्राह्मण यदि किसी क्षत्रिय की बदनामी करे तो उसे ५० पण का दण्ड लगता था, वैश्य की बदनामी करने के लिये २५ पण और शूद्र की बदनामी करने के लिये केवल १२ पण। परन्तु यदि शूद्र किसी ब्राह्मण की बदनामी करे तो उसकी जीभ कटा देनी चाहिए। और यदि वह किसी द्विजाति के नाम और जाति की निन्दा करे तो उसके मुंह में दस अंगुल लम्बा लोहे का कील गरम करके डालना चाहिए (८, २६८–२७१)। यह नहीं समझना चाहिए कि वास्तव में दण्ड इस तरह पर दिया जाता था या कोई ब्राह्मण न्यायकर्त्ता भी किसी शूद्र को, क्रोध में किसी ब्राह्मण को [illegible]

कारण इतना भारी दण्ड देकर अपने को कलंकित करता था। ब्राह्मण लोग वास्तव में जैसे थे उसकी अपेक्षा उन्होंने अपने को बुरा दिखलाया है और कानून जो कि विचारे शूद्र के लिये निस्सन्देह कठोर था वह एक दम ऐसा जंगली नहीं था जैसा कि वह कहा गया है। "जिस इन्द्री से नीच जाति का कोई मनुष्य उच्च जाति के किसी मनुष्य की हानि करे उस इन्द्री को काट डालना चाहिए"-यह मनु की शिक्षा है (८, २७९)। परन्तु मनु का सत्कार करते हुए भी हम लोग इस बात में सन्देह कर सकते है कि उस के देश वासियों ने इस शिक्षा के अनुसार कार्य्य करके अपने को कभी कलंकित किया हो ?

बदनामी करने के लिये साधारण दण्ड १२ पण था (८, २६९) और इस प्रकार चोट पहुँचाने के लिये कि जिसमे देह का चमड़ा कट जाय १०० पण। यदि माँस कट जाय तो उसके लिये ६ निष्क का दण्ड लगाया जाता था और यदि हड्डी टूट जाय तो अपराधी देश के वाहर निकाल दिया जाता था। (८, २८४)

हानि करने के लिये जितने की हानि हो उसी के बराबर दण्ड लगाया जाता था परन्तु यदि हानि थोड़े की हुई हो तो उसका पचगुना दण्ड लगाया जाता था। (८, २८८-२८९)

(१३ और १४) चोरी और डांका-चोरों को दण्ड देने के लिये वहुत ही अधिक उपाय किए जाते थे क्यों कि यदि राजा "चोरों को दण्ड दे तो उसके यश और राज्य की वृद्धि होती थी" (८, ३०२) और जो राजा संपत्ति की रक्षा नहीं करता और फिर भी अपना कर लगान और दण्ड लेता है वह शीघ्र नर्क में जायगा। (८, ३०७)

चोरों को भिन्न भिन्न दण्ड लगाए जाते थे अथवा उनको शारीरिक दण्ड दिया जाता था वा उनका हाथ काट लिया जाता था जब चोरी स्वामी के सामने (अर्थात् वलात) की जाती थी तो वह डांका कहलाता था। (८, ३१९-३३२) वलात् चोरी करना एक वड़ा भारी अपराध समझा जाता था परन्तु जब कोई मनुष्य डकैतों से आक्रमण किया जाय तो उस अथवा ऐसी अन्य अवस्थाओं में उसे अपनी

रक्षा करने का अधिकार था। (८, ३४५—३५०)

(१५) व्यभिचार—यह अपराध भारतवर्ष में सदा से बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा गया है और व्यभिचार करने वाले को यदि वह ब्राह्मण न हो तो प्राण दण्ड दिया जाता था "क्योंकि चारों जातियों की स्त्रियों की सदा बड़ी सावधानी से रक्षा करनी चाहिए। (८, ३५९) किसी अविवाहिता स्त्री का बिना इच्छा के सतीत्व नष्ट करने के लिये शारीरिक दण्ड दिया जाता था अथवा दो अंगुलियां काट ली जाती थीं और ६०० पण का आर्थिक दण्ड लगाया जाता था (८, ३६४, ३६७) परन्तु इससे भी अधिक भयानक दण्ड लिखे हैं। जो स्त्री किसी दूसरे को बिगाड़े उसे कोड़े लगाए जाते थे और आर्थिक दण्ड लगाए जाते थे। व्यभिचारिणी स्त्री कुत्तों से नुचवाई जाती थी और व्यभिचारी मनुष्य अग्नि में जला दिया जाता था (८, ३६९, ३७१, ३७२) परन्तु इसमें सन्देह है कि ये कानून कभी काम में लाए जाते हों।

आगे चल कर इससे कम कठोर दण्ड रक्खे गए हैं। जो शूद्र किसी द्विज जाति की स्त्री से व्यभिचार करे उसकी इन्द्री काट ली जाती थी। जो वैश्य अथवा क्षत्री किसी ब्राह्मणी से यह अपराध करे तो वह कारागार में भेजा जाता था अथवा उसे भारी आर्थिक दण्ड दिया जाता था। कोई ब्राह्मण यदि अपनी जाति की स्त्री से ऐसा व्यवहार करे तो उसे भारी आर्थिक दण्ड लगाया जाता था (८, ३७४-३७८) ब्राह्मण को "चाहे वह कैसा ही अपराध क्यों न करे" कभी प्राण दण्ड नहीं दिया जाता था। "ब्राह्मण के वध करने से बढ़ कर इस पृथ्वी पर दूसरा पाप नहीं है" (८ ३८०, ३८१)

फौजदारी के कानूनों के अध्याय के अन्त में मनु ने कुछ फुटकर नियम दिए हैं। जो यज्ञ करने वाला अपने पुरोहित को छोड़ दे, या जो पुरोहित अपने यज्ञ करने वालों को छोड़ दे, जो पुत्र अपने माता पिता को छोड़ दे, जो ब्राह्मण अपने पड़ोसियों को निमंत्रण न दे और जो श्रोत्रिय दूसरे श्रोत्रियों को निमंत्रण न दे वे सब आर्थिक दण्ड देने योग्य होते थे। [illegible] धुनने वालों के भी नियम बने हैं। [illegible] आदि [illegible]

वस्तुओं पर उनके मूल्य के अनुसार पाँच रुपए सैंकड़े का कर लगा सकता था। वह कुछ वस्तुओं की विक्री का अधिकार केवल अपने ही हाथों में रख सकता था और जो लोग उन वस्तुओं को वेचे उनको दण्ड दे सकता था। वह नगर में आने वाली वस्तुओं और नगर से वाहर जाने वाली वस्तुओं पर कर और चुंगी लगा सकता था और यह भी कहा जा सकता है कि वह सब विक्री की वस्तुओं का मूल्य स्थिर कर सकता था परन्तु इसे कभी किसी राजा ने नहीं किया है। राजा सब बटखरों और नापों को निश्चित करता था, घाट का कर निश्चित करता था, वैश्यों को व्यापार करने, रूपया उधार देने और भूमि जोतने बोने की आज्ञा देता था और शूद्रों को द्विजों की सेवा करने की आज्ञा देता था।

गुलाम सात प्रकार के कहे गए है अर्थात् युद्ध के कैदी, नित्य भोजन पर कार्य्य करने वाले, गुलाम की सन्तान, खरीदे हुए वा दूसरों के दिए हुए गुलाम और वे मनुष्य जो दण्ड पाने के बदले गुलाम वनाए गए हों। (८, ३८८-४१५)

(१६) पति और पत्नी—मनु इस विषय को स्त्रियों के मनुष्यों के अधीन होने के वर्णन से आरम्भ करता है और उसने स्त्रियों के विषय में कुछ कहावतें भी दी है जो कि कदाचित् उसके समय में समझी जाती हों परन्तु वे मनु के लिये अयोग्य हैं क्योंकि हम पहिले देख चुके हैं कि सब वातों पर विचार कर मनु ने स्त्रियों को एक उच्च और सत्कार योग्य स्थान दिया है।

हम देख चुके है कि मनु ने विधवा से सन्तान उत्पन्न करने की प्राचीन रीति के सम्बन्ध में किस भांति अपने ही वाक्यों का खण्डन किया है और इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि सन् ईस्वी के उपरान्त सर्व साधारण लोग इसी रीति के कैसे विरुद्ध थे। हम यह भी देख चुके है कि विधवा विवाह किस प्रकार घृणित होता जाता था, यद्यपि वह निस्सन्देह मनु के समय में भी प्रचलित था और वालविधवा के विवाह के लिये स्पष्ट आज्ञा दी गई है। (६, ६९) फिर मनु इस प्राचीन नियम को लिखता है कि स्त्री को अपने पति के लिये, यदि वह धर्म्म कार्य्य के लिये गया हो तो आठ वर्ष तक ठहरना चाहिए और यदि वह विद्या वा यश के उपार्जन को

लिये गया हो तो उसे छः वर्ष तक और यदि सुख के लिये गया हो तो तीन वर्ष तक ठहरना चाहिए। एक भाष्यकार लिखता है कि इस समय के उपरान्त उसे दूसरा विवाह कर लेना चाहिए और यही इस प्राचीन नियम का अभिप्राय भी जान पड़ता है।

स्त्री को मदिरा पीने वाले पति के साथ घृणा नहीं करनी चाहिए परन्तु पागल वा जाति से निकाले हुए पति अथवा किसी ऐसे पति से जो रोग से पीड़ित हो, जो पापों के दण्ड के कारण होते हैं वह घृणा प्रगट कर सकती है। मदिरा पीने वाली स्त्री, राजद्रोही वा रोगी स्त्री, ऐसी स्त्री जिसे कि सन्तान न होती हो अथवा केवल कन्या हो, उसका पति दूसरा विवाह कर सकता था (९, ७८,–८१)। परन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं है कि वह उस स्त्री को बिलकुल त्याग दे वरन् उसे स्त्री को उसी ही घर में रखना चाहिए और उसका पालन करना चाहिए (९ ८३)

"परस्पर प्रीति तथा विश्वास मृत्यु तक होना चाहिए" यह पति और स्त्री के लिये सबसे बढ़ कर नियम है।

(१७) पैत्राधिकार–इस आवश्यक विषय का वर्णन १०० से अधिक सूत्रों में दिया है (९, १०४–२२०) परन्तु हमारे लिये यह आवश्यक नहीं है कि हम इस विषय के कानून का ब्योरे वार वर्णन करें। पिता और माता की मृत्यु के उपरान्त भाई लोग संपत्ति को आपने में बराबर बराबर बांट सकते थे (९, १०४) अथवा सबसे बड़े भाई के अधीन रह कर वे सब मिल कर रह सकते थे और इस अवस्था में बड़ा भाई ही सारी सम्पत्ति का प्रबन्ध करता था (९, १०५)। परन्तु भाइयों का जुदा होना निन्दनीय नहीं समझा जाता था वरन इसके विरुद्ध यह प्रशंसनीय कहा गया है (९, १११)। सबसे बड़े और सबसे छोटे पुत्रों को सम्पत्ति के बटवारे में कुछ अधिक भाग मिलता था (९, ११२–११७)। कुमारी बहिनों के लिये प्रत्येक भाई को अपने हिस्से का चौथाई देना चाहिए (९, ११८) परन्तु भाष्यकारों ने इसका अर्थ यह कहा है कि भाइयों को अपनी कुमारी बहिनों के दहेज का प्रबन्ध करना चाहिए। सन्तान के सम्बन्ध में ९, १५८ इत्यादि श्लोकों में उसने पुत्र के लिये

हिस्सा लिखा है जो कि बड़े भाई की स्त्री वा विधवा से छोटे भाई के द्वारा उत्पन्न हो परन्तु अन्यत्र मनु ने इस व्यवहार की निन्दा की है। फिर जिस मनुष्य को पुत्र न हो वह अपनी कन्या का उसके पति से यह कह कर नियुक्त कर सकता है, कि उसकी जो पुरुष सन्तान उत्पन्न होगी वह मेरी अन्त्येष्टि क्रिया करेगी। और जब ऐसा किया जाता था तो पौत्र और नियुक्त कन्या के पुत्र में कोई भेद नहीं समझा जाता था (६, १२७, १३३)। ६, १४१ और २४२ मे पुत्र गोद लेने का अधिकार दिया है।

सदा की नाईं मनु १२ प्रकार के पुत्रों के विषय में भी प्राचीन सूत्रकारों के नियमों को लिखता है, यद्यपि अपने समय में अपनी सम्मति के अनुसार मनु इनमें से अन्तिम ११ पुत्रों को "सच्चे पुत्र" के पलटे मे बुरा प्रतिनिधि कहता है (६, १६१)। १२ प्रकार के पुत्र ये है—औरस अर्थात् विवाहिता स्त्री का पुत्र, क्षेत्रज अर्थात् किसी रोगी मनुष्य की स्त्री अथवा किसी विधवा से उत्पन्न किया हुआ पुत्र, दात्रिम अर्थात् गोद लिया हुआ पुत्र, कृत्रिम अर्थात् बनाया हुआ पुत्र, गूढ़ोत्पन्न अर्थात् गुप्त रीति से उत्पन्न हुआ पुत्र जिस के पिता का पता न होने के कारण उसे उसकी माता के पति का पुत्र समझना चाहिए, अपविद्ध अर्थात् जिस पुत्र को उस के माता पिता ने त्याग दिया हो और दूसरा मनुष्य उसे पुत्र की भांति रक्खे, कानीन अर्थात् अविवाहिता स्त्री का पुत्र जो कि उस पुरुष का पुत्र समझा जाना चाहिए जो उस स्त्री के साथ पीछे विवाह करे, सहोध अर्थात् उस स्त्री का पुत्र जिस का विवाह गर्भवती होने की अवस्था में किया जाय, क्रीतक अर्थात् मोल लिया हुआ पुत्र, पौनर्भव अर्थात् विधवा के दूसरे विवाह का पुत्र. स्वयं दत्त अर्थात् वह बालक जिसके माता पिता न हों और वह अपने को किसी दूसरे के पुत्र की भांति दे दे, और पारसेव अर्थात् ब्राह्मण का किसी शूद्र स्त्री के साथ ऊत्पन्न हुआ पुत्र (६, १६७–१७८)।

इन बारहों प्रकार के पुत्रों में से प्रथम छ. प्रकार के पुत्र सम्बन्धी और उत्तराधिकारी समझे जाते हैं, और अन्तिम छओं पुत्र केवल सम्बन्धी समझे जाते है (९, १५८) और इन सब पुत्रों में से एक के न होने पर उस के उपरान्त की श्रेणी का पुत्र पैत्राधिकार

पाता था' (६ १८४) सन्तान पिता और भाई के न होने पर मनुष्य की सम्पत्ति उसके सब से निकटवर्ती सम्बन्धी को मिलती थी जो कि तीन पीढ़ी के भीतर हो. और ऐसे सम्बन्धी के न होने पर किसी सकुल्य को. वा उसके उपरान्त धर्म के गुरु वा शिष्य को और उसके भी न होने पर ब्राह्मणों को मिलती थी। (६. १८७. १८८)

स्त्रीधन वा स्त्रियों की विशेष सम्पत्ति वह कही गई है जो कि विवाह की अग्नि के सामने अथवा विवाह में दी जाय अथवा जिसे पति प्रीति के चिन्ह की भांति अथवा भाई माता वा पिता उसे दे। (६. १९४)

माता की मृत्यु के उपरान्त उस माता के सब पुत्र और कन्या माता की सम्पत्ति को बराबर बराबर बांट लें। (६, १९२)

(१८) जुआ खेलना और बाजी लगाना इत्यादि—ये दोनों पाप राजाओं के राज्य को नाश करने वाले होते हैं: और इस लिये राजाओं को सम्मति दी गई है कि वे इन्हें अपने राज्य से दूर रक्खें। इस पाप के लिये शारीरिक दण्ड लिखा गया है (९. २२४) और इस पाप के करने वालों तथा नाचने वालों. गाने वालों. और नास्तिक लोगों अर्थात् बौद्धों को देश से निकाल देने के लिये भी

(९. २८४) वाणिज्य की वस्तुओं में खोटी वस्तु मिलाने के लिये, और सब प्रकार की दुष्टता के लिये, अन्न की विक्री में ठगने के लिये, सुनारों की वेइमानी के लिये और खेती के औजारों की चोरी के लिये भिन्न भिन्न दण्ड कहे गए हैं (९, २५८-२९३)

कानून के विषय में दो अध्यायों के सिवाय मनु ने पाप के प्रायश्चित इत्यादि के लिये एक जुदा अध्याय दिया है और उसके विषय में बहुत थोड़ी बातों से विदित हो जायगा कि उस समय में भारी पाप कौन कौन समझे जाते थे।

प्रायश्चित—यहां फिर हमें यह उल्लेख मिलता है कि "ब्राह्मण का वध करना, सुरा पीना, ब्राह्मण का द्रव्य चुराना, गुरू की स्त्री से व्यभिचार करना और इन पापों के करने वाले मनुष्यों का संग करना ये सब से भारी पाप अर्थात् महापातक है।" (११,५५) पाठक देखेंगे कि ये वेही महापातक हैं जिनका कि वशिष्ट ने वर्णन किया है। इसके सिवाय और भी पातक लिखे हैं जो कि इनके वरावर कहे गए है। ऐसे पातकों मे ये हैं अर्थात् झूठी साक्षी देना, अपने गोत्र में व्यभिचार करना, कुमारी स्त्रियों को नष्ट करना, अपने माता पिता का त्याग और वेदो पर ध्यान न देना।

महापातकों से घट कर उपपातक है जिनमें हम इन पातकों को पाते है अर्थात् गृह्य अग्नि की असावधानी, गौ का वध, चोरी, ऋण न चुकाना, व्रात्य होकर रहना और अन्त मे और वड़ी आश्चर्य्य जनक वात है कि-"खानों और कारखानो का निरीक्षण करना तथा वड़े वड़े यन्त्रों द्वारा कार्य्यों को करना जिसका कि भाष्यकारों ने यह अर्थ वतलाया है कि वांध वांधना वा चीनी की कल तथा इसी प्रकार की अन्य वड़ी वड़ी कल वनाना (९, ६०, ६७) है। भारतवर्ष में जाति भेद के हानि कारक फल ने शिल्प और शिल्पकारों को नीच वना दिया परन्तु यह वड़े ही पश्चाताप और दुःख की वात है कि हिन्दू ग्रन्थकार को यह लिखना पड़ता है कि कल पुर्जों के काम ही वास्तव में पाप समझे जाते थे। मनुस्मृति के वनने के समय के सम्वन्ध में सर विलियम जोन्स साहव के समय से वहुत कुछ वादविवाद हुआ है परन्तु अव यह साधारणतः स्वीकार किया जाता है कि उसका जो संग्रह अव मिलता है वह ईसा के एक वा दो शताव्दी

के पहिले या पीछे का बना हुआ है । उसमें (१०, ४४) यवनों को चीन देश के लोगों तथा शक और कमभोज लोगों का उल्लेख है और इससे उसके बनने का समय काफी तरह से निश्चित होता है। यह ग्रन्थ, जैसा कि हम पहिले कह चुके है, भारतवर्ष के प्राचीन सूत्रों जिनके आधार पर यह बना हुआ है और पौराणिक समय के धर्म्म शास्त्र जिनका की हम आगे के अध्याय में वर्णन करेंगे, इनके बीच के समय का है। सूत्रों की नांई वह किसी विशेष वैदिक समय से सम्बन्ध नहीं रखता परन्तु वह समस्त आर्य्यों का कानून है और धर्म्म शास्त्र के भी विरुद्ध मनु अपने समय तक हिन्दू त्रिमूर्ति वा पौराणिक कथाओं को नहीं जानता, मूर्ति पूजा को नहीं मानता और मन्दिरों तथा पुजेरियों को घृणा की दृष्टि से देखता है और वैदिक विधानों और यज्ञों का मण्डन करता है।

अध्याय १२

ज्योतिष और विद्या।

पूर्व अध्यायों में हम बौद्ध काल में हिन्दुओं के इतिहास और उनकी राजनीति की अवस्था, उनके शिल्प और गृहनिर्माण विद्या और उनके सामाजिक जीवन तथा नियमों का वर्णन कर चुके हैं। अब उस समय में उनकी विद्या की उन्नति के विषय में हमें कुछ वाक्य कहने हैं। दुर्भाग्य वश इस विषय में हमें जो सामिग्रियां मिलती हैं वे बहुतही थोड़ी है–कदाचित् प्राचीन हिन्दू इतिहास के अन्य किसी समय से भी थोड़ी है।

इसके कारण भी स्पष्ट है। पांच वा छ शताब्दियों तक भारतवर्ष विदेशियों के आक्रमण और युद्ध का स्थान बना रहा और इस समय में साहित्य और शास्त्रों की जैसी उन्नति स्वाभाविक रीति पर होनी चाहिए न हो सकी। उस समय जो बातें विदित भी हुई उनमें से अधिकांश बौद्ध प्रभाव के द्वारा हुई और इसके पीछे के हिन्दू लेखकों ने उन बातों को रक्षित रखने में सावधानी नहीं की है। और अन्त में, इस समय में जिन शास्त्रों के जो ग्रन्थ बनाए गए थे उनका स्थान अधिकतर इसके उपरान्त के पौराणिक काल में बने हुए उत्तम ग्रन्थों ने ले लिया है। इन सब कारणों से बौद्धकाल के साहित्य और शास्त्रों का बहुत ही थोड़ा अंश अब प्राप्त है।

परन्तु फिर भी भारतवर्ष में बुद्धि विषय के उद्योग किसी समय में भी नहीं छोड़े गए थे और हिन्दू इतिहास के किसी समय में भी "विद्या सम्बन्धी अवकाश" कभी नहीं माना गया। और बौद्ध समय मे इस सम्बन्ध में जो उन्नति हुई थी उसके चिन्ह हम लोगों को अब तक मिलते हैं।

हम दार्शनिक काल के वृतान्त मे हिन्दूओं के छ दर्शन शास्त्रों का वर्णन कर चुके हैं परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि उनमें से कुछ दर्शनों यथा पातञ्जलि के योग और बादरायण व्यास के वेदान्त का प्रारम्भ बौद्ध काल ही में हुआ था और इसी काल में इन छओं दर्शनों में बहुत कुछ उन्नति की गई थी। इसके अतिरिक्त इस काल में पातञ्जलि ने पाणिनी के व्याकरण पर अपना प्रसिद्ध महाभाष्य लिखा है जो कि बौद्धकाल की उन्नति का एक स्मारक है।

धर्म्म सम्बन्धी ग्रन्थों में मनुस्मृति बौद्धकाल में बनाई गई थी और नालन्द तथा अन्य विद्यापीठों की बहुत सी बौद्धधर्म्म की पुस्तकें इस काल में बनीं। पद्य का हम लोगों को बहुत ही थोड़ा अंश प्राप्त है जो कि निश्चय रूप से इसी काल का बना हुआ है परन्तु फिर भी अर्वाचीन संस्कृत पद्य का आरम्भ इसी काल से हुआ है। गुप्तवंशी राजाओं के शिलालेखों से हमें विदित है कि इस समय में उस सुन्दर तथा गम्भीर पद्य की कदर की जाती थी, कविता का सत्कार राज सभाओं में किया जाता था और गुप्त वंश का सब से बड़ा राजा समुद्रगुप्त जिसने कि चौथी शताब्दी की समाप्ति के लगभग राज्य किया स्वयम् कवि था और उसकी सभा के कवियों ने उसे कविराज की पदवी दी थी।

परन्तु बौद्धकाल में सब से अधिक उन्नति ज्योतिष शास्त्र में हुई थी। हम पहिले देख चुके हैं कि ज्योतिष सम्बन्धी वेध वैदिक काल में ही किए जा चुके थे और ऐतिहासिक काव्य काल में चन्द्रराशिचक्र स्थिर किया गया था और अयन सम्बन्धी विन्दुओं का स्थान देखा जा चुका था तथा अन्य बातें भी ध्यान पूर्वक देखी और लिखी जा चुकी थीं। परन्तु इन कालों अथवा दार्शनिक काल का भी ज्योतिष का कोई ग्रन्थ हम लोगों को अब नहीं मिलता। ज्योतिष का सब से प्राचीन ग्रन्थ जिसके विषय में कि हमें कुछ विदित है अथवा जो हम लोगों को अब प्राप्त है, बौद्ध काल का है।

हिन्दू ग्रन्थकारों ने १८ प्राचीन सिद्धान्त अर्थात् ज्योतिष के ग्रन्थ लिखे हैं, परन्तु उनमें से अधिकांश अब प्राप्त नहीं हैं। उनके नाम नीचे दिए जाते हैं—

१	पराशर सिद्धान्त		१०	मरीचि सिद्धान्त	
२	गर्ग	,,	११	मनु	,,
३	ब्रह्म	,,	१२	अंगीरस	,,
४	सूर्य	,,	१३	रोमक	,,
५	व्यास	,	१४	पुलिश	,,
६	वसिष्ठ	,,	१५	च्यवन	,,
७	अत्रि	,,	१६	यवन	,,
८	कश्यप	,,	१७	भृगु	,,
९	नारद		१८	शौनक या सोम.	

इनमें से कुछ सिद्धान्तों के संक्षिप्त विवरण से बौद्धकालके शास्त्रों की उन्नति का बहुत कुछ वृतान्त विदित हो जायगा और हम यह बात पहिले से कह देंगे कि हिन्दुओं ने इस काल में अधिकांश ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान यूनानियों से प्राप्त किया, जिन्हों ने कि इस शास्त्र की बड़ी सफलता के साथ उन्नति की थी।

प्रोफेसर वेबर साहब कहते हैं कि हिन्दू ज्योतिषियों में पराशर सबसे प्राचीन है और समयक्रम से उसके उपरान्त गर्ग है। पराशर के विषय में हमें इसके अतिरिक्त और कोई बात विदित नहीं है कि उसका नाम वेद से सम्बन्ध रखता है। वह ग्रन्थ जिसमें पराशर की शिक्षाएं दी हुई कही जाती हैं, पराशर तन्त्र के नाम से प्रसिद्ध था। पौराणिक समय में वह बड़े सत्कार की दृष्टि से देखा जाता था और वाराहमिहिर ने बहुधा इस ग्रन्थ के वाक्य उद्धृत किए हैं। इन अनेक उद्धृत वाक्यों को देखने से विदित होता है कि उनका अधिकांश, कम से कम उनका एक बड़ा अंश गद्य में लिखा है जो कि इस श्रेणी के ग्रन्थों के लिये एक विशेषता है। इसका बहुत सा भाग अनुष्टुप छन्द में है और इसमें आर्या छन्द भी है। भारतवर्ष के भूगोल जानने वालों के लिये उसमें एक पूरा अध्याय है जिसको कि वाराहमिहिर ने केवल रूप बदल कर परन्तु ज्यों का त्यों रख कर बृहत् संहिता के १४ वें अध्याय में दिया है। पराशर ने पश्चिमी भारतवर्ष में यवनों वा यूनानियों के होने का उल्लेख किया है जिससे विदित होता है कि इस ग्रन्थ का समय ईसा के २०० वर्ष के अधिक पहिले का नहीं है।

गर्ग के विषय में हमें इससे कुछ अधिक वृतान्त विदित है और वह उन हिन्दू ग्रन्थकारों में है जिनसे कि हम भारतवर्ष में ईसा के पहिले दूसरी शताब्दी में यूनानियों के आक्रमण का कुछ वृतान्त विदित होता है। वह यून जाति के विद्वानों का भी सम्मान करता था यद्यपि वे म्लेच्छ समझे जाते थ। उसका निम्नलिखित वाक्य प्रसिद्ध है और वह बहुधा उद्धृत किया जाता है—"यवन लोग (यूनानी लोग) म्लेच्छ हैं परन्तु वे लोग इस शास्त्र (ज्योतिष शास्त्र) को अच्छी तरह से जानते हैं। इस लिये उन लोगों का ब्राह्मण ज्योतिषियों से कहीं बढ़ कर ऋषियों की नाईं, सत्कार किया जाता है।"

अपने ग्रन्थ के ऐतिहासिक अंश में गर्ग चार युगों का उल्लेख करता है जिसमें से महाभारत के युद्ध के समय से वह तीसरे युग की समाप्ति और चौथे युग का प्रारम्भ होना लिखता है। इसके उपरान्त उसने मगध के शिशुनाग वंश और फिर मौर्य्य वंश के राजाओं का उल्लेख किया है। सालिसुक का उल्लेख करते हुए (जिसको कि हम देख चुके हैं कि अशोक के उपरान्त चौथा राजा था) गर्ग कहता है "इसके पीछे पापात्मा साहसी यूनानी लोग साकेतु (अवध) पाञ्चाल देश और मथुरा को अधीन करने के उपरान्त कुसुमध्वज (पटने) में पहुंचेंगे। पुष्पपुर (पटना) लिए जाने पर सब देशों में निस्सन्देह उलट फेर हो जायगी।"

संस्कृत ग्रन्थों में ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख इतना दुर्लभ है कि गर्ग के ज्योतिष के ग्रन्थ में ईसा के पहिले दूसरी शताब्दी में बेक्ट्रिया के यूनानी लोगों का पटने तक भारतवर्ष को जीत लेने का जो वृत्तान्त मिलता है उसके लिये हम उसके अनुगृहीत हैं। बहुत से पाठकों को विदित होगा कि प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर गोल्डस्टूकर साहब ने यूनानी लोगों का अवध पर आक्रमण करने का वृत्तान्त पातञ्जलि के ग्रन्थ से खोज निकाला है और इसी से उन्होंने योग दर्शन और महाभाष्य के रचयिता पातञ्जलि का समय निश्चित किया है।

परन्तु अब गर्ग के विषय में सुनिए। "अजेय यवन लोग (यूनानी लोग) मध्य प्रदेश में नहीं रहेंगे। इन लोगों में एक बड़ा कठोर और भयानक युद्ध होगा। तब इस युग के अन्त में यूनानियों का नाश होने के उपरान्त सात प्रबल राजा अवध में राज्य करेंगे।" इसके उपरान्त यह उल्लेख है कि यूनानियों के उपरान्त लुटेरे शक लोग बड़े प्रबल हुए, और हमें यह जानने में बहुत कम कठिनाई है कि ये शक लोग वही यूची लोग थे जिन्होंने कि ईसा के १३० वर्ष पहिले बेक्ट्रिया के राज्य को नष्ट किया था। ये नए विजयी लोग अपनी लूट पाट करते रहे और यहां पर गर्ग का इतिहास समाप्त हो जाता है। उपरोक्त बातों से डाक्टर कर्न साहब का गर्ग का समय ईसा की पहिली शताब्दी में निश्चित करना ठीक है।

अब हम कुछ अन्य विद्वानों के विषय में लिखेंगे अर्थात्

ंच सिद्धान्तों के विषय में जो कि पञ्च सिद्धान्त के नाम से
र है और जिनके आधार पर छठीं शताब्दी म वाराहमिहिर ने
पञ्चसिद्धान्तिका लिखी है। वे पांचों सिद्धान्त ये है अर्थात्
ा पैतामह, सूर्य्य वा सौर, वशिष्ठ, रोमक, और पुलिश।
ान पड़ता है कि प्राचीन ब्रह्म वा पैतामह सिद्धान्त का पूर्ण
ब्रह्मगुप्त के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'स्फुट ब्रह्मसिद्धान्त' ने ले लिया
ृलबरूनी ने इस स्फुट ब्रह्म सिद्धान्त की एक प्रति ११ वीं
ब्दी में पाई थी और उसने उसका उल्लेख अपने भारतवर्ष
तान्त में किया है।

ूर्य्य सिद्धान्त बड़ा प्रसिद्ध है परन्तु उस मूल ग्रंथ में इतना
परिवर्तन हुआ है और वह इतनी बार संकलित किया
है कि मूल ग्रन्थ अब हम लोगों को प्राप्त नहीं रह गया है।
स मूल ग्रन्थ के बनने की तिथि के विषय में इसके अतिरिक्त
कुछ नहीं कह सकते कि वह बौद्ध काल मे बना होगा। और
न्थ अन्तिम बार अपने आधुनिक रूप में कब बनाया गया
; विषय में भी हम केवल इतनाही कह सकते हैं कि वह
ौाणिक काल में बनाया गया होगा।

ाराहमिहिर का भाष्यकार, उत्पल दसवीं शताब्दी में हुआ
उसने अपने समय के सूर्य सिद्धान्त से छ श्लोक उद्धृत किए
र डाक्टर कर्न साहब ने दिखलाया है कि उनमें से एक भी
कल के सूर्य सिद्धान्त मे नहीं मिलता। फिर भी "आज कल
ूर्य सिद्धान्त उस ग्रन्थ का पुनर्रूप मात्र है जिसे कि वाराहमिहिर
पना एक प्रमाण माना है।'

आधुनिक सूर्यसिद्धान्त में १४ अध्याय हैं और उसमें ग्रहों के
ध्यम स्थान और वास्तविक स्थान, समय का विषय, सूर्य
र चंद्र ग्रहण, ग्रहों और नक्षत्रों के योग, ग्रहों और नक्षत्रों के
ाशवृत्तीय उदय और अस्त, चन्द्रमा की कला और उसके
ंधो के स्थान, सूर्य्य, और चन्द्रमा की क्रान्ति, ज्योतिष सम्ब-
यन्त्रों के बनाने की रीति, जगत की उत्पत्ति और भिन्न भिन्न
ार के समय का उल्लेख है।

एलबरूनी वशिष्ठ सिद्धान्त को विष्णु चन्द्र का बनाया हुआ

HINDI HISTORICAL SERIES No. V.

मिस्टर रमेशचन्द्र दत्त का

प्राचीन भारतवर्ष की

सभ्यता का इतिहास ।

चौथा भाग ।

जिसे

गोपालदास ने

सरल हिन्दी में अनुवाद किया

और

इतिहास-प्रकाशक-समिति काशी ने

प्रकाशित किया ।

1909

PRINTED BY MADHO PRASAD, BHARAT PRESS,
BENARES.

अध्यायों की सूची ।

पौराणिक काल ।

प्राचीन भारतवर्ष की

सभ्यता का इतिहास।

चौथा भाग।

काण्ड ५

पौराणिक काल, सन् ५०० से १००० ई० तक।

अध्याय १

विक्रमादित्य और उसके उत्तराधिकारी।

अब हम हिन्दू इतिहास के नाटक के अन्तिम अंक पर आ गए और उसका पर्दा एक वास्तविक बड़े दृश्य पर खुलता है! एक बड़े और स्वदेशानुरागी युद्ध का विजयी, पुनर्जीवित होते हुए हिन्दू धर्म्म का संरक्षक, आधुनिक संस्कृत साहित्य में जो सबसे उत्तम और सुन्दर बातें हैं उन सब का केन्द्र, सैंकड़ों कथाओं का नायक, प्रतापी विक्रमादित्य हिन्दुओं के लिये वैसाही है जैसा की फरासीसियों के लिये शारलेम्यान, अंगरेज़ो के लिये आलफ्रेड, बौद्धों के लिये अशोक, और मुसलमानों के लिये हारन-उल-रशीद है। विद्वानों और अपढ़ लोगों के लिये, कवि वा कहानी कहनेवालों के लिये, बूढ़ों अथवा बच्चों के लिये उसका नाम भारतवर्ष में ऐसा परिचित है जैसा कि किसी देश के किसी राजा वा

बादशाह का हो सकता है। इस राजा के नाम के साथही जिसकी सभा में कालिदास वर्तमान थे हिन्दू विद्वानों के हृदय में शकुन्तला और उर्वसी की कोमल सूरत का स्मरण हो उठता है। हिन्दू ज्योतिषियों के हृदय में वराहमिहर का स्मरण और कोशकारों के हृदय में अमरसिंह के सत्कार करनेवाले राजा का सम्मान हो उठता है। और ये सब बातें उसके सच्चे प्रताप के लिये मानों काफी न होने के कारण सैकड़ों कहानियां उसके नाम को अपढ़ और सीधे साधे लोगों से परिचित कराती हैं। आज तक भी गांव के रहने वाले लोग छाया-दार पीपल वृक्ष के नीचे यह कथा सुनने के लिये एकत्रित होते हैं कि उन बत्तिस बोलनेवाली पुतलियों ने जो कि इस बड़े सम्राट के सिंहासन को उठाए हुए थीं, किस प्रकार उसके उत्तराधिकारी की अधीनता स्वीकार नहीं की और उनमें से प्रत्येक ने विक्रम के प्रताप की एक एक कथा किस प्रकार कह कर प्रस्थान किया! प्रत्येक ग्रामीण पाठशाला के छोटे छोटे बालक भारतवर्ष में अब तक आश्चर्य और स्नेह के साथ पढ़ते हैं कि इस साहसी विक्रम ने अन्धकार और

का यह मत था कि कालिदास के आश्रयदाता विक्रमादित्य का समय ईसा के लगभग ५६ वर्ष पहिले है जैसा कि संवत अब्द से जान पड़ता है। परन्तु यह सम्मति अब साधारणतः पलट गई है। फ्लीट साहब इस बात का समर्थन करते हैं कि संवत अब्द बहुत प्राचीन समय से मालव लोगों का संवत था और ईसा के ५७ वर्ष पहिले के मालव संवत का विक्रम वा विक्रमादित्य के नाम से सम्बन्ध, गुप्तवंशीय पहिले या दूसरे चन्द्रगुप्त के इण्डोसीरियन लोगों को विजय करने के संदिग्ध अवशेषों के कारण हुआ।

संवत अब्द की उत्पत्ति के विषय में अब तक भी ऐसा अन्धकार है और हम इस अन्धकार को दूर करने का कार्य्य भविष्यत के विद्वानों पर छोड़ते हैं। हमारा स्वयं यह विचार है कि कालिदास का आश्रयदाता विक्रमादित्य ईसा के उपरान्त छठीं शताब्दी में हुआ और हम संक्षेप में इस सम्मति को मानने के प्रमाण देंगे।

हुवेंत्सांग जो कि भारतवर्ष में सातवीं शताब्दी में आया प्रथम शीलादित्य का समय सन ५८० के लगभग स्थिर करता है और विक्रमादित्य को शीलादित्य का पूर्वज बतलाता है। और इतिहासकार कल्हण जो कि बारहवीं शताब्दी में हुआ है विक्रमादित्य को कनिष्क के पीछे बीस राजाओं के उपरान्त बतलाता है जिसने की सन १७८ से राज्य किया। हमारी सम्मति में हुवेंत्सांग और कल्हण की बातों से विक्रमादित्य के राज्य का ईसा के उपरान्त छठीं शताब्दी में होना निश्चय रूप से स्थिर हो जाता है।

अब इतिहास के विषय में हमें यह कहानी विदित है और आगे चल कर हम उस कहानी को कम से कम १३०० वर्ष प्राचीन दिखलावेंगे कि विक्रमादित्य के दरबार में नौ बड़े ग्रन्थकार थे जो नौरत्न के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें से वराहमिहर, वररुचि और कालिदास सब से अधिक विख्यात हैं। वराहमिहर का जन्म सम्भवतः सन् ५०५ ईस्वी में हुआ था और डाक्टर भाऊदाजी ने उसकी मृत्यु सन् ५८७ में दिखलाई है। वररुचि का अपने प्राकृत व्याकरण को पांचवीं वा छठीं शताब्दी के पहिले बनाना सम्भव नहीं क्योंकि उस समय के पहिले साहित्य की भाषा प्राकृत नहीं थी। और कालिदास के ग्रन्थों से यह विदित होता है कि वह पांचवीं वा छठीं शताब्दी में हुआ जब कि पौराणिक हिन्दू धर्म बढ़ा चढ़ा था जब मन्दिरों और मूर्तियों का आदर किया जाता था और जब हिन्दू त्रिमूर्ति की पूजा की जाती थी। मनु के विपरीत, और स्पष्टतः उसके समय के बहुत पीछे, यह कवि हिन्दू त्रिमूर्ति को मानता है, मन्दिरों और मूर्तियों का आदर करता है और हून् लोगों के पञ्जाब में आकर बसने का भी उल्लेख करता है।

कालीदास के उत्तराधिकारी भारवि, दण्डिन, बाण भट्ट, सुबन्धु, भर्तृहरि—जिनके लेखों में कालिदास से इतनी समानता पाई जाती है—सब छठीं से आठवीं शताब्दी के भीतर ही हुए हैं। उनमें सुबन्धु विक्रमादित्य के विषय में लिखता है कि उसको बहुत समय नहीं हुआ।* जिन विद्वानों

* सुबन्धु के इस वाक्य पर पहिले पहिल पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने ध्यान आकर्षित किया था। उनका अनुवाद भी दिया

ने इन कवियों के ग्रन्थ पढ़े हैं उनके लिये यह सम्भव नहीं है कि वे उनके और कालिदास के समय के बीच ६ शताब्दियों का अन्तर निश्चित करें। इस प्रकार बराह मिहर, वररुचि और कालिदास के ग्रन्थों से जो प्रमाण मिलते हैं उनसे भी विक्रमादित्य का समय ईसा की छठीं शताब्दी में निश्चित होता है।

विक्रमादित्य के शक लोगों को विजय करने के सम्बन्ध में अलबरूनी, जो कि भारतवर्ष में ग्यारहवीं शताब्दी में आया था, कहता है कि विक्रमादित्य ने शक राज पर आक्रमण किया, "उसे भगाया और मुलतान और लोनी के दुर्ग के बीच कोरूदेश में उसे मार डाला"। दुर्भाग्य वश हमें विक्रमादित्य के विदेशी आक्रमण करने वालों पर विजय प्राप्त करने के विषय में केवल इतनाही इतिहास विदित है।

परन्तु विदेशी आक्रमण करने वालों के हारने और भगाए जाने के बड़े उत्तम फल हुए और उससे उत्तरी भारतवर्ष में जो कि सैंकड़ों वर्ष तक आक्रमण करने वालों से पीड़ित था शान्ति के साथ ही साथ शिल्प की वृद्धि हुई। राजाओं के दर्बार तथा बड़े बड़े नगर, बिलास, धन, व्यापार और शिल्प के केन्द्र होगए, विज्ञान ने अपना सिर उठाया

जा सकता है "अब विक्रमादित्य का उसके यश को छोड़ कर लोप हो गया है, राजनैतिक विचारों की उत्तमता उठ गई है, अब नए नए ग्रंथकार वर्तमान हैं और उनमें से प्रत्येक इस पृथ्वी पर के और सब लोगों पर आक्रमण करता है जो कि उस झील के समान हो गई है जिसको की सारस पक्षियो ने छोड़ दिया हो, जहां बकपक्षी विहार नहीं करते और जहां सूर्य्यास्त पर कनकपक्षी इधर उधर नही घूमते।

और आधुनिक हिन्दू ज्योतिष शास्त्र ने एक नई उन्नति प्राप्त की। कविता और नाटक ने अपना प्रकाश फैलाया और हिन्दुओं के हृदय को प्रसन्न करने लगे। स्वयं धर्म्म में और जीवनशक्ति आगई और हिन्दू धर्म्म ने अपने नए और पौराणिक रूप में लोगों को बौद्ध धर्म्म से परिवर्तित करने का यत्न किया।

बौद्ध धर्म्म ने भारतवर्ष के मुख्य धर्म्म की ओर कभी द्वेष भाव नहीं दिखाया और इन दोनों धर्म्मों के कई शताब्दियों तक साथ साथ प्रचलित होने के कारण उनका परस्पर अविरोध और भी बढ़ गया था, प्रत्येक देश में बौद्ध और हिन्दू लोग साथ ही साथ रहते थे। हिन्दू लोग बौद्धों के मठ और विद्यालयों में जाते थे और बौद्ध लोग ब्राह्मण ऋषियों से विद्या सीखते थे। एक ही राजा दोनों धर्म्मों के मानने वालों पर अनुकूल रहता था। गुप्तवंशी राजा बहुधा शिव और विष्णु के पूजने वाले थे परन्तु वे बौद्धों और बौद्ध मठों को दान, उपहार और कृपाओं से परिपूर्ण कर देते थे। यह बहुधा होता था कि कोई राजा बौद्ध हो और उसका पुत्र कट्टर हिन्दू हो और बहुधा दो भाई बिना परस्पर लड़े इन दो मतों के अनुयायी होते थे। प्रत्येक राजसभा में इन दोनों धर्म्मों के मानने वाले विद्वान होते थे, और विक्रमादित्य की सभा में भी ऐसा ही था।

भारतवर्ष का प्रत्येक पण्डित उस श्लोक को जानता है जिसमें कि विक्रम की सभा के नौरत्नों का नाम है * बुद्ध गया के संवत् १०१५ अर्थात् सन् ९४८ ईस्वी के एक शिला लेख में हमें निम्न लिखित वाक्य मिलते हैं—"विक्रमादित्य निस्सन्देह इस संसार में बड़ा प्रसिद्ध राजा था। इसी प्रकार उसकी सभा में नौ बड़े विद्वान थे जो कि 'नवरत्नानि' के नाम से विख्यात हैं"। इस कथा की प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं है।

इन प्रसिद्ध विद्वानों में कालिदास सब से मुख्य हैं। राजतरंगिणी में लिखा है कि तोरमान की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र प्रवरसेन काश्मीर की राजगद्दी पर अपना अधिकार प्रमाणित नहीं कर सका और भारतवर्ष के इस माननीय सम्राट उज्जनी के विक्रमादित्य ने अपनी सभा के मातृगुप्त नामक प्रसिद्ध विद्वान को काश्मीर का राज्य करने के लिये भेजा। मातृगुप्त ने अपने संरक्षक की मृत्यु तक राज किया और तब वह यती होकर बनारस को चला आया और काश्मीर में प्रवरसेन का राज्य हुआ। डाक्टर दाऊदाजी ने पहिले पहिल इस साहसी सिद्धान्त को प्रकाशित किया कि यह मातृगुप्त स्वयं कालिदास ही थे। इस विद्वान ने अपनी सम्मति के जो प्रमाण दिए हैं उनका विस्तार पूर्वक वर्णन करने की हमें आवश्यकता नहीं है और यहां पर इतना ही कहना आवश्यक होगा कि यद्यपि उनके प्रमाण सम्भव हैं परन्तु वे निश्चय दिलाने वाले नहीं हैं।

---

* वे ये हैं धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वेतालभट्ट, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर, और वररुचि।

इसके विरुद्ध काश्मीर के एक कवि क्षेमेन्द्र का एक ग्रन्थ मिलता है जिसमें कि उसने कालिदास और मातृगुप्त को दो भिन्न भिन्न कवि लिखा है और इस विषय में क्षेमेन्द्र का प्रमाण निश्चित् समझना चाहिए।

अब हमें भारवि कवि का वर्णन करना है जो कि किरातार्जुनीय का ग्रन्थकर्त्ता है। वह विक्रमादित्य के दर्बार में रहने वाला नहीं जान पड़ता परन्तु सन् ६३४ ईस्वी का एक शिलालेख मिला है जिसमें कि उसका और कालिदास का नाम लिखा है। यदि वह कालिदास का समकालीन नहीं था तो यह बात निश्चय है कि वह छठीं शताब्दी में हुआ।

अमरसिंह जो कि प्रसिद्ध संस्कृत कोश का बनाने वाला है नवरत्नों में से एक था और वह बौद्ध था। उसके ग्रन्थ का छठीं शताब्दी में चीन की भाषा में अनुवाद किया गया था और कहा जाता है कि बुद्ध गया का बौद्ध मन्दिर उसी का बनवाया हुआ है।

ज्योतिषशास्त्र में पौराणिक काल का सब से प्रथम लेखक आर्य्यभट्ट है। वह अपना जन्म सन् ४७६ ईस्वी में लिखता है। वह विक्रमादित्य की सभा में नहीं था, उसका जन्म पाटलीपुत्र में हुआ था और उसने विक्रमादित्य से पहिले ही छठीं शताब्दी के प्रारम्भ ही से प्रसिद्धि प्राप्त की थी।

वराहमिहिर जो कि आर्य्यभट्ट के उपरान्त हुआ, नवरत्नों में था। वह अवन्ति का रहने वाला था और उसकी मृत्यु ५८७ में हुई।

उसका उत्तराधिकारी ब्रह्मगुप्त छठीं शताब्दी के अन्त में ५९८ ईस्वी में हुआ और उसने अपना ग्रन्थ तीस वर्ष की अवस्था में अर्थात् सन् ६२८ में लिखा। ब्रह्मगुप्त का पिता जिष्णु था और यह कदाचित वही जिष्णु हो जो कि कालिदास का समकालीन कहा गया है।

विक्रमादित्य के शेष रत्नों में से धन्वन्तरि प्रसिद्ध वैद्य था और दण्डिन् ने अपने दशकुमारचरित्र में उसका उल्लेख किया है। बेतालभट्ट नीतिप्रदीप का ग्रन्थकार था और वररुचि प्रसिद्ध वैयाकरण था। घटकर्पर, शंकु और क्षपणक इतने प्रसिद्ध नहीं हैं और उनके पीछे के समय के लोगों ने उनका वह सत्कार नहीं किया जैसा कि उनका विक्रम की सभा में होता था।

अब हम उस विद्या की उन्नति का कुछ विचार कर सकते हैं जो कि विक्रमादित्य के समय में हुई थी और उसने उसके नाम को कभी न मरने वाला यश दिया है। तेरह शताब्दियों के उपरान्त भी आज हम हिन्दू हृदय के विकास और धीशक्ति के उदय का कुछ विचार कर सकते हैं जो कि हिन्दू धर्म्म के पुनर्जीवित होने का चिन्ह है। हम यह विचार कर सकते हैं कि कई शताब्दियों की अवनति के उपरान्त, दुखदाई युद्धों और आक्रमणों के उपरान्त भी लोगों के हृदय में किस प्रकार वीरता, महानता और यश का अचानक उदय हुआ। जाति को उस समय एक पद दर्शक की आवश्यकता थी और विक्रमादित्य जो कि विदेशियों का विजय करने वाला, समस्त उत्तरी भारतवर्ष का राजा, गुणियों और विद्वानों का संरक्षक था चाहे वह

बौद्ध हो और चाहे हिन्दू पथ प्रदर्शक की भांति खड़ा हुआ। उस समय एक महान पुरुष की आवश्यकता थी और वह महान पुरुष उपस्थित हुआ और जाति ने इस बड़े राजा के आश्रय में साहित्य और विज्ञान में ऐसी सफलता प्राप्त की जो कि इसके पहिले बहुत ही कम प्राप्त हुई थी।

इस प्रकार यदि हम इतिहास को सावधानी और ठीक रीति से जानने का यत्न करें, यदि हम कहानियों और अत्युक्तियों को एक ओर हटा दें तो हम भारतवर्ष के इतिहास के प्रत्येक काल को साधारणतः समझ सकते हैं और प्रत्येक बात का सच्चा सच्चा कारण जान सकते हैं। हम स्वयं विक्रमादित्य के महत्व का कारण उसके चारों ओर होनेवाली घटनाओं से जान सकते हैं और हम कालिदास की अद्वितीय कल्पनाओं का कारण उसके समय में हिन्दुओं के विचार में साधारणतः आनन्द का होना समझ सकते हैं। हम लोग वराहमिहिर और अमरसिंह के परिश्रमों को भी समझ सकते हैं कि वे विद्वानों की एक बड़ी सभा में एक दूसरे से बढ़ कर सम्मान प्राप्त करना चाहते थे और हम उस समय में हिन्दुओं और बौद्धों के बीच उत्तम मुकाबिले को भी समझ सकते हैं जब कि धर्म में मतभेद बढ़ कर इतनी बुरी अवस्था को नहीं प्राप्त हुआ था कि वह अनन्त द्वेष और क्लेश का कारण हो। बौद्ध धर्म की अवनति हो रही थी और हिन्दू धर्म फिर से जीवित हो रहा था और स्वभावतः इस पुनर्जीवित होने वाले धर्म ने [illegible] और गुण में सब से अधिक [illegible] दिखलाया।

विक्रमादित्य के उपरान्त लगभग ५५० ईस्वी में शीलादित्य प्रतापशील उत्तरी भारतवर्ष का राजा हुआ। हुनत्सांग के वर्णन से विदित होता है कि वह धर्म्म का पक्षपाती था और उसकी सभा में मनोरथ के शिष्य वसुवन्ध, का बड़ा सत्कार किया जाता था और उसने हिन्दुओं से वादविवाद में एक बड़ी विजय प्राप्त की। वसुवन्धु एक ब्राह्मण का पुत्र था और वह प्रसिद्ध असङ्ग का भाई था। वह काश्मीर में अध्ययन करके मगध को लौटा, नालन्द के विद्यालय में पण्डित हुआ और नेपाल में मरा। हमें शीलादित्य की सभा के और कोई दूसरे महान पुरुष का वृत्तान्त विदित नहीं है।

शीलादित्य का उत्तराधिकारी लगभग ५८० ईस्वी में प्रभाकरवर्द्धन हुआ। प्रभाकर की बहिन राज्यश्री का विवाह ग्रहवर्म्मन् के साथ हुआ था, परन्तु मालव लोगों से उसका एक युद्ध छिड़ा जिसमें प्रभाकर की हार हुई और ग्रहवर्म्मन मारा गया।

लगभग ६०५ ईस्वी में प्रभाकर का उत्तराधिकारी राज्यवर्धन हुआ। राज्यवर्धन भी मालव लोगों के साथ युद्ध करता रहा और उसने उनके राजा को मार डाला। हुनत्साङ्ग के वृत्तान्त से हमें विदित होता है कि इसके उपरान्त कर्णसुवर्ण अर्थात् पश्चिमी बङ्गाल के राजा शशाङ्क नरेन्द्र गुप्त ने राज्यवर्धन को पराजित किया और मार डाला।

उसका उत्तराधिकारी लगभग ६१० ईस्वी में उसका छोटा भाई द्वितीय शीलादित्य हुआ जिसे हर्षवर्धन और कुमारराज भी कहते हैं। वह एक बड़ा और प्रबल राजा

था और उसने अपने विजयों के तथा विद्या का सत्कार करने के कारण विक्रमादित्य के राज के स्मरण को पुनर्जीवित किया। छः वर्षों में उसने "पाँचों खंडों" को जीत लिया परन्तु वह महाराष्ट्रों के महाराजा पोलकेशिन द्वितीय को पराजित नहीं कर सका। मालव लोगों को उसने हराया और राज्यश्री को पुनः प्राप्त किया और उसने कामरूप के राजा भास्कर वर्मन् के साथ जिसे कुमारराज भी कहते हैं, एक सन्धि कर ली।

हर्षवर्द्धन वा शीलादित्य द्वितीय की एक तांबे की मोहर पाई गई है जिसमें उसकी वंशावली दी है। उसमें खुदा हुआ लेख बहुत छोटा है और उससे विदित होता है कि आदित्यवर्द्धन, राज्यवर्द्धन और महादेवी का पुत्र था; आदित्यवर्द्धन और महासेनगुप्ता का पुत्र प्रभाकरवर्द्धन हुआ, और प्रभाकरवर्द्धन का छोटा भाई यशोमति से हुआ।

हुएनत्सांग के वृत्तान्त से हमें विदित होता है कि शीलादित्य की राजधानी कान्यकुब्ज वा कन्नौज में थी और वह पांचवें वर्ष धर्म सम्बन्धी त्योहार को करने के लिये राजाओं और सर्वसाधारण का एक बड़ा समूह एकत्रित करता था। हमें यह भी विदित होता है कि शीलादित्य एक दृढ़ बौद्ध था, यद्यपि वह ब्राह्मणों का भी आदर सत्कार करता था।

शीलादित्य हर्षवर्द्धन विद्या का एक प्रसिद्ध रक्षक था, और कहा जाता है कि रत्नावली और बौद्धनाटक नागानन्द उसी का बनाया हुआ है। परन्तु वास्तवतः उनमें से किसी

का भी वह ग्रन्थकार नहीं है, यद्यपि ये दोनों ही ग्रन्थ उसकी सभा में बनाए गए थे। रत्नावली का ग्रन्थकर्ता सम्भवतः बाण भट्ट है जिसने कि कादम्बरी और हर्षचरित्र बनाया है। दशकुमारचरित्र का ग्रन्थकार दण्डिन बाणभट्ट के पहिले और कालिदास के उपरान्त हुआ है और उसने कालिदास का उल्लेख किया है। यह सम्भव है कि दण्डिन उस समय जीवित रहा हो जब कि बाणभट्ट ने उसी का अनुकरण करते हुए कादम्बरीनाम का बहुत बढ़ाचढ़ा उपन्यास लिखा।

संस्कृत का दूसरा प्रसिद्ध उपन्यास सुवन्धु का बनाया हुआ वासवदत्ता है। सुवन्धु बाणभट्ट का समकालीन था, यद्यपि उसने अपना ग्रंथ बाणभट्ट से कदाचित कुछ पहिले लिखा है, क्योंकि बाणभट्ट ने बहुधा उसके वाक्य उद्धृत किए हैं। इस प्रकार हमें संस्कृत के तीनों सर्वोत्तम गद्य के उपन्यासों का समय विदित होगया।

बाणभट्ट के नाम के साथ मयूर के नाम का भी अनेक स्थान पर उल्लेख है और एक दन्तकथा ऐसी है कि बाण ने मयूर की एक चण्डी अर्थात् लड़ाकी कन्या के साथ विवाह किया था। यह मयूर "मयूर शकत" नाम की पुस्तक का ग्रन्थकार है।

इससे अधिक प्रसिद्ध नाम भर्तृहरि का है। प्रोफेसर मेक्समूलर साहब ने अपनी एक मनोरञ्जक टिप्पणी में चीन के यात्री इट्सिग का प्रमाण देकर दिखलाया है कि भर्तृहरि की मृत्यु लगभग ६५० ईस्वी में हुई अर्थात यों समझिए कि शृङ्गार नीति और वैराग्य शतकों का ग्रन्थकार शीलादित्य द्वितीय का समकालीन था।

भट्टि काव्य जो कि व्याकरण सीखने का एक सहज और मनोरञ्जक ग्रन्थ है, हिन्दू विद्यार्थियों को भर्तृहरि के शतकों की अपेक्षा अधिक ज्ञात है। भट्टि काव्य के भाष्यकार कन्दर्प, विद्याविनोद, श्रीधर स्वामिन् आदि इस ग्रंथ को भर्तृहरि का बनाया हुआ कहते हैं। अन्य भाष्यकारों ने भर्तृ के नाम को बहुधा भट्टि कहा है और सब बातों पर विचार करने से यह बहुत सम्भव जान पड़ता है कि शतकों का और भट्टि काव्य का ग्रन्थकार एक ही मनुष्य भर्तृ या भट्टि है। प्रोफेसर मेक्समूलर साहब ने अपने इस अनुमान को दृढ़ करने के लिये चीन के उपरोक्त यात्री का प्रमाण दिया है।

कन्नौज के बड़े सम्राट् शीलादित्य के समय में विद्या की ऐसी उन्नति थी वह पांचवें वर्ष अपने त्योहारों में उत्तरी भारतवर्ष के सब राजा प्रजा को एकत्रित करता था, और समस्त उत्तरी भारतवर्ष का अधिपति था। हम पहिले देख चुके हैं कि ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त भी इसी सम्राट् के समय में हुआ है।

शीलादित्य की मृत्यु लगभग ६५० या ६५८ ईस्वी में हुई। इसके ५० वर्षों के उपरान्त इस बड़े सम्राट् की गद्दी पर केवल एक छोटा सा राजा रह गया था। कन्नौज की शक्ति और प्रताप अब नहीं रहा था और काश्मीर के राजा ललितादित्य ने कन्नौज के राजा यशोवर्म्मन् को युद्ध में पराजित कर दिया था। परन्तु उज्जयिनी में दो शताब्दियों से पहिले साहित्य का जो प्रदीप जलाया गया था वह अब तक भी यशोवर्म्मन् की सभा में चमक रहा था

अर्थात् भारतवर्ष का सब से बड़ा एक कवि भवभूति इसी राजा की सभा में था। उसे प्रायः उन महान कवियों में से अन्तिम समझना चाहिए जो कि भारतवर्ष में छठीं और आठवीं शताब्दी में हुए हैं। राजतरंगिणी से कि जिससे हमें यह वृत्तान्त विदित होता है, यह भी विदित होता है कि दो अन्य ग्रन्थकार अर्थात् वाक्पति और राज्यश्री इसी यशोवर्म्मन् की सभा में थे।

यदि ये तीनों शताब्दियां अर्थात् ५०० ईस्वी से ले कर ८०० ईस्वी तक उत्तर काल के संस्कृत साहित्य के इतिहास में सब से उतम समझी जाती हैं तो वे हिन्दुओं और बौद्धों में अप्रतिरोध और मित्रवत हिस्का होने के लिये भी प्रसिद्ध हैं। परन्तु इस समय में इन दोनों धर्म्मों के अनुयायियों में विवाद हो रहे थे और प्रसिद्ध शंकाराचार्य्य जो कि ८ वीं शताब्दी के अन्त में हुआ हिन्दू धर्म्म को पुनर्जीवित करने का बड़ा भारी पक्षपाती और बौद्ध धर्म्म का सब से बड़ा विरोधी हुआ।

इसके उपरान्त अन्धकार का समय हुआ और ८०० से लेकर १००० ईस्वी तक हिन्दू साहित्य विज्ञान वा शिल्प के इतिहास में एक भी प्रसिद्ध नाम नहीं मिलता।

अध्याय २

हुएनत्सांग का भारतवर्ष का वृत्तान्त।

अब हम चीन के प्रसिद्ध यात्री हुएनत्सांग के लेखों का वर्णन करेंगे जिनसे कि सातवीं शताब्दी में भारतवर्ष की अवस्था का बहुत कुछ इतिहास प्रगट हुआ है। उसने सन् ६२९ ईस्वी में चीन से प्रस्थान किया और वह क्रमशः समरकन्द, बुखारा और बल्क में होता हुआ भारतवर्ष में आया और यहां बहुत वर्षों तक भ्रमण करता हुआ अन्त में सन् ६४५ ईस्वी में चीन को लौट गया। भारतवर्ष के इतिहास के आरम्भ में वह हिन्दुओं की चाल व्यवहार और उनके शिल्प का वर्णन करता है जिस पर कि हम आगे चल कर विचार करेंगे यहां पर इस यात्री ने जिन हिन्दू राज्यों का वर्णन किया है उनके विषय में हम लिखेंगे।

जिले जलालाबाद की प्राचीन राजधानी नगरहार घेरे में चार मील थी। इस नगर में अन्न तथा फल बहुतायत से होते थे। यहां के लोगों की चाल व्यवहार सीधी और सच्ची थी और उनके स्वभाव उत्साहपूर्ण और वीरोचित थे। यहां बौद्ध धर्म्म का बड़ा प्रचार था परन्तु यहां हिन्दू धर्मावलम्बी लोग भी थे और नगर में पांच देवालय तथा लगभग १०० पूजा करने वाले लोग थे। नगर के पूर्व ओर अशोक का बनाया हुआ ३०० फीट ऊंचा एक स्तूप था जो कि सुन्दर काम किए हुए पत्थरों से अद्भुत रीति से बना था। यहां बहुत संघाराम थे और इनमें [illegible] एक नगर चार मील दक्षिण पश्चिम था जिसमें [illegible]

दीवार और ढेर किए हुए पत्थरों का कई खण्ड का बुर्ज और २०० फीट ऊंचा एक स्तूप था ।

गान्धार राज्य की राजधानी पेशावर में थी और नगरहार तथा गान्धार दोनोंही उस समय (हिन्दूकुश के निकट) के राजा के अधीन थे और उसी के नायब लोग इन देशों में राज्य करते थे । गान्धार के नगर और गांव उजाड़ होगए थे और उनमें बहुत ही थोड़े निवासी रह गए थे । नगर में अन्न बहुतायत से पैदा होता था और प्रजा कायर पर साहित्य से प्रीति रखने वाली थी । उनमें एक हज़ार संघाराम उजाड़ और टूटे फूटे पड़े थे और हिन्दुओं के १०० मन्दिर भी थे ।

गान्धार राज्य का वर्णन करते हुए हुएनत्सांग हमें मनोहृत नामी एक बौद्ध लेखक की कुछ कथा भी सुनाता है । वह सुप्रसिद्ध विक्रमादित्य के नगर में रहता था परन्तु विक्रमादित्य हिन्दूधर्म और हिन्दू विद्या का संरक्षक था और उसकी सभा में किसी धर्म सम्बन्धी विवाद में मनोहृत का अपमान हुआ और उसने यह कह कर घृणा से सभा को छोड़ दिया कि "पक्षपालियों के समूह में न्याय नहीं रहता" परन्तु विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी शीलादित्य विद्वानों का संरक्षक था और उसने मनोहृत के शिष्य वसुबन्धु का सत्कार किया और उसके यहां के हिन्दू पण्डितों ने लज्जित होकर सभा छोड़ दी । दूसरे स्थान पर मालवा का वृत्तान्त लिखते हुए हुवेनत्सांग कहता है के शीलादित्य मेरे समय से ६० वर्ष पहिले अर्थात् सन ५८० ईसवी के लगभग हुआ था और इस कारण विक्रमादित्य के

राज्य का समय ५५७ ई० के पहिले निश्चित होता है और यह समय हमारे निश्चित किए हुए समय से मिलता है।

पोलुश नगर के निकट हमारा यात्री एक ऊंचे पर्वत पर पहुंचा और वहां उसने नीले पत्थर को काट कर बनाई हुई भीम या देवी (दुर्गा) की एक मूर्ति देखी। वहां निकट और दूर देशों के सब गरीब और धनाढ्य लोग एकत्रित होते थे और व्रत तथा स्तुति के पश्चात मूर्ति का दर्शन करते थे। पर्वत के नीचे महेश्वर का एक मन्दिर था और वहां वे हिन्दू सम्प्रदाय के लोग जो कि अपनी देह में राख लगाए रहते थे (पाशुपत) पूजा के लिये आते थे। इन स्थानों से हुएनत्सांग वैयाकरण पाणिनि के जन्म स्थान सलातुर में आया।

उद्यान अर्थात काबुल के चारों ओर के देश में जहां कि दो शताब्दी पहिले फाहियान ने बौद्ध धर्म्म का प्रचार देखा था हुएनत्सांग ने संघारामों को उजाड़ और निर्जन पाया और उनमें बहुत ही थोड़े सन्यासी रह गए थे। वहां देवों के १० मन्दिर थे।

सिन्धु नदी को पार करके यह यात्री पर्वतों को लांघता हुआ छोटे तिब्बत में पहुंचा। "यहां की सड़क ऊंची नीची और ढालुआं है पर्वत और दर्रे अन्धकारमय हैं। कहीं कहीं पर हमें रस्सों के द्वारा और कहीं पर फैले हुए लोहे के सिक्कड़ों के द्वारा नालों को पार करना पड़ता है। खंदकों के आर पार हवा में लटके हुए पुल हैं।" छोटे तिब्बत से हुएनत्सांग तक्षशिला और सिंहपुर को जो कि काश्मीर राज्य के अधीन थे, गया। सिंहपुर में जो

श्वेताम्बरी और दिगम्बरी जैनी लोग मिले। "उनके संस्थापक के नियम अधिकांश बौद्ध ग्रन्थों के सिद्धान्तों से लिए गए हैं.. ... अपने पूज्य देव (महावीर) की मूर्ति को वे चोरी से तथागत बुद्ध की श्रेणी में रखते हैं, उसमें केवल कपड़े का भेद रहता है। सुन्दरता में वह बिलकुल एक सी है"। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हुनत्सांग का यह विचार था कि जैनियों की सम्प्रदाय कुछ बौद्धों के जुदा होने से बन गई है।

काश्मीर का घेरा १४०० मील कहा गया है और उसकी राजधानी २॥ मील लम्बी और १ मील चौड़ी थी। यहां अन्न उपजता था और फल फूल बहुतायत से होते थे। यहां की जल वायु ठंढी और कठोर थी। यहां बर्फ बहुत होती थी परन्तु हवा की कमी थी। लोग भीतर चमड़े के कपड़े और उसके ऊपर सफेद पटुए पहिनते थे। वे लोग हल्के और तुच्छ, निर्बल और कायर स्वभाव के होते थे चेहरा सुन्दर होता था परन्तु वे बड़े धूर्त होते थे। वे लोग विद्या के प्रेमी और सुशिक्षित थे। उनमें हिन्दू और बौद्ध दोनों ही थे। वहां १०० संघाराम और ५००० सन्यासी थे। काश्मीर में अब तक कनिष्क का यश व्याप्त था और हमारे यात्री ने इस बड़े राजा के विषय में भी लिखा है। यहां तथा अन्यत्र हुनत्सांग ने बुद्ध के निर्वाण का समय अशोक के १०० वर्ष पहिले लिखा है। अतएव उसके इस कथन से कि "थतागत के निर्वाण के ४०० वर्ष पीछे गान्धार का राजा कनिष्कराज गद्दी पर बैठा, उसके राज्य का यश दूर दूर तक फैला और उसने दूर के देशों को अपने

अधीन किया" हमें यह समझना चाहिए कि उनके अनुसार कनिष्क अशोक के ३०० वर्ष उपरान्त अर्थात् लगभग ५८ ई० में हुआ और यह तिथि हमारी दी हुई तिथि तथा शक संवत के समय से मिलती है।

कनिष्क के सम्बंध में हमारा यात्री उसके राज्य काल की उत्तरी बौद्धों की सभा का वृत्तान्त लिखता है। वह कहता है कि वहां जो ५०० अरहत लोग एकत्रित हुए थे उन्होंने तीन टीकाएं बनाईं अर्थात उपदेश शास्त्र, जिसमें सूत्र पितक की टीका की है; विनय विभाषा शास्त्र जिसमें विनय पतिक की टीका की है, और अभिधर्म विभाषा शास्त्र जिसमें अभिधर्म पितक की व्याख्या है।

कनिष्क के ही सम्बंध में हमारा यात्री कहता है कि चीन के अधीनस्थ राजा लोग इस प्रतापी सम्राट के पास अपने विश्वासी आदमी भेजते थे और वह उनसे बड़े आदर के साथ बर्ताव करता था और उसने उनके रहने के लिये रावी और सतलज के बीच का देश नियत किया था इसी कारण

ह्वेनत्सांग ने बौद्धों को बड़ा दुःख देने वाले मिहिरकुल का भी वर्णन किया है। कुछ शताब्दी हुई कि मिहिरकुल ने रावी के पश्चिम साकल के नगर में अपना अधिकार जमाया। ह्वेनत्सांग कहता है कि इस भयानक मिहिरकुल ने पांचों खंडों में सब पुजेरियों का नाश करने की आज्ञा दी जिसमें कि बुद्ध के धर्म्म का अंत हो जाय और उसकी कोई बात शेष न रह जाय। इस प्रबल राजा ने मगध के राजा बालादित्य पर आक्रमण किया परंतु वहां वह पकड़ा गया और अपमान के साथ छोड़ दिया गया और वह काश्मीर लौटा और वहां राजद्रोह खड़ा करके उसने राजा को मार डाला और स्वयं राजगद्दी पर बैठगया। उसने गान्धार को विजय किया, वहां के राज्य वंश को जड़ से उखाड़ डाला बौद्ध धर्म्म और स्तूपों तथा संघारामों का नाश किया और सिंध नदी के तटों पर तीन लाख मनुष्यों का बध किया। इसमें बौद्ध लेखक की कुछ अत्युक्ति भी समझ लेनी चाहिए परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि काश्मीर का मिहिरकुल बौद्धों का एक बड़ा बिरोधक और नाश करने वाला था।

ह्वेनत्सांगश शतद्रु (सतलज) के राज्य से बड़ा प्रसन्न हुआ जो कि ४०० मील के घेरे का था और जिसकी राजधानी का घेरा साढ़े तीन मील था। इस देश में अन्न, फल, सोने चांदी और रत्न बहुतायत से थे। यहां के लोग चमकीले रेशम के बहु मूल्य और सुन्दर वस्त्र पहिनते थे। उनके आचरण नम्र और प्रसन्न करने वाले थे वे पुण्यात्मा थे

और बुद्ध के धर्म्म पर विश्वास करते थे। परन्तु संघाराम शून्य थे और उनमें बहुत ही कम पुजेरी रहते थे।

मथुरा के देश का घेरा १००० मील था और उसके मुख्य नगर का घेरा ४ मील। वहां की भूमि बड़ी उपजाऊ थी और इस देश में रूई और स्वर्ण होता था। लोगों के आचरण नम्र और सुशील थे और वे लोग पुण्य और विद्या का सत्कार करते थे। वहां २० संघाराम और लगभग २००० पुजेरी थे। व्रत के तीनों महीनों (पहिले, पांचवें, और नवें महीनों) में छः छः व्रत करने वाले दिनों में स्तूपों की पूजा करते थे। "वे लोग अपनी रत्नजटित पताका को खड़ा करते हैं, बहुमूल्य छातों के झुण्ड जाल की नाईं देख पड़ते हैं, धूप का धुआं बादल की भांति उठता है, चारों ओर फूल वृष्टि की नाईं फेंके जाते हैं, सूर्य और चन्द्रमा इस भांति छिप जाते हैं मानो घाटियों के ऊपर के बादल से ढक लिए गए हों। देश का राजा और बड़े बड़े मंत्री इन धर्म्म कार्यों में उत्साह के साथ लगते हैं।"

थानेश्वर के राज्य का घेरा १५०० मील था और उसकी राजधानी का घेरा ४ मील। वहां की जल वायु गरम और भूमि बड़ी उपजाऊ थी परन्तु वहां लोग बड़े [illegible] और विलास में आसक्त थे। इस की राजधानी प्राचीन कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल के निकट थी और हमारे यात्री ने इस युद्ध की कथा अपने ढंग से कही है। [illegible] [illegible] राजाओं के लड़ने में बांट लिया और यह प्रसिद्ध किया कि जो कोई इस होने वाले युद्ध में मारा जायगा वह मुक्ति पावेगा। इस [illegible] [illegible] से यह आरम्भ हुआ और [illegible]

लकड़ियों की नाईं मृतकों के ढेर लग गए और उस समय से आज तक यह भूमि सर्वत्र उनकी हड्डियों से ढकी हुई है।

अघ्र (उत्तरी द्वाब) का राज्य जिसके पूरब में गंगा और उत्तर में हिमालय था, १२०० मील के घेरे का था। हमारे पाठकों को यह स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि ह्वेनत्सांग के २००० वर्ष पहिले यही प्राचीन कुरु लोगों की भूमि थी। हमारा यात्री गंगा की लहरों से आश्चर्य्यित हुआ जो विस्तृत समुद्र की नाईं बह रही थी और "असंख्य पापों को धोने वाली" समझी जाती थी। मतिपुर (पश्चिमी रुहेलखण्ड) का, जिसका घेरा १२०० मील था, वर्णन करने के उपरान्त ह्वेनत्सांग ने गंगा के उद्गम स्थान अर्थात मायापुरी अथवा हरिद्वार का वर्णन किया है। यह नगर ४ मील के घेरे में था। "नगर से थोड़ी ही दूर गंगा नदी के तट पर बड़ा देव मंदिर है जहां कि अनेक प्रकार के चमत्कार किए जाते हैं। उसके बीच में एक तालाब है जिसके तट कारीगरी के साथ पत्थर के बने हैं, उसमें से गंगा नदी एक नहर के द्वारा बहाई गई है। पञ्जाब के लोग उसे गंगाद्वार कहते हैं। यहीं पुण्य प्राप्त होता है और पाप का नाश हो जाता है। यहां सदा हजारों मनुष्य दूर दूर से इसके जल में स्नान करने के लिये एकत्रित होते हैं। अतएव सातवीं शताब्दी में ही हरिद्वार हिन्दुओं का एक प्रसिद्ध तीर्थ और धर्म्मात्मा हिन्दुओं के एकत्रित होने का स्थान हो गया था।

हमारा यात्री सीधे हिमालय के नीचे के देशों में गया और वह वहां के एक ब्रह्मपुर राज्य का वर्णन करता है (जो कि आज कल का गढ़वाल और कमाऊं जाना गया है) "जहां स्वर्ण होता था और जहां बहुत काल तक स्त्री ही शासक रही हैं और इसलिये यह स्त्रियों का राज्य कहलाता है। राज्य करने वाली स्त्री का पति राजा कहलाता है परन्तु वह राज काज की कोई बात नहीं जानता। मनुष्य केवल युद्ध का प्रबन्ध करते हैं और भूमि जोतते बोते हैं। बस केवल इतना ही कार्य उनका है। यह वर्णन निस्सन्देह हिमालय के नीचे के देशों की पहाड़ी जातियों का है। इन लोगों में आज तक भी स्त्रियों को अनेक पति के साथ विवाह कर लेने की रीति प्रचलित है।

अन्य कई देशों में होते हुए ह्युयेनत्सांग कान्यकुब्ज के राज्य में आया जिसे कि ह्युयेनत्सांग के समय में दो हजार वर्ष की प्राचीन सभ्यता का सत्कार प्राप्त था। क्योंकि जिस समय मगध असभ्य आदिमवासियों का राज्य था उस समय पांचाल लोगों ने अपनी आदि सभ्यता की उन्नति की थी। और यद्यपि मगध ने अजातशत्रु और चन्द्रगुप्त तथा प्रतापी अशोक के समयों में इस देश को दबा लिया था तथापि जान पड़ता है कि सन् ईस्वी के पश्चात् शताब्दियों में कान्यकुब्ज ने पुनः अपना स्थान प्राप्त किया था और यह गुप्त सम्राटों का प्रधान देश हो गया था। और ह्युयेनत्सांग के समय में भारतवर्ष के अधिपति शीलादित्य द्वितीय की सभा यहां कान्यकुब्ज के प्राचीन नगर में हुई थी।

ह्वेनत्सांग ने कान्यकुब्ज राज्य का घेरा ८०० मील पाया और उसकी सम्पन्न राजधानी ४ मील लम्बी और १ मील चौड़ी थी। नगर के चारों ओर एक खाई थी, आमने सामने दृढ़ और ऊंचे बुर्ज थे। चारों ओर कुंज और फूल झील और तालाब दर्पण की नाईं चमकते हुए देख पड़ते थे। यहां वाणिज्य की बहुमूल्य वस्तुओं के ढेर एकत्रित किए जाते थे। लोग सुखी और संतुष्ट थे घर धनसंपन्न और सुदृढ़ थे। फूल और फल सर्वत्र बहुतायत से होते थे और भूमि जोती बोई जाती थी, और उसकी फस्ल समय पर काटी जाती थी। यहां की जल वायु अच्छी और हलकी थी और लोग सच्चे और निष्कपट थे। वे देखने में सज्जन और कुलीन जान पड़ते थे। पहिनने के लिये वे कामदार और चमकीले वस्त्र काम में लाते थे, वे विद्याध्ययन में अधिक लगे रहते थे और यात्राओं में धर्म्म सम्बन्धी विषयों पर बहुत अधिक वादविवाद करते थे। उनकी शुद्ध भाषा की प्रसिद्धि बहुत दूर दूर तक फैल गई थी। यहां बौद्धों और हिन्दुओं की संख्या समान थी। यहां कोई १०० संघाराम और १०००० पुजेरी थे। देव मन्दिर २०० थे और उनके पूजने वाले कई हजार लोग थे।

एक बार के लिये ह्वेनत्सांग अपने साधारण नियम को छोड़ कर उस देश के इतिहास का भी कुछ वृत्तान्त लिखता है। वह कहता है कि कान्यकुब्ज का राजा पहिले प्रभाकर वर्द्धन था, और उसकी मृत्यु पर उसका सब से बड़ा पुत्र राज्य वर्द्धन राजा हुआ परन्तु कर्ण सुवर्ण (बंगाल) के राजा शशांक (नरेन्द्रगुप्त) ने उसे हराया और मार डाला

और उसके मंत्रियों ने उसके छोटे भाई हर्षवर्द्धन को शील-
दित्य के नाम से गद्दी पर बैठाया। हुएनत्सांग इस शीला-
दित्य से मिला और उसने उसका कृपा के साथ सत्कार
किया। यह शीलादित्य द्वितीय था क्योंकि हम पहिले दिखला
चुके हैं और फिर आगे चल कर मालव के वृत्तान्त में
दिखलावेंगे कि शीलादित्य प्रथम हुएनत्सांग के ६० वर्ष पूर्व
हुआ। शीलादित्य द्वितीय ने ६१० से ६५० तक राज्य किया।

शीलादित्य द्वितीय अपने बल को प्रकाशित करने में
ढीला नहीं था। उसने ५००० हाथियों २००० हजार घोड़
सवारों और ५०००० पैदल सिपाहियों की सेना एकत्रित की
और ६ वर्षों में उसने पञ्जाब को अपने अधीन कर लिया।

वह बौद्ध धर्म्म को मानने वाला था और उसने जीवों
के वध का निषेध किया, स्तूप बनवाए, भारतवर्ष की
समस्त सड़कों पर चिकित्सालय बनवाए, वैद्यों को नियत
किया और भोजन जल तथा औषधियों का प्रबन्ध किया।
पांचवें वर्ष वह बौद्धों के धार्म्मिक त्योहार में बड़ा भारी
समूह एकत्रित करता था और बहुत दान देता था।

जिस समय हुएनत्सांग कामरूप के राजा के साथ
नालंद के संघाराम में ठहरा हुआ था तो शीलादित्य ने
राजा को यह कहला भेजा "मैं चाहता हूं कि तुम उस
विदेशी श्रमण के साथ जो कि नालंद के संघाराम में तुम्हारा
अतिथि है इस समूह में तुरन्त आओ"। इस प्रकार हमारा
यात्री कामरूप के राजा के साथ गया और शीलादित्य से
उसका परिचय हुआ। शीलादित्य ने हमारे यात्री से
उसके देश के विषय में अनेक प्रश्न पूछे और उसके वृत्तान्त से

वह बहुत प्रसन्न हुआ। शीलादित्य कान्यकुब्ज लौटने वाला था इस कारण उसने धार्म्मिक समूह को एकत्रित किया और लाखों मनुष्यों के साथ गंगा के दक्षिणी किनारे से यात्री की और साथ ही साथ कामरूप के राजा ने उत्तरी किनारे से। ९० दिन में वे लोग कान्यकुब्ज पहुंचे।

तब बीस देशों के राजा लोग जिन्हें शीलादित्य ने आज्ञा दी थी, अपने देश के प्रसिद्ध श्रामणों और ब्राह्मणों तथा प्रसिद्ध प्रसिद्ध प्रबन्धकर्त्ताओं और सैनिकों के सहित एकत्रित हुए। यह वास्तव में राजकीय धार्म्मिक समूह था और शीलादित्य ने गंगा के पश्चिम ओर एक संघाराम और उसके पूरव ओर १०० फीट ऊंचा एक बुर्ज बनाया और उनके बीच उसने बुद्ध की मनुष्य के कद की स्वर्ण की मूर्त्ति स्थापित की। और उस मास की अर्थात् वसन्त ऋतु के ३ मास की पहिली तिथि से २१ वीं तिथि तक वह श्रामणों और ब्राह्मणों को समान रीति से भोजन कराता रहा। संघाराम से लेकर राजा के वहां बने हुए महल तक सब स्थान तम्बुओं और गानेवालों के खेमों से सज्जित था। बुद्ध की एक छोटी मूर्त्ति एक बहुत ही सजे हुए हाथी के ऊपर रक्खी जाती थी और शीलादित्य इन्द्र की भांति सजा हुआ उस मूर्त्ति की बाईं ओर और कामरूप का राजा उसकी दहिने ओर पांच पांच सौ युद्ध के हाथियों की रक्षा में चलता था। शीलादित्य चारों ओर मोती और अन्य बहु-मूल्य वस्तुएं तथा सोने और चांदी के फूल फेंकता जाता था। मूर्त्ति को स्नान कराया जाता था और शीलादित्य उसे स्वयं अपने कन्धे पर रख कर पश्चिम के बुर्ज पर ले जाता

प्रगट होता है कि बौद्ध काल के अन्त में ब्राह्मण लोग किस ईर्षा असंतोष के साथ उस बौद्ध धर्म्म के जय और हर्ष को देखते थे जिसको उन्होंने इसके उपरान्त एक वा दो शताब्दियों में अन्तिम वार यत्न करके परास्त किया ।

हमारे यात्री ने अयोध्या के राज्य का घेरा १००० मील पाया और उसे अन्न फूल और फलों से भरा पूरा देखा । वहां की जल वायु अच्छी थी, न बहुत ठंढी थी न बहुत गरम । लोगों के आचरण पुण्यात्मक और मिलनसार थे । दूसरे स्थानों की नाईं यहां के लोग भी कुछ हिन्दू और कुछ बौद्ध थे, और इस देश में १०० संघाराम और तीन हजार अरहत थे ।

हयमुख राज्य में होकर ह्वेनत्सांग प्रयाग वा इलाहाबाद में आया । इस राज्य का घेरा तीन हजार मील था, और यहां की पैदावार बहुत थी और फल बहुतायत से होते थे । और यहां के लोग सुशील और भले मानुस और विद्या के अनुरागी थे परन्तु यहां बौद्ध धर्म्म का सत्कार नहीं किया जाता था और अधिकांश लोग कट्टर हिन्दू थे । ह्वेनत्सांग इलाहाबाद के उस बड़े वृक्ष का वर्णन करता है जो कि आज तक भी यात्रियों को अक्षयवट के नाम से दिखाया जाता है ।

"दोनों नदियों के संगम पर प्रति दिन सैंकड़ों मनुष्य स्नान करके मरते हैं । इस देश के लोग समझते हैं कि जो मनुष्य स्वर्ग में जन्म लेना चाहे उसे एक दाने चावल पर उपवास रखना चाहिए और तब अपने को जल में डुबा देना

४ मील लम्बी और एक मील चौड़ी थी। यहां के गृहस्थ लोग धनाढ्य थे और उनके यहां बड़ी बड़ी अमूल्य वस्तुएं थीं। यहां के लोग कोमल और दयालु थे और वे विद्याध्ययन में लगे रहते थे। इन में से अधिकांश हिन्दू थे और बहुत थोड़े लोग बौद्ध धर्म्म का सत्कार करने वाले थे। यहां तीस संघाराम और लगभग ३००० पुजेरी थे परन्तु देवमन्दिर लगभग १०० के थे और उन में पूजने वाले १०००० मनुष्य थे। बनारस में विशेषत: महेश्वर की पूजा की जाती थी। कुछ लोग अपने बाल कटवा कर नंगे रहते थे और अपने शरीर में भभूत लगाकर पुनर्जन्म से बचने के लिये सब प्रकार की तपस्याओं की साधना करते थे।

बनारस के नगर में बीस देवमन्दिर थे जिनके बुर्ज और दलान नकाशीदार पत्थर और लकड़ियों के बने थे। मन्दिर वृक्षों की छाया में थे और उनके चारों ओर स्वच्छ जल के नाले थे। महेश्वर की एक तांबे की मूर्ति १०० फ़ीट ऊंची थी। "उस का रूप गम्भीर और तेजपूर्ण है और वह सचमुच जीवित सी जान पड़ती है"।

नगर के उत्तर पूरब ओर एक स्तूप था और उस के सामने एक लोहे का खम्भा था जो कि दर्पण की भाँति उज्ज्वल और चमकदार था और उसकी धरातल बरफ की भाँति चिकनी और चमकीली थी। वरुणा नदी से दो मील पर मृगदाय का बड़ा संघाराम था। बुद्ध ने मृगदाय में पहिले पहल अपना धर्म्म प्रकाशित किया था। इस संघाराम के आठ भाग थे और खण्डदार बुर्ज तथा उसके आगे निकले हुए बालाखानों और गुफाओं में बहुत ही उत्तम काम था।

इस बड़े घेरे में २०० फ़ीट ऊंचा एक विहार था और इस के ऊपर एक सोनहला आम का फल बना हुआ था। विहार की नेंव पत्थर की थी परन्तु बुर्ज और सीढ़ियां ईंटों की थीं। विहार के बीचोबीच बुद्ध की एक आदमकद मूर्ति थी जिसमें कि बुद्ध धर्म के पहिए को फेरता हुआ दिखलाया गया था। यह मूर्ति इस स्थान के लिये बहुत ही उपयुक्त है जहां कि इस महान उपदेशक ने अपने धर्म के पहिए को पहिले पहल चलाया था।

अन्य स्थानों में होते हुए हुएनत्सांग वैशाली में आया। यह राज्य १३०० मील के घेरे में था, पर इसकी राजधानी खंडहर हो गई गई थी। इस देश की भूमि उपजाऊ थी और यहां अन्न और फल बहुतायत से होते थे। यहां की जल वायु अच्छी और मातदिल थी और यहां के लोग नम्र और सच्चे थे। हिन्दू और बौद्ध लोग साथ ही साथ रहते थे। संघाराम अधिकांश खंडहर थे और इनमें से तीन या चार जो अब तक थे उनमें बहुत ही थोड़े सन्यासी रहते थे। देव मन्दिर बहुत थे।

उत्पन्न हुई और उसने "जो नियम टूट गए थे उन्हें फिर से दृढ़ किया और पवित्र नियम को स्थापित किया ।"

हमारा यात्री तब नेपाल में गया परन्तु वहां के लोगों के विषय मे उसकी अच्छी सम्मति नहीं है । वह कहता है कि वे लोग झूठे और विश्वासघातक थे, उनका स्वभाव कठोर और क्रोधी था और वे सत्य अथवा सम्मान पर कोई ध्यान नहीं देते थे । उनका स्वरूप कुढंगा और भयानक था। नेपाल से ह्वेनत्सांग वैशाली को पुनः लौटा और वहां से गंगा नदी को पार करके मगध में पहुंचा जो कि उसके लिये पवित्र मंडली से भरा हुआ था । उसने जो १२ पुस्तकें लिखी हैं उनमें से पूरी दो पुस्तकें उन कथाओं दृश्यों तथा पवित्र चिन्हों के विषय मे है जिन्हें कि उसने मगध में पाया था ।

मगध का राज्य एक हज़ार मील के घेरे में था। दीवार से घिरे हुए नगरों की बस्ती बहुत कम थी परन्तु कसबों की बस्ती घनी थी। भूमि उपजाऊ थी और उसमें अन्न बहुतायत से होता था । यह देश नीचा और नम था और इस कारण बस्ती ऊंची भूमि पर थी। बरसात में सारा देश पानी से भर जाता था और तब लोग नांव के द्वारा बाहर आते जाते थे। लोग सीधे और सच्चे थे, वे विद्या का सत्कार करते थे, और बुद्ध के धर्म को मानते थे । उसमें ५० संघाराम थे जिनमे १०००० अर्हत थे और १० देव मन्दिर थे जिनके बहुत से अनुयायी थे ।

पाटलीपुत्र का प्राचीन नगर जो कि फाहियान के समय तक बसा हुआ था अब बिलकुल उजड़ गया था और

करते है उस समय यहां सब स्थानों से हजारों और लाखों धार्म्मिक मनुष्य आते हैं और सात दिन और सात रात वे लोग इस जिले में भ्रमण करते हुए तथा दर्शन और पूजा करते हुए फूलों की वर्षा करते हैं, धूप जलाते हैं और गाते बजाते हैं। बौद्धों के उत्सव भारतवर्ष में एक बीती हुई बात हैं और इतिहास जानने वालों के लिये उस समय के लोगों के वृत्तान्त से यह बात देखनी आवश्यक हैं कि अपने समय में वे उतनी ही धूम धाम और उतनी ही प्रसन्नता और बाहरी अडंबर के साथ किए जाते थे जैसे कि उत्तर काल मे हिन्दुओं के त्योहार।

हुएनत्सांग राजगृह में आया जो कि अजातशत्रु और बिंबसार के समय में मगध की प्राचीन राजधानी था। नगर की बाहरी दीवारें नष्ट हो गई थीं और भीतर की दीवारें अब तक गिरी पड़ी दशा में वर्तमान थीं और वे ४ मील के घेरे में थीं। हमारे यात्री ने उस बड़ी गुफा वा पत्थर के मकान को देखा जिसमें कि गौतम की मृत्यु के उपरान्त तत्काल पहिला संघ हुआ था। इस संघ का सभा-पति काश्यप था और उसने कहा था "आनन्द जो कि तथागत के शब्दों को बराबर सुनता था सूत्रपितकों को गाकर एकत्रित करै। उपाली जो कि शिक्षा के नियमों को स्पष्ट रीति से समझता है और जिसे सब जानने वाले लोग भली भांति जानते हैं, विनयपितक को संग्रहीत करै और मैं काश्यप धर्म्मपितक को एकत्रित करूंगा।" वर्षा ऋतु के तीन मास व्यतीत होने पर त्रिपितक का संग्रह समाप्त हो गया।

नालंद का बड़ा बिहार जहां कि विश्वविद्यालय था उसके योग्य था। कहा जाता है कि चार राजाओं में अर्थात् शक्रादित्य, बुद्ध गुप्त, तथागत गुप्त और बालादित्य ने बराबर इस बड़ी इमारत को बनवाने में परिश्रम किया और उसके बन जाने पर वहां जो बड़ी सभा हुई उसमें २००० मील दूर दूर से लोग एकत्रित हुए। इसके उपरान्त के राजाओं ने इसके आस पास के बहुत से दूसरे दूसरे बिहार बनवाए थे। उनमें से एक बड़ा बिहार जिसे कि बालादित्य ने बनवाया था सब से सुंदर था। वह ३०० फीट ऊंचा था और "सुंदरता, बड़ाई और बुद्ध की स्थापित मूर्त्ति में वह बोधि वृक्ष के नीचे के बड़े बिहार से समानता रखता है।"

मगध से हूनत्सांग हिरण्यपर्वत के राज्य में आया और इस राज्य को जेनरल कनिंघाम ने मुंगेर निश्चित किया है। इस राज्य का घेरा ६०० मील का था, यहां कि भूमि बहुत जोती जाती थी और बड़ी उपजाऊ थी, जल वायु अच्छी थी, और लोग सीधे और सच्चे थे। राजधानी के निकट मुंगेर के गरम सोते थे जिनमें से बहुत सा धुआं और भाफ निकलती थी।

चम्पा जो कि अंग वा पूर्वी बिहार की प्राचीन राजधानी थी हमारे आज कल के भागलपुर के निकट थी। इस राज्य का घेरा ८०० मील था और भूमि सम और उपजाऊ थी और वह नियमित रूप से जोती बोई जाती थी। जल वायु कोमल और गर्म थी और लोग सीधे और सच्चे थे। राजधानी की दीवारें कोई दस फीट ऊँची थीं और दीवार

लोग बुद्ध के धर्म्म को नहीं मानते थे और वे देवों की पूजा करते थे और वहां लगभग १०० देव मन्दिर थे। वहां एक भी बौद्ध संघाराम नहीं था। राजा जाति का ब्राह्मण था उसका नाम भास्कर वर्म्मन था, और उसे कुमार की पदवी थी। हमारे पाठकों को यह स्मरण होगा कि इसी राजा ने कन्नौज के प्रतापी शीलादित्य से हुनत्सांग का परिचय कराया था।

कामरूप के दक्षिण में समतत वा पूर्वी बंगाल था। इस राज्य का घेरा ६०० मील था, यहां की भूमि नीची और उपजाऊ थी और वह नियमित रीति से जोती बोई जाती थी। इसकी राजधानी ४ मील के घेरे में थी। यहां के लोग नाटे और काले रंग के थे परन्तु वे बलिष्ट और विद्या के अनुरागी थे तथा विद्योपार्जन में परिश्रम करते थे— और ये बातें पूर्वी बंगाल के लोगों में आज तक पाई जाती है। वहां कोई ३० संघाराम और लगभग दो हजार सन्यासी थे और देव मन्दिर लगभग १८० के थे। नंगे निर्ग्रन्थ लोग असंख्य थे।

समतत के उपरान्त ताम्रलिप्ति का राज्य अर्थात् तुमलूक देश अथवा दक्षिण पश्चिमी बंगाल था जिसमें आधुनिक मिदनापुर भी सम्मिलित है। यह देश ३०० मील के घेरे में था और इसकी राजधानी एक बंदरगाह थी। यहां के लोग बलवान और शूर थे परन्तु वे फुर्तीले और जल्दीबाज थे देश का किनारा ऐसा था कि समुद्र देश के भीतर कुछ घुस आया था और यहां पर अद्भुत अमूल वस्तुएं और रत्न एकत्रित होते थे और यहां के लोग धनाढ्य थे। यहां दस संघाराम और पचास देव मंदिर थे।

ह्वेनत्सांग इसके उपरान्त कर्णसुवर्ण का वर्णन करता है जो कि पश्चिमी बंगाल और आधुनिक मुर्शिदाबाद समझा गया है । हम देख चुके हैं कि इसी देश के राजा शशांक ने कन्नौज के प्रतापी शीलादित्य के बड़े भाई को हराया और मार डाला था । इस देश का घेरा ३०० मील था और इसकी बस्ती घनी थी। लोग विद्या के प्रेमी तथा सच्चे और मिलनसार थे । यहां की भूमि नियमित रूप पर जोती बोई जाती और जल वायु अच्छी थी । यहां दस संघाराम और पचास देव मंदिर थे ।

ऊपर के वृत्तान्त से पाठक लोग देखेंगे कि उस समय में खास बंगाल (अर्थात् बिहार और उड़ीसा को छोड़ कर) पांच बड़े बड़े राज्यों में बटा हुआ था। उत्तरी बंगाल में पुन्ड्र राज्य था, आसाम और उत्तर पश्चिमी बंगाल में कामरूप राज्य था, पूर्वी बंगाल समतत था, दक्षिण पश्चिमी बंगाल ताम्रलिप्ति था और पश्चिमी बंगाल कर्णसुवर्ण था । ह्वेन-त्सांग का उत्तरी भारतवर्ष का वृत्तान्त बंगाल के साथ समाप्त होता है । अब हम अपने योग्य पथदर्शक के साथ दक्षिणी भारतवर्ष का वृत्तान्त जानेंगे ।

उद्र वा उड़ीसा का राज्य १५०० मील के घेरे में था और उसकी राजधानी आधुनिक जयपुर के निकट पांच मील के घेरे में थी । यहां कि भूमि उपजाऊ थी और उसमें सब प्रकार के अन्न और बहुत से अद्भुत वृक्ष और फूल उत्पन्न होते थे परन्तु यहां के लोग असभ्य थे और उनका रंग पीलापन लिए हुए काला था और उन लोगों की भाषा

मध्य भारतवर्ष से भिन्न थी। परन्तु वे लोग विद्या के प्रेमी थे और उनका देश उस बौद्ध धर्म की रक्षा का स्थान था जिसका कि भारतवर्ष के अन्य स्थानों में पतन हो गया था। उसमें लगभग १०० संघाराम थे जिन में कोई दस हजार सन्यासी थे और देव मन्दिर केवल ५० थे।

उड़ीसा तीर्थस्थान पहिले ही हो गया था यद्यपि उस समय तक वहां पुरी का मन्दिर नहीं बना था। इस देश की दक्षिण पश्चिमी सीमा पर एक बड़े पर्वत पर पुष्पगिरि नामक एक संघाराम था और कहा जाता है कि इस संघाराम के पत्थर के स्तूप में एक अद्भुत प्रकाश मिलता था। बौद्ध लोग दूर दूर से इस स्थान पर आते थे और सुन्दर कार्चौबी के छाते भेंट करते थे और उन्हें गुम्बज के सिरे पर एक गुलदान के नीचे रखते थे और वे पत्थर में सूइयों की नाईं खड़े रहते थे। झंडा गाड़ने की रीति जगन्नाथ में आज तक प्रचलित है।

दक्षिण पश्चिम की ओर चरित्र नाम का एक बड़ा बन्दरगाह था। यहां से व्यापारी लोग दूर दूर देशों के लिये यात्रा करते हैं और विदेशी लोग आया जाया करते हैं और अपनी यात्रा में टिकते हैं। नगर की दीवार दृढ़ और ऊंची है। यहां सब प्रकार की अपूर्व और बहुमूल्य वस्तुएं मिलती हैं।

उड़ीसा के दक्षिण पश्चिम और चिल्का झील के तट पर कान्योध का राज्य था। यहां के लोग वीर और उद्योगी परन्तु वे काले और मैले थे। वे कुछ सुशील और बड़े सच्चे थे और लिखने में मध्य भारतवर्ष के अक्षर काम

में लाते थे परन्तु उन लोगों का उच्चारण बिलकुल भिन्न था। यहां पर बौद्ध धर्म्म का अधिक प्रचार नहीं था, हिन्दू धर्म्म प्रचलित था।

यह जाति बड़ी प्रबल थी, उसके नगर दृढ़ और ऊंचे थे और उसके सैनिक वीर और साहसी थे और वे लोग अपने बल से आस पास के प्रान्तों का शासन करते थे और कोई उन्हें नहीं रोक सकता था। उनका देश समुद्र के तट पर था इस कारण लोगों को बहुत सी अपूर्व और बहुमूल्य वस्तुएं मिल जाती थीं और लेन देन में कौड़ी और मोतियों को काम में लाते थे। बोझों को खींचने के लिये हाथी काम में लाए जाते थे।

इसके उत्तर पश्चिम की ओर एक बड़े जंगल के पार कलिंग का प्राचीन राज्य था। इस राज्य का घेरा १०० मील था और इसकी राजधानी पांच मील के घेरे में थी। यहां की भूमि उपजाऊ थी और वह नियमित रूप पर जोती बोई जाती थी परन्तु यहां पर बहुत से जंगल थे जिनमें जंगली हाथी भी थे। यहां के लोग यद्यपि जोशीले उजड्ड और असभ्य थे तथापि वे विश्वासपात्र और अपनी बात के बड़े पक्के थे।

हुएनत्सांग के समय में कलिंग की ऐसी अवस्था थी परन्तु हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि मेगास्थनीज़ के समय में कलिंग का राज्य और अधिकार बंगाल से लेकर गोदावरी के मुहाने तक समस्त समुद्र तट तक फैला हुआ था। उसकी प्रबलता का स्मरण अब तक बना था क्योंकि हुएनत्सांग कहता है कि "प्राचीन समय में कलिंग के राज्य

की बस्ती बहुत घनी थी। लोगोंके कंधे एक दूसरे से रगड़ खाते थे और रथ के पहियों की धूरी एक दूसरे से टकराती थी परन्तु कलिंग के प्रभुत्व का समय अब नहीं रहा था और उस प्राचीन राज्य के अंशों में से बंगाल और उड़ीसा के नए राज्यों की उत्पत्ति हो गई थी। ऐसा भारतवर्ष के इतिहास में सदैव पाया जाता है। राज्य और जातियां अधिकार और सभ्यता में बढ़ती हैं और फिर पारी पारी से उनका पतन होता है। फिर भी इन जातियों के बड़े समूह में एक प्रकार राजकीय एकता थी, धर्म्म भाषा और सभ्यता में एक ऐसा मिलाप था जिसने कि प्राचीन समय में भारतवर्ष को एक बड़ा देश बना रखा था।

कलिंग के उत्तर पश्चिम जंगलों और पहाड़ियों में हो कर कोशल का मार्ग था जोकि आधुनिक बरार का देश है। इस देश का घेरा एक हज़ार मील और उसकी राजधानी का आठ मील था, कस्बे और गांव बहुत पास पास थे और बस्ती घनी थी। यहां के लोग लम्बे काले कट्टर जोशीले और वीर थे और उनमें कुछ बौद्ध और कुछ हिन्दू थे। इन दक्षिणी कोशलों के सम्बन्ध में (जिन्हें कि अवध के कोशलों से भिन्न समझना चाहिए) हुनत्सांग प्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथकार नागार्जुन और राजा सद्वह का वर्णन करता है जिसने एक चट्टान को कटवा कर उसमें निवास के लिये एक सघाराम बनवाया था। न तो फाहियान और न हुनत्सांग ने स्वयं इस चट्टान के मठ को देखा था परन्तु दोनों ने इसका वर्णन किया है और उनके समय में यह बड़ा प्रसिद्ध रहा होगा। कहा गया है कि राजा सद्वह ने

"इस चट्टान के बीच में गड़हा करवाया और उस में एक संघाराम बनवाया। लगभग दस ली (दो मील) की दूरी पर उन्होंने सुरंग खुदवाकर एक ढँका हुआ मार्ग खोला। इस प्रकार चट्टान के नीचे खड़े रहने से बिलकुल कटी हुई चट्टानों और लम्बे बरामदों के बीच जिनमें नीचे चलने के लिये गुफाएं और ऊंचे बुर्ज हैं, खण्डदार इमारत को देख सकते हैं जो कि पांच खण्डों की ऊंची है और प्रत्येक खण्ड में चार दलान तथा घिरे हुए विहार हैं। यह भी कहा है कि इस संघाराम मे बौद्ध पुजेरी लोग परस्पर झगड़े और राजा के पास गए और ब्राह्मणों ने इस अवसर को पाकर संघाराम को नाश कर दिया और उस स्थान की गढ़बंदी करदी।

इसके उपरान्त हमारा यात्री अन्ध्रों के प्राचीन देश में आया जिन्होंने कि ईसा के कई शताब्दियों पहिले दक्षिणी भारतवर्ष में अपनी सभ्यता की उन्नति की थी तथा अपने राज्य को बढ़ाया था और जिनका इसके उपरान्त मगध और भारतवर्ष में प्रधान शासन था। तब से यह प्रधानता गुप्तों और उज्जैनियों के हाथ मे चली गई थी और सातवीं शताब्दी मे अन्ध्र लोगों का अधिकार बहुत कम हो गया था। उन का राज्य केवल ६०० मील के घेरे में था और वह नियमित रूप से जोता बोया जाता था। लोग [illegible] और क्रोधी थे। यहां २० संघाराम और ३० देव मन्दिर थे।

इस देश के दक्षिण में धनकटक अर्थात् अन्ध्रों का बड़ा देश था जिस का घेरा १००० मील का था और जिसकी राजधानी ८ मील के घेरे में थी और अब यह

जाना गया है कि आधुनिक काल की वह बेजवाडा थी। भूमि उपजाऊ थी और उसमें बड़ी फसल उत्पन्न होती थी, परन्तु देश का बहुत भाग बियाबान था और कस्बों में बहुत थोड़ी बस्ती थी। लोग पीलापन लिए काले रंग के थे, वे कट्टर और जोशीले थे परन्तु विद्या के प्रेमी थे। प्राचीन मठ अधिकांश उजाड़ और खडहर हो गए थे, उनमें से केवल ९० मठों में मनुष्य रहते थे। देव मन्दिर लगभग १०० के थे और उनके बहुत से अनुयायी थे।

हुएनत्सांग नगर के पूरब और पश्चिम ओर दो बड़े मठों का उल्लेख करता है जो कि पूर्वशिला और अपर शिला कहलाते थे और जिन्हें किसी प्राचीन राजा ने बुद्ध के सम्मानार्थ बनवाया था। उसने घाटी में गड्हा खुदवाया, सड़क बनवाई, और पहाडी अड़ारों को खुलवाया।

परन्तु गत १०० वर्षों से कोई पुजेरी नहीं है। डाक्टर फर्ग्यूसन साहब ने पश्चिमी मठ का अमरावती के उस बड़े स्तूप से मिलान किया है जो कि १७९६ में जाना गया और खुदवाया गया था। डाक्टर बर्जेस साहेब वहां के पत्थरों पर खुदे हुए एक लेख से यह निश्चय करते हैं कि अमरावती का स्तूप यदि अधिक प्राचीन समय में नहीं तो ईसा की दूसरी शताब्दी में बन गया था अथवा बन रहा था।

बड़े अन्ध्र देश के दक्षिण पश्चिम चोला का राज्य था जो कि ५०० मील के घेरे में था परन्तु उजाड़ और जंगल था। यहां की बस्ती थोड़ी थी। डांकू लोग इस खुले देश में लूट पाट मचाते थे और यहां के लोग दुराचारी और निर्दय थे।

इसके दक्षिण ओर द्राविड़ का राज्य था जिसका घेरा १२०० मील का था और जिसकी राजधानी प्रसिद्ध काञ्ची वा कीञ्चपुर थी जो कि आधुनिक कांचीवरम में मिलाई की गई है। यहां की भूमि उपजाऊ थी और नियमित रूप पर जोती बोई जाती थी और यहां के लोग वीर सच्चे और खरे और विद्या के प्रेमी थे और ये मध्य भारतवर्ष की भाषा बोलते थे। यहां कोई एक सौ संघाराम और दस हजार पुजेरी थे।

द्राविड़ के दक्षिण मलकूट का राज्य था जिसे डाक्टर बर्नेल साहेब ने कावेरी नदी के डेल्टा में मिलाया है। यहां के लोगों का रंग काला था। वे दृढ़ और जोशीले थे परन्तु विद्या के प्रेमी नहीं थे और पूर्णतया व्यापार के उद्योग में लगे हुए थे। इस देश के दक्षिण ओर प्रसिद्ध मलयपर्वत् अर्थात् मलाबार घाट के दक्षिणी भाग थे जिन में चन्दन और कपूर होता था। इस पर्वत श्रेणी के पूरब ओर पोटलक पर्वत था जहां कि यह समझा जाता था कि बुद्ध महात्मा अवलोकितेश्वर ने जिनकी पूजा तिब्बत चीन और जापान में उत्तरी बौद्ध लोग करते हैं कुछ समय तक निवास किया था।

हुएनत्सांग लंका में नहीं गया परन्तु फिर भी वह इस टापू का उसके हरी भरी वनस्पति का, उसकी विस्तृत खेती का और उसकी भरी पूरी बस्ती का उल्लेख करता है। वह सिंह के विषय में, राक्षसों के विषय में और इस टापू में बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले अशोक के भाई महेन्द्र के विषय की कथाओं का उल्लेख करता है और यहां हुएनत्सांग

के समय में १०० मठ और २०००० पुजेरी थे। वह इस टापू के तटों में रत्नों के अधिक पाए जाने का वर्णन करता है और टापू के दक्षिण पूरब की ओर लंका पर्वत को लिखता है।

द्राविड़ से उत्तर की ओर यात्रा करते हुए हुनत्सांग कोकन में आया जो कि १०००० मील के घेरे में था। यहां की भूमि उपजाऊ थी और वह नियमित रूप पर बोई जाती थी। लोग काले जंगली और क्रोधी थे परन्तु वे विद्या का सम्मान करते थे।

कोकन के उत्तर पश्चिम ओर एक बड़े जंगल के पार जिसमें कि जंगली पशु और लुटेरे रहते थे महाराष्ट्र का बडा देश था जिसका घेरा १००० मील था। भूमि उपजाऊ थी और नियमित रूप पर जोती बोई जाती थी यहां के लोग सच्चे परन्तु कठोर और बदला लेने वाले थे। वे "अपने उपकार करने वाले के अनुगृहीत होते हैं और अपने शत्रुओं के लिये निठुर थे। यदि वे अपमानित किए जांय तो अपना पलटा देने के लिये वे अपनी जान पर खेल जांयगे। यदि उनसे किसी दुखी मनुष्य की सहायता करने की प्रार्थना की जाय तो उसे सहायता करने की जल्दी में अपने को भूल जांयगे। जब वे पलटा लेने जांयगे तो अपने शत्रु को पहिले सूचना देदेंगे और तब दोनों शस्त्र से सज्जित होकर एक दूसरों से भालों से लड़ेंगे। यदि कोई सेनापति युद्ध में हार जाय तो वे उसे कोई दण्ड नहीं देते परन्तु उसे स्त्रियों का कपड़ा देकर निकाल देते हैं कि जिसमें वह अपनी मृत्यु का आप उपाय करे।

राजा क्षत्रिय जाति का है और उनका नाम पुलकेशि है। उनके उपाय और कार्य्य दूर दूर तक प्रसिद्ध हैं और उनके परोपकारी कार्य्य बहुत दूर तक पाए जाते हैं। उनकी प्रजा पूरी तरह से उनकी आज्ञा पालन करती है। इस समय (कन्नौज के) शीलादित्य महाराज ने पूर्व से लेकर पश्चिम तक सब जातियों को विजय किया है और अपनी विजय दूर दूर के देशों में फैलाई है परन्तु केवल इसी देश के लोगों ने उनकी आधीनता नहीं स्वीकार की। वह पांचो भागों से सेना एकत्रित करके और सब देशों से सर्वोत्तम सेनापतियों को बुलवा कर स्वयं उस सेना को लेकर इन लोगों को दण्ड देने और अधीन करने के लिये गया था परन्तु उसने अब तक उनकी सेना को पराजित नहीं किया और न शीलादित्य के भाग्य में पुलकेशि को विजय करना बदा था। पुलकेशि ने उसे युद्ध में हराया और चलुक्यी मरहठों की स्वतंत्रता स्थिर रक्खी। इसी प्रकार १००० वर्षों के उपरान्त पुलकेशि के एक उत्तराधिकारी ने उत्तरी भारतवर्ष के एक सम्राट औरंगजेब का सामना किया था और मरहठों की गई हुई स्वतंत्रता और प्रबलता को पुनः प्राप्त किया था। जब मोगलों और राजपूतों दोनों ही के अधिकार का पतन हो गया था उस समय पुलकेशि के देश वालों ही अंग्रेजों से भारतवर्ष के राज्य के लिये लड़े थे।

महाराष्ट्र देश की पूर्वी सीमा पर एक बड़ा जंगल था जिसमें बहुत ऊंची ऊंची चट्टान और गहरी [illegible] पर्वतों की लगातार श्रेणी थी। "इसमें एक [illegible] है [illegible] एक अन्धकारमय घाटी में [illegible]

घनी दालाने चट्टानों के सामने फैली हुई हैं। उसके प्रत्येक खण्ड के पीछे की ओर चट्टान और सामने की ओर घाटी है।" प्रसिद्ध एजेण्टा की ये गुफाएं हैं जो कि एक एकान्त घाटी के किनारे की एक ऊंची और लगभग खड़ी चट्टानों में खुदी हुई हैं। आधुनिक पाठक लोग इस सब से अद्भुत कारीगरी की इमारत से फर्ग्यूसन और बर्जेस साहेब के वृत्तान्त और चित्रों के द्वारा परिचित हैं। हुनत्सांग इस के अतिरिक्त कहता है कि यहां एक बड़ा बिहार लगभग १०० फीट ऊंचा था और उसके बीच में ७० फीट ऊंची बुद्ध की एक पत्थर की मूर्ति थी। इसके ऊपर सात मंजिल का एक पत्थर का चंदवा था जो कि देखने में बिना किसी आधार के खड़ा हुआ था।

महाराष्ट्र के पश्चिम वा उत्तर पश्चिम में भरूकच्छ वा बरूच का देश था जिसका घेरा ५० मील था। यहां की भूमि खारी थी और यहां वृक्ष बहुत दूर दूर पर तथा बहुत कम होते थे और लोग समुद्र के मार्ग से ही अपना सब अन्न प्राप्त करते थे।

वहां से हुनत्सांग मालवा के प्राचीन देश में गया, वह कहता है कि "दो देश अपने निवासियों की बड़ी विद्या के लिये प्रसिद्ध हैं अर्थात् दक्षिण-पश्चिम में मालव और उत्तर-पूरब में मगध।" इसके आगे हुनत्सांग फिर कहता है कि इस देश के ग्रंथों में लिखा है कि इस के साठ वर्ष पहिले शीलादित्य राजा था जो कि बड़ा विद्वान था और बुद्धि के लिये प्रसिद्ध था, विद्या में उसकी निपुणता पूर्ण थी। यह प्रथम शीलादित्य था जिसने कि सम्भवतः ५५० ईस्वी से ६००

ईस्वी तक राज्य किया और जो सम्भवतः प्रतापी विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी था। वह राजा जिसे हूनत्संग ने कन्नौज में देखा था और जो पुलकेशि तथा मरहठों को अपने अधीन करने का उद्योग कर रहा था शीलादित्य द्वितीय था जिसने लगभग ६१० ईस्वी से ६५० ईस्वी तक राज्य किया।

मालव में हूनत्संग के समय में दोनों धर्म प्रचलित थे। वहां लगभग १०० संघाराम और १०० देव मन्दिर थे।

हूनत्संग तब अटाली और कच्छ में गया और तब वल्लभी में आया जो कि प्रतापी वल्लभी वंश का मुख्य स्थान थी। "वहां की भूमि जल वायु और लोग मालव राज्य की भांति हैं, बस्ती घनी है और अन्न बहुतायत से है। यहां कोई एक सौ घर करोड़पतियों के हैं।

सौराष्ट्र और गुजरात, सिन्ध और मुलतान को देख कर इस प्रसिद्ध यात्री ने भारतवर्ष से प्रस्थान किया। परन्तु हम उससे विदा होने के पहिले उसकी डायरी के कुछ वाक्य उद्धृत करेंगे जिसमें देश की राज्य प्रणाली और लोगों की चालव्यवहार का वर्णन है।

"देश की राज्य प्रणाली उपकारी सिद्धान्तों पर होने के कारण शासन रीति सरल है। राज्य चार मुख्य भागों में बंटा है। एक भाग राज्य प्रबंध चलाने तथा यज्ञादि के लिये है, दूसरा भाग मंत्री और प्रधान राज्य कर्मचारियों की आर्थिक सहायता के लिये, तीसरा भाग बड़े बड़े योग्य मनुष्यों को पुरस्कार के लिये और चौथा भाग धार्मिक लोगों को दान के लिये जिससे कि पुण्य की वृद्धि होती है। इस

प्रकार से लोगों के कर हल्के हैं और उनसे शारीरक सेवा थोड़ी ली जाती है। प्रत्येक मनुष्य अपनी सांसारिक सम्पत्ति को शान्ति के साथ रखता है और सब लोग अपने निर्वाह के लिये भूमि जोतते बोते हैं। जो लोग राजा की भूमि को जोतते हैं उन्हें उपज का छठां भाग कर की भांति देना पड़ता है। व्यापारी लोग जो वाणिज्य करते हैं अपना लेन देन करने के लिये आते जाते हैं। नदी के मार्ग तथा सड़क बहुत थोड़ी चुंगी देने पर खुले हैं। जब कभी राज्य कार्य के लिये मनुष्यों की आवश्यकता होती है तो उनसे काम लिया जाता है परन्तु इसके लिये उनको मजदूरी दी जाती है। जितना कार्य होता है ठीक उसी के अनुसार मजदूरी दी जाती है।

"सैनिक लोग सीमा प्रदेश की रक्षा करते हैं और उपद्रवी लोगों को दण्ड देने के लिये भेजे जाते हैं। वे रात्रि को सवार होकर राजभवन के चारों ओर पहरा भी देते हैं। सैनिक लोग कार्य की आवश्यकता के अनुसार रक्खे जाते हैं, उन्हें कुछ द्रव्य देने की प्रतिज्ञा की जाती है और प्रगट रूप से उनका नाम लिखा जाता है। शासकों, मंत्रियों, दण्डनायकों तथा कर्मचारियों को उनके निर्वाह के लिये कुछ भूमि मिलती थी।"

ऊपर के वृत्तान्त से विदित होगा कि भारतवर्ष की प्राचीन रीति के अनुसार सब कर्मचारियों को उनकी सेवा के लिये भूमि दी जाती थी। हुनत्साङ्ग ने जो राजा की निज की सम्पत्ति लिखी है उससे उसका तात्पर्य सब राज्य से है पर ऐसे गांव वा भूमि को छोड़ कर जो कि किसी मनुष्य

अध्याय ३।

बल्लभी लोग और राजपूत लोग।

गुप्तवंश की चढ़ती के दिनों में गुजरात इसी वंश के राजाओं के अधीन रहा और इस कारण पांचवीं शताब्दी के अन्तिम अर्द्ध भाग में जब गुजरात के बल्लभी लोगों ने स्वतंत्रा और प्रबलता प्राप्त की तो उन्हों ने स्वभावतः गुप्त संवत् को प्रचलित रक्खा जो कि सन् ३१९ ईस्वी से गिना जाता है। जिस समय कि गुप्तों का बल, जो कि उस समय भारतवर्ष के सम्राट थे घट रहा था उस समय भटार्क नामक एक उद्योगी सेनापति गुजरात में स्वतंत्र हो गया और वह सौराष्ट्र के बल्लभी वंश का संस्थापक हुआ।

बल्लभी राजाओं की वंशावली तथा उनका इतिहास जो बहुत से शिलालेख मिले हैं उनसे बिदित हुआ है। उनमें से दो ताम्र पत्र सब से प्राचीन हैं जो कि गुजरात में ५० वर्षों से अधिक समय हुआ कि खोदने में मिले थे। उन्हें डबल्यू० एच० वाथेन साहब ने सन् १८३५ में प्रकाशित किया था और वे बड़े ही काम के हैं।

सेनापति भटार्क के विषय में, जो कि इस वंश का संस्थापक है, कहा गया है कि उसने "अपने शत्रुओं के देश में सैकड़ों युद्ध में यश प्राप्त किया" और सब वंशों के संस्थापकों की नाईं वह बड़ा योधा और योग्यता से राज्य प्रबन्ध करने वाला रहा होगा। उसके चार पुत्र थे अर्थात् धरसेन, द्रौणसिंह, ध्रुवसेन, और धरपत्त। इनमें से पहिला भाई

सेनापति कहा गया है और यह स्पष्ट है कि उसने अब तक राजा की पदवी ग्रहण नहीं की थी, परन्तु उसके छोटे भाई ने "स्वयं बड़े सम्राट (सम्भवतः कन्नौज का) से राजतिलक पाया था" और वह श्रीमहाराज द्रोणसिंह कहा गया है। उसके अन्य दोनों भाई भी इसी भांति श्रीमहाराज ध्रुवसेन और श्रीमहाराज धरपत्त कहे गए हैं।

धरपत्त का पुत्र गुहसेन था जो कि "शत्रुओं के दलों का नाशक" था और उसके पुत्र धरसेन द्वितीय ने दान दिया था।

वाघेन साहब के दूसरे ताम्रपत्र में धरसेन द्वितीय के उत्तराधिकारी शीलादित्य धरग्रह, धरसेन तृतीय, ध्रुवसेन द्वितीय, धरसेन चतुर्थ, शीलादित्य द्वितीय (यहां पर दो वा तीन नाम अस्पष्ट हैं), धरग्रह द्वितीय, शीलादित्य तृतीय और शीलादित्य चतुर्थ कहे गए हैं। एक शिलालेख में, जो कि हरिप्रसाद को सन् १८७८ में मिला था, इन राजाओं की सूची शीलादित्य सप्तम तक दी है जिसने कि आठवीं शताब्दी के अन्त में राज्य किया है। इस प्रकार हमें एक ही लेख में तीन शताब्दियों तक की इस वंश के राजाओं की पूरी सूची मिलती है अर्थात् भटार्क से लेकर, जिसने कि पांचवीं शताब्दी के अन्त में इस वंश को आरम्भ किया था, शीलादित्य सप्तम तक जिसने कि आठवीं शताब्दी के अन्त में राज्य किया। फिर भिन्न भिन्न दान पत्रों की तिथियों से इनके राज काल भी स्पष्ट हो जाते हैं।

भटार्क ।
(लगभग ४६० ई०)

- धरसेन प्रथम
- द्रोणसिंह
- ध्रुवसेन प्रथम (५२६ ई०)
- धरपट्ट
  - गुहसेन (५५९, ५६५ और ५६७ ई०)
    - धरसेन द्वितीय (५७१, ५८८ और ५८९ ई०)
      - शीलादित्य प्रथम (६०५, ६०९ ई०)
        - देरभट
          - शीलादित्य द्वितीय
            - शीलादित्य तृतीय (६७८ ई०)
              - शीलादित्य चतुर्थ (६९१ ई०)
                - शीलादित्य पंचम (७२२ ई०)
                  - शीलादित्य षष्ठ (७६० ई०)
                    - शीलादित्य सप्तम (७६६ ई०)
          - खरग्रह द्वितीय (६५७ ई०)
          - ध्रुवसेन तृतीय
      - खरग्रह प्रथम
        - धरसेन तृतीय
        - ध्रुवसेन द्वितीय (६२९ ई०)
          - धरसेन चतुर्थ (६४५, ६४९ ई०)
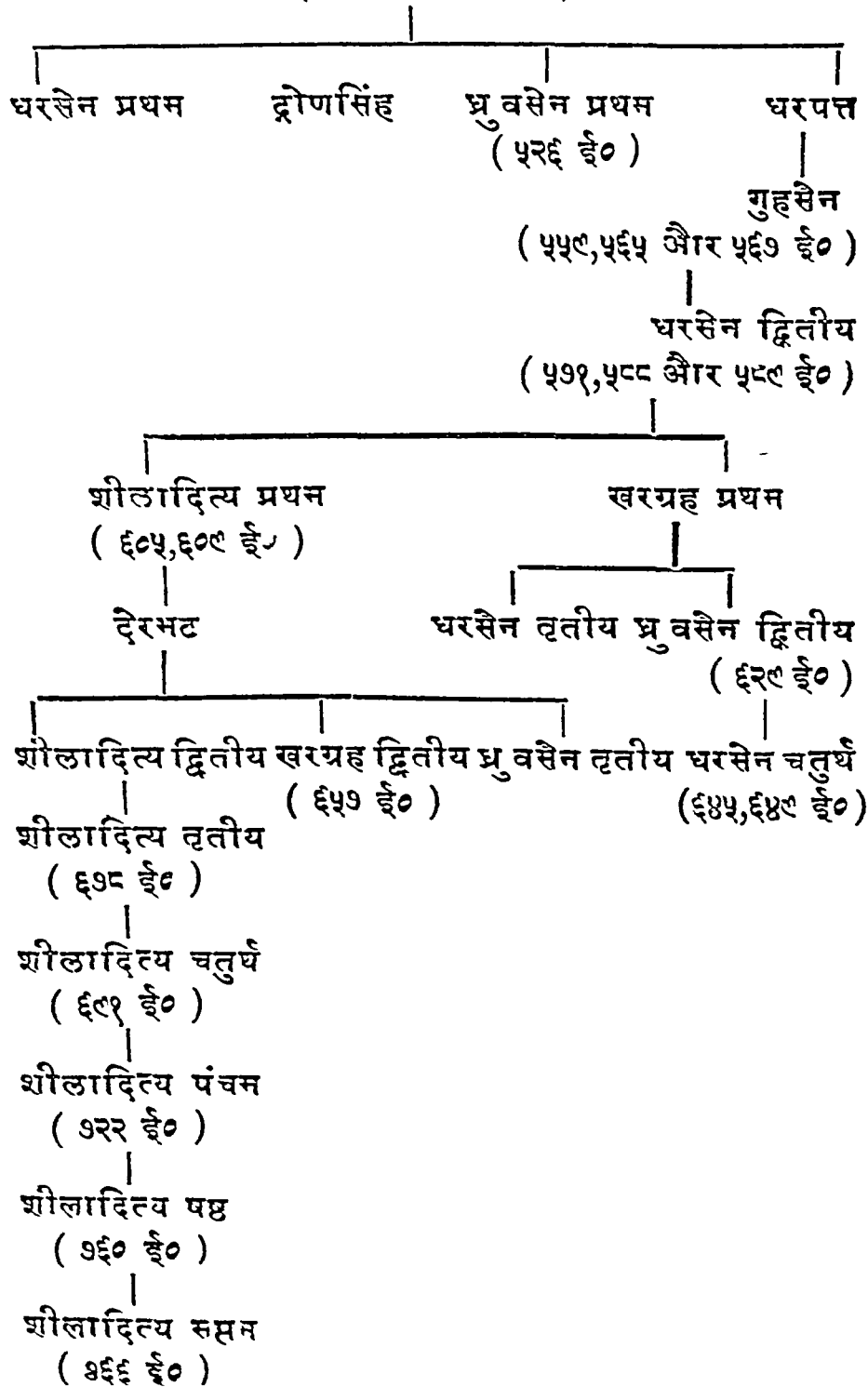
अब हमें केवल यह कहना है कि जब हुएनत्सांग वल्लभी में पहुंचा तो उसने वहां के लोगों को धनाढ्य प्रबल और सुसम्पन्न पाया और इन के अधीन सौराष्ट्र देश था। उनकी राजधानी में दूर दूर से बहु मूल्य पदार्थ बहुतायत से एकत्रित किए जाते थे जिससे कि वल्लभी लोगों का उद्योग-पूर्ण समुद्री व्यापार प्रगट होता था। इस प्रबल जाति के पतन होने का कारण विदित नहीं है परन्तु इसमें बहुत ही कम सन्देह हो सकता है कि जिस समय वल्लभी लोगों का पतन हो रहा था उस समय पश्चिमी भारतवर्ष में राजपूत लोगों का प्रताप और यश बढ़ रहा था।

कई प्रमाणों से राजपूत लोग पश्चिमी भारतवर्ष में प्रभुत्व में वल्लभी लोगों के उत्तराधिकारी समझे जा सकते हैं, जिस भांति कि स्वयं वल्लभी लोग गुप्तों के उत्तराधिकारी थे। और सबसे घमण्डी राजपूत लोग अर्थात मेवाड़ के राना लोग वल्लभियों से अपनी उत्पत्ति की कल्पना करते थे। जब कि ८ वीं शताब्दी के अन्त में गुजरात से वल्लभी लोगों के स्थान पर राजपूत लोग प्रबल हुए और वल्लभीपुर के पतन के साथ ही साथ पट्टन का उदय हुआ तो उत्तरी भारतवर्ष के इतिहास में फिर कोई समानता न रह गई। यहां ७५० ई० के लगभग उज्जैन और कन्नौज के वंशों का लोप हो गया जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं। उस समय से लेकर १० वीं शताब्दी तक उत्तरी भारतवर्ष का इतिहास पूर्णतया शून्य है। हमें दक्षिण में चालुक्यों का, उत्तर पश्चिम की ओर पर काश्मीर के राजाओं का, पूरब में बंगाल और उड़ीसा के राजाओं का वृत्तान्त मिलता

नहीं मिलता जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, और न उत्तरी भारतवर्ष में इस समय का बना हुआ शिल्प का कोई बड़ा नमूना ही इमारत के रूप में मिलता है। इन दोनों शताब्दियों के ऊपर अन्धकार का एक बड़ा भारी परदा पड़ा हुआ है जिसे कि इतिहासज्ञ लोग अब तक नहीं हटा सके हैं।

जब दसवीं शताब्दी के अन्त में यह अन्धकार का परदा दूर होता है तो हम नए पात्रों और नए दृश्यों को पाते हैं। इस समय पौराणिक हिन्दू धर्म को हम भारतवर्ष में सब से प्रधान पाते हैं और इसकी प्रधानता एक नई और वीर जाति अर्थात् राजपूतों की राजकीय प्रधानता के साथ साथ है। राजपूत लोग अपने राज्यों से निकल कर गुजरात और दक्षिणी भारतवर्ष में आगए थे और वे भारतवर्ष के दूर दूर के भागों यथा दिल्ली कन्नौज अजमेर के स्वामी हो गए थे। सर्वत्र वे पौराणिक हिन्दू धर्म्म के अनुकूल रहे और ब्राह्मणों ने उन्हे उनके इस परिश्रम का पुरस्कार दिया और इस नई जाति को आधुनिक समय का क्षत्रिय माना।

इन परिणामों से हम आठवीं से दसवीं शताब्दी तक के अन्धकारमय समय का कुछ इतिहास जान सकते हैं। यह अभागा समय भयंकर युद्धों का तथा प्राचीन प्रणालियों और वंशों के नष्ट होने का समय था। प्राचीन वंशों का जीर्णता अथवा उपद्रव के कारण पतन हुआ और एक नई तथा बलवान जाति ने उनका स्थान ग्रहण किया। यह उसी दृश्य का पुनराभिनय था जो कि भारतवर्ष के इतिहास में

इनके पूर्व कल से कम एक बार हो पुजा था । इसी प्रकार ईसा के पहिले चौथी शताब्दी में बलवान और चतुर मगध लोगों ने जो कि ऐतिहासिक काव्य काल में आर्य्य जाति के बाहर समझे जाते थे, प्रबलता प्राप्त की, अपना राज्य बढ़ाया और काशी, कोशल, कुरू और पञ्चाल लोगों के प्राचीन राज्य पर अपना प्रभुत्व जमाया । और जब मेगास्थिनीज़ भारतवर्ष में आया तो उसने प्राच्यों अर्थात् मगध लोगों को उत्तरी भारतवर्ष में सर्व प्रधान पाया ।

इसी प्रकार आठवीं से दसवीं शताब्दी तक के अन्धकारमय समय में राजपूत जाति, जो कि उसके पूर्व ऐतिहास में आर्य्य हिन्दू जाति से [illegible] समझी जाती थी, जातियों के झगड़ों के बीच से आगे बढ़ी और उसने अपने शौर्य बल और वीरता से कन्नौज दिल्ली लाहौर तथा अन्य स्थानों के शून्य राज्य सिंहासनों को प्राप्त किया । ईसा के पहिले चौथी शताब्दी की नाईं इसके उपरान्त १० वीं शताब्दी में भी किसी राज्य वंश की प्रबलता नहीं हुई थी वरन् एक जाति की प्रबलता अर्थात् प्रत्येक अवस्था में एक नई वीर और बलवान जाति प्राचीन और शिथिल परन्तु न्याय प्रायः जातियों से खाली किए हुए स्थान को लेने के लिये आगे बढ़ी थी । और मानो इस समानता को पूर्ण करने के लिये इन दोनों राजनीय उलट फेर के साथ ही साथ धर्म का भी उलट फेर हुआ । भारतवर्ष की प्राचीन और सुशिक्षित जातियों पर मगध लोगों की प्रबलता की वृद्धि से इस देश के प्राचीन और [illegible] धर्मों से भिन्न एक नए बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ और राजपूतों की वृद्धि से ब्राह्मण-धर्म के [illegible] और पौराणिक धर्म की [illegible] प्राप्त हुई ।

हम इस पुस्तक की भूमिका में दिखला चुके हैं कि पांचवीं शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक के यूरप के इतिहास के साथ भारतवर्ष के आठवीं शताब्दी से १० वीं शताब्दी के इतिहास की और भी अद्भुत समानता है। यूरप और भारतवर्ष दोनों ही में प्राचीन राज्य और प्राचीन प्रणालियों का नाश हुआ, नई जातियों ने भूमि पर अपना अधिकार और राज्य जमाया और फिर इन नवीन जातियों को, अर्थात् यूरप में जर्मन जाति को और भारतवर्ष में राजपूतों को, मुसल्मानों के बढ़ते हुए बल का सामना करना पड़ा, पर यूरप ने अपनी स्वतन्त्रा रक्षित रक्खी और भारतवर्ष ने उद्योग किया परन्तु उसका पतन हुआ।

हम देख चुके हैं कि आठवीं शताब्दी के पहिले राजपूत लोग आर्य्य हिन्दू जाति में कठिनता से गिने जाते थे। हमें इस देश के ग्रन्थों में अथवा विदेशी जातियों की पुस्तकों में उनका न तो कहीं नाम मिलता है और न उनकी पूर्व सभ्यता का कोई पता चलता है। उनकी उत्पत्ति के विषय में अनुमान किए गए हैं। डाक्टर एच० एच० विल्सन साहेब का मत है कि वे लोग उन शक् लोगों तथा अन्य आक्रमण करने वालों की सन्तान हैं जिनके दल के दल भारतवर्ष में विक्रमादित्य के कई शताब्दी पहिले आए थे, जिन्हें विक्रमादित्य ने पराजित किया था परन्तु वे फिर भी फैल कर भारतवर्ष में और विशेषतः पश्चिम और दक्षिण में बस गए। पुराणों में भी इस बात के छिपे छिपे संकेत मिलते हैं कि राजपूत लोग भारतवर्ष में नए आकर बसने वाले थे। यथा

उनमें लिखा है कि परिहार, प्रमार, चालुक्य और चौहान जातियों की उत्पत्ति चार योधाओं से हुई जिन्हें वशिष्ठ ऋषि ने आबू पर्वत पर एक यज्ञ करके उत्पन्न किया था। और राजपूतों की ३६ जातियों की उत्पत्ति इन्हीं चार जातियों से कही गई है।

चालुक्य लोग गुजरात में बसे, उन्हों ने अपनी नई राजधानी पट्टन में स्थापित की और बल्लभी लोगों का जिस तक जो प्रभुत्व था उसे छीन लिया। परिहार लोग मारवाड़ में बसे। प्रमार लोग पश्चिमी मालवा में और चौहान लोग पूरब की ओर दिल्ली और अजमेर में आए। राजपूतों की अन्य जातियां भी थीं जिनकी उत्पत्ति के विषय में अन्य कल्पनाएं की गई हैं। यथा मेवाड़ के गहलोत राज अपनी उत्पत्ति गुजरात के बल्लभी राजाओं के द्वारा राम से बतलाते हैं। इसके सिवाय यह दन्तकथा भी है कि मारवाड़ के राठौरों की उत्पत्ति हिरण्यकश्यप से हुई है।

राजपूतों की उत्पत्ति चाहे किसी से भी क्यों न हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे लोग हिन्दू सभ्यता और धर्म्म की संगती के बीच में नए आए हुए लोग थे। और सब नए अन्य मतावलम्बियों की नाईं उनमें अपने ग्रहण किए हुए धर्म्म को पुनर्जीवित करने का अत्यन्त उत्साह जगा हुआ था। ब्राह्मण लोग इन्हीं नए क्षत्रियों के उत्साह पर कार्य्य करते थे और चौहानों और राठौरों ने ब्राह्मणों का प्रभुत्व स्थापित करने के कारण क्षत्रिय जाति में सम्मिलित होने का अधिकार प्राप्त किया। दसवीं शताब्दी के अन्त तक पौराणिक धर्म्म सर्वत्र स्थापित हो गया था और

कन्नौज मथुरा तथा सैंकड़ों अन्य नगर उन सुन्दर भवनों और मन्दिरों से सुशोभित होगए थे जिन्होने कि ११ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में गजनी के सुल्तान को आश्चर्यित किया था।

——:o:——

के प्रारम्भ के लगभग गौड़ के निकट कर्णसुवर्ण के राजा शशांक (नरेन्द्र गुप्त) ने प्रतापी शीलादित्य के बड़े भाई को युद्ध में पराजित किया और मार डाला और जब सन् ६४० के लगभग हुनत्सांग बंगाल में आया तो उसने पुन्द्र वा उत्तरी बंगाल, समतत वा पूर्वी बंगाल, कामरूप व आसाम और ताम्रलिप्त वा दक्षिणी बंगाल तथा कर्णसुवर्ण अथवा पश्चिमी बंगाल में सभ्य तथा प्रबल राज्य देखे। ये राज्य मोटे हिसाब से आज कल के राजशाही, ढाका, आसाम, बर्दवान, और प्रेसिडेंसी डिवीजनों में थे। हुवेनत्संग ने इन राज्यों का जो वर्णन लिखा है वह अन्यत्र दिया जा चुका है और यहां उनके पुनरुल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं है।

इसके उपरान्त हमें बंगाल का वृत्तान्त फिर नौवीं शताब्दी में विदित होता है।

आधुनिक समय में बहुत से ताम्रपत्र मिले हैं जिनसे विदित होता है कि मुसल्मानों की विजय के लगभग तीन शताब्दी पहिले तक बंगाल में पालवंश तथा सेनवंश के राजाओं का राज्य था। डाक्टर राजेन्द्र लाल मित्र ने इस विषय की बातों को सावधानी से संक्षेप में पाल और सेन वंशों पर अपने व्याख्यान में वर्णन किया है जो कि अब उनकी "इण्डो आर्यंस" नामक पुस्तक के दूसरे भाग में प्रकाशित हुआ है और हम उसी लेख से निम्न लिखित सूची उद्धृत करते हैं। डाक्टर मित्र ने प्रत्येक राज्य के लिये प्रायः बीस वर्ष का औसत समय नियत किया है—

पालवंशी राजा।

(पश्चिमी और उत्तरी बंगाल में)

	ईस्वी
१ गोपाल	८५५
२ धर्म्मपाल	८७५
३ देवपाल	८९५
४ विग्रहपाल	९१५
५ नारायनपाल	९३५
६ राजपाल	९५५
७ — पाल	९७५
८ विग्रहपाल द्वितीय	९९५
९ महीपाल	१०१५
१० नयपाल	१०४०

(इन्हें सेनवंशी राजाओं ने बंगाल से निकाल दिया)

सेनवंशी राजा।

(पूर्वी और समुद्र तट के बंगाल में)

	ईस्वी
१ वीरसेन	९८६
२ सामन्तसेन	१००६
३ हेमन्तसेन	१०२६
समस्त बंगाल में	
४ विजय उपनाम सुखसेन	१०४६
५ बल्लालसेन	१०६६
६ लक्ष्मणसेन	११०६
७ माधवसेन	११३६
८ केशवसेन	११३८
९ लाक्ष्मणेय उपनाम अशोकसेन	११४२
मुसलमानों की विजय।	१२०४

पालवंशी राजाओं के विषय में इसके अतिरिक्त और वृत्तान्त विदित नहीं है कि वे बौद्ध थे परन्तु हिन्दुओं से द्वेष नहीं रखते थे, हिन्दू कर्मचारियों को रखते थे और हिन्दुओं को धर्मकार्यों के लिये भूमि देते थे। इनके अधिकार में पूर्वी बंगाल कभी नहीं आया परन्तु उनका राज्य [illegible] कि डाक्टर मित्र कहते हैं "[illegible] के पश्चिम से [illegible] बिहार की सीमा तक और [illegible], इनके भी

आगे सम्पूर्ण मगध के प्राचीन राज्य को लिए हुए था। उत्तर की ओर उसमें तिरहुत, मालदा, राजशाही, दीनाजपुर, रंगपुर और बागुरा सम्मिलित थे जो कि पुन्द्रवर्धन के प्राचीन राज्य में सम्मिलित थे। डेल्टा का मुख्य भाग उनके अधीन नहीं जान पड़ता"।

प्रथम राजा गोपाल के सम्बन्ध में नालन्द में एक छोटा सा शिलालेख मिला है जिससे प्रगट होता है कि इस बड़े राजा ने मगध को विजय किया था और इस बात की तारानाथ से पुष्टि होती है। तारानाथ लिखता है कि गोपाल ने "बंगाल में राज्य आरम्भ किया और इसके पीछे मगध को जीता"। जेनरल कनिंगहाम के अनुसार उसने अपना राज्य सन् ८१५ ई० में आरम्भ किया और यह तिथि डाक्टर मित्र की निश्चित की हुई तिथि से ४७ वर्ष पूर्व है। गोपाल के उत्तराधिकारी धर्म्मपाल ने अपना राज्य बढ़ाया और उसने "बहुत से देशों के राजा" "प्रबल" की पुत्री कन्न-देवी से विवाह किया। धर्म्मपाल का उत्तराधिकारी देवपाल बड़ा विजयी हुआ। शिलालेखों से उसका कामरूप और उड़ीसा को विजय करना प्रगट होता है और तारानाथ कहता है कि उसने हिमालय से लेकर विन्ध्यपर्वत तक समस्त उत्तरी भारतवर्ष को अपने अधीन किया। एक खुदे हुए लेख में लिखा है कि देवपाल के सब युद्धों को उसका भाई जैपाल करता था जिसके पुत्र विग्रहपाल ने एक वा दो छोटे छोटे रा-ओं के उपरान्त, जो कि डाक्टर मित्र की सूची में छोड़ दिए गए हैं, अन्त में राजगद्दी पाई। भागलपुर के ताम्रपात्र से हमें विदित होता है कि विग्रहपाल ने हैहय

राज्यकुमारी लज्जा से विवाह किया और यह विश्वास किया जाता है कि हैहय लोग राजपूत थे। जान पड़ता है कि विग्रह पाल ने अन्त में अपने पुत्र से यह कह कर संसार त्याग दिया कि "तपस्या मेरी है और राज्य तेरा।" अतएव उसका पुत्र नारायणपाल उत्तराधिकारी हुआ। और जिस समय गज़नी का महमूद सन् १०२७ ई० में कन्नौज के सामने आया उस समय उसका उत्तराधिकारी राज्यपाल बंगाल से लेकर कन्नौज तक समस्त उत्तरी भारतवर्ष का राज्य कर रहा था। डाक्टर मित्र ने राज्यपाल की जो तिथि दी है वह स्पष्ट गलत है।

राज्यपाल के उत्तराधिकारियों के विषय में महीपाल तक का कुछ वृत्तान्त विदित नहीं है। तारानाथ के अनुसार महीपाल ने ५२ वर्ष राज्य किया और इस कारण जनरल कनिंगहाम साहब उसका राज्य काल सन् १०२८ से १०८० तक निश्चित करते हैं। उड़ीसा का राजा इस प्रबल राजा के अधीन कहा गया है। इस राजा के उत्तराधिकारियों के समय में और ११ वीं शताब्दी में पूर्वी बंगाल के सेन राजाओं के अधिकार की वृद्धि हुई और उन्होंने उनसे मगध को छोड़ कर पूर्वी प्रान्तों को छीन लिया। मगध में पालवंशी राजा राज्य करते रहे यहां तक कि सन् ११०८ के थोड़े ही दिन पीछे, जो कि इस वंश के राजाओं के समय के अन्तिम शिलालेख की तिथि है इस वंश की अन्तिम समाप्ति हुई।

सेन राजाओं के विषय में डाक्टर राजेन्द्रलाल का विचार है कि पहिला राजा जो कि यहां प्रसिद्ध आदिशूर

था जिसके विषय में यह विश्वास किया जाता है कि वह बंगाल में विद्वानों का अभाव होने के कारण कन्नौज से पांच ब्राह्मणों और पांच कायस्थों को लाया था। परन्तु जेनरल कनिंगहाम साहब का मत है कि वीरसेन पीछे के समय में सेनवंशी राजाओं के बहुत पहिले का पूर्व पुरुष है, और उसका राज्य सातवीं शताब्दी में था, यह बात असम्भव नहीं है यदि हम इस बात पर विचार करें कि जिन १० ब्राह्मणों और कायस्थों को आदिसूर लाया था उनकी सन्तान ११ वीं शताब्दी तक इतनी अधिक नहीं हो सकती थी कि बल्लाल को उनका एक भिन्न जाति की भांति वर्णन करना पड़ता। जेनरल कनिंगहाम साहेब सामंतसेन से लेकर लाक्षणेय के राज्य तक का समय ९७५ से ११९८ ईस्वी तक निश्चित करते हैं।

सामन्त और उसके पुत्र हेमन्त के विषय में बहुत वृत्तान्त विदित नहीं है। इसके उपरान्त विजयराजा हुआ और उसका पुत्र प्रसिद्ध बल्लालसेन था।

कहा जाता है कि जो ब्राह्मण और कायस्थ कन्नौज से लाए गए थे वे इस समय तक बहुत बढ़ गए थे और बल्लाल ने अपने देश के ब्राह्मणों और कायस्थों से कन्नौज से लाए हुए ब्राह्मणों और कायस्थों की सन्तान के विवाह होने का निषेध किया। उसने और उसके उत्तराधिकारियों ने कुलीनों के साथ विवाह करनेवालों की स्थिति बढ़ाने के लिये बहुत से पेचीले नियम भी बनाए परन्तु यह सम्भव है कि भिन्न भिन्न जाति के ब्राह्मणों और कायस्थों में जो भेद और नियम उत्पन्न होगए थे उन्हीं के लिये बल्लाल ने केवल अपनी अनुमति दी हो।

वल्लाल का उत्तराधिकारी लक्ष्मणसेन हुआ। उसका मंत्री हलायुध था जो कि "ब्राह्मण सर्वस्व" का ग्रन्थकार है। मुसल्मान इतिहासज्ञ लोग कहते हैं कि इस राजा ने गौड़ के नगर को बहुत सुशोभित कर दिया था।

उसके उत्तराधिकारी क्रमात् उसके दोनों पुत्र माधवसेन और केशवसेन हुए। उसके उपरान्त लाक्षमणेय हुआ जिसके राज्य में बंगाल को बख़्तियार खिलजी ने सन् १२०४ ई० वा कुछ लोगों के अनुसार ११९८ ई० के लगभग जीता।

जान पड़ता है कि सेन वंश की राजधानी ढाके के निकट विक्रमपुर में थी जहां कि बल्लाल के राज्यभवन का कल्पित खंडहर अब तक यात्रियों को दिखलाया जाता है। सेन लोग हिन्दू थे जैसा कि पाल लोग बौद्ध थे और एक वंश का धीरे धीरे दूसरे वंश से अधिकार छीनने से वास्तव में बौद्ध धर्म्म का पतन और बंगाल के लोगों का आधुनिक हिन्दू धर्म्म ग्रहण करना विदित होता है। वंशों के उदय अथवा अस्त होने के कारण जैसे ऊपर से देख पड़ते हैं उनकी अपेक्षा बहुधा बहुत गूढ़ हैं और भारतवर्ष में आठवीं और नवीं शताब्दियों में नए वंशों के उदय होने का घनिष्ट सम्बन्ध टूटे हुए बौद्ध धर्म्म के ऊपर पौराणिक हिन्दू धर्म्म की वृद्धि से है।

बंगाल के पाल और सेनवंशी राजा लोग किस जाति के थे यह आज कल एक विवाद का विषय रहा है और इस विवाद में डाक्टर राजेन्द्रलाल और जनरल कनिंगहाम के समान विद्वान लोग सम्मिलित हुए हैं। हमारे लिये इस विवाद में प्रवृत्त होना आवश्यक नहीं है। हम केवल इस [illegible] लिखेंगे जो कि हमें सबसे अधिक ठीक जंचती है।

पालवंशी राजा लोग बंगाल में उसी समय राज्य करते थे जिस समय कि पश्चिमी भारतवर्ष में जैपाल और अनंगपाल का राज्य था और वे लोग सुबुक्तगीन और सुलतान महमूद को रोकने का यत्न कर रहे थे। यह बिचार कोई असम्भव नहीं है कि बंगाल के पाल लोग उसी राजपूत जाति की एक शाखा थे जिसने कि नवीं और दसवीं शताब्दियों में सारे भारतवर्ष में नए राज्य स्थापित किए थे। वे लोग निसन्देह क्षत्रिय थे परन्तु केवल इसी अर्थ में कि वे राजाओं और योधाओं की जाति के थे। जब तक हिन्दू लोगों की एक जीवित जाति थी तब तक बहुधा क्षत्रिय की पदवी उन बीर वंशों को दी जाती थी जिनका कि साधारण लोगों में से उदय होता था और राजपूत राजाओं ने तथा मरहठा सर्दार शिवाजी ने भी क्षत्रिय की पदवी ग्रहण की थी।

बंगाल के सेन लोग आज कल वैद्य हैं अर्थात् वे औषधि करनेवाली जाति के हैं और इस कारण उनका यह अनुमान है कि बंगाल के प्राचीन सेन राजा भी इसी जाति के थे। परन्तु इस कल्पना के पहिले तो यह दिखलाना चाहिए कि पश्चिमी वा दक्षिणी भारतवर्ष में पहिले वैद्यों की एक जुदी जाति थी, जिससे कि बंगाल के सेनवंशी राजाओं की उत्पत्ति होना सम्भव हो सकता है। हम अन्यत्र दिखला चुके हैं और फिर दिखलावेंगे कि मनु के समय में और उसके कई शताब्दियों पीछे तक न तो कायस्थों और न वैद्यों की कोई जुदी जाति थी। लेखक तथा औषधि का व्यवसाय करने वाले लोग उस समय तक भी आर्यों की

वही क्षत्रिय और वैश्य जातियों में सम्मिलित थे, और उनकी भिन्न भिन्न जाति केवल आज कल के समय में हुई है। तब हम यह कैसे विचार सकते हैं कि सेन राजा लोग जाति के वैद्य थे ?

आज तक भी बंगाल के बाहर किसी प्रान्त में वैद्यों की जुदी जाति नहीं है। अतएव हम इस कथन से क्या समझ सकते हैं कि सेन राजा लोग जो कि बंगाल में पश्चिमी वा दक्षिणी भारतवर्ष से आए थे जाति के वैद्य थे।

सच्ची बात तो यह है कि बंगाल के सेनवंशी राजा पश्चिमी वा दक्षिणी भारतवर्ष के किसी राजवंश, सम्भवतः सौराष्ट्र के वल्लभीसेन वंश वा दक्षिणी भारतवर्ष के किसी सेनवंश की सन्तान थे। चाहे जो कुछ हो पर इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि बंगाल के राजवंश का संस्थापक किसी वीरवंश वल्लभी वा राजपूत वा वैश्य से उत्पन्न हुआ और उसने एक राज्य स्थापित करने के कारण क्षत्रिय की पदवी को यथार्थ रूप से ग्रहण किया।

पूर्वी बंगाल के सेन वैद्य लोगों का वल्लालसेन तथा उनके उत्तराधिकारियों से सम्बन्ध जोड़ने के ठीक और काफ़ी प्रमाण हो सकते हैं परन्तु यह मानने के पलटे में कि प्राचीन राजा लोग वैद्य थे और बंगाल में सम्भवतः ब्राह्मण और क्षत्री होकर आए थे, यह मानना ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक ठीक होगा कि प्राचीन सेन वंश के ब्रह्म वा क्षत्रिय राजाओं की सन्तान अब बंगाल की आधुनिक वैद्य वा अम्बष्ठ कहने वाली जाति हो गई है।

हम लोगों के लिये बंगाल के लोगों की जाति निश्चित करना बहुत आवश्यक है। बंगाल में आर्य्य लोग सदा से बहुत कम रहे हैं और आज तक भी ऐसा ही है। ब्राह्मण लोग आर्य्य वंशज हैं, परन्तु वर्ण ब्राह्मणों को छोड़ कर जो कि उसी जाति के हैं जिनका वे कर्म करते हैं। कायस्थ लोग भी आर्य्य वंशज हैं परन्तु उन नीच और खेती करने वाली जातियों (भण्डारियों इत्यादि) को छोड़ कर जो कि अपने को कायस्थ कहते हैं पर साधारणः शूद्र समझे जाते हैं। वैद्य लोगों की जाति बहुत छोटी है और सम्भवतः वे शुद्ध आर्य्य वंश के अर्थात् प्राचीन वैश्यों की सन्तान है। वाणिज्य करने वाली जातियों में सुवर्ण वणिक तथा कुछ अन्य जातियां न्यून वा अधिक आर्य्य वंश की हैं। कुम्हार तांती, लुहार, सोनार, तथा अन्य शिल्पकार कुछ अंश में आर्य्यवंशज हैं और उनकी उत्पत्ति प्राचीन वैश्य जाति से हुई है और वे भिन्नभिन्न व्यवसाय करने के कारण आधुनिक समय में भिन्न भिन्न जाति के हो गए हैं। इसके साथ ही इन आर्य्य जातियों में आदि वासियों के खून का अधिक सम्मेल है। जो आदि वासी लोग विजयी आर्य्यों के सिखाए हुए व्यवसाय को करने लगे वे अन्त में उन्हीं लोगों के व्यवसाय की जाति में सम्मिलित हो गए। इनके सिवाय खेती चराई, अहेर करने वाली तथा मछली मारने वाली बड़ी जातियां, कैवर्त्त, चाण्डाल, और लाखों खेती करने वाले मुसल्मान निस्सदेह इस देश के अनार्य्य आदि वासियों की सन्तान हैं। इनके भी सिवाय बागदी,

कलि	,,	७७८	गोविंद	,,	९८९
कमल	,,	७९२	नरसिंह	,,	१०१३
कुण्डल	,,	८११	नृत्य	,,	९९९
चन्द्र	,,	८२९	कूर्म केशरी		१०२४
वीरचन्द्र	,,	८४६	मत्स्य	,,	१०३४
अमृत	,,	८६५	वराह	,,	१०५०
विजय केशरी		८७५	वामन	,,	१०६५
चन्द्रपाल	,,	८९०	परशु	,,	१०७८
मधुसूदन	,,	९०४	चन्द्र	,,	१०८०
धर्म	,,	९२०	सुजन	,,	१०९०
जन	,,	९४१	शालिनि	,,	१०९९
नृप	,,	९५१	पुरञ्जन	,,	११०४
मकर	,,	९७३	विष्णु	,,	११२०
त्रिपुर	,,	९८१	इन्द्र	,,	११२५
माधव	,,	९८७	सुवर्ण	,,	११२३-११३२

[केशरी वंश की समाप्ति]

कहा जाता है कि पहिले राजा ययाति ने इस राजधानी को स्थापित किया था और उसके नाम से विदित होता है कि उस समय शिव वा भुवनेश्वर उडीसा के हिन्दुओं का सब से प्रसिद्ध देवता था। जाजपुर ययाति की दूसरी राजधानी थी और वहां जो बड़ी मूर्तियां मिली हैं उनसे इस राज्यवंश की प्रबलता और महत्व तथा शिव और उसकी पत्नी में उनकी भक्ति प्रगट होती है। नृप केशरी जिसने कि सन ९४१ से ९५३ तक राज्य किया कटक के नगर का स्थापित करने वाला कहा जाता है।

केशरी वंश के उपरान्त एक नया वंश अर्थात् गंग वंश हुआ।

इस वंश की उत्पत्ति का अब तक पता नहीं लगा है परन्तु इस वंश के नाम तथा उसके सम्बन्ध की दन्त कथाओं से उनका बंगाल से सम्बन्ध प्रगट होता है और यह सम्भव है कि वे प्राचीन ताम्रलिपि वा तुमलूक के निकट से आए हों। इस वंश के उदय के साथ धर्म्म का भी परिवर्तन हुआ और जिस भांति केशरी वंश ने बौद्ध धर्म्म को दबाकर शिवपूजन का प्रचार किया था उसी भांति गंग वंश ने शिवपूजन को उठाकर बिष्णु पूजन का प्रचार किया। परन्तु फिर भी इनमें से किसी धर्म्म का भी उड़ीसा से पूर्णतया लोप नहीं हो गया था, वरन् इसके विरुद्ध तीनों धर्म्म साथ ही साथ प्रचलित थे और समय पाकर घट बढ़ जाते थे। बिष्णु पूजन आधुनिक रूप में आजकल का प्रचलित धर्म्म है।

हम डाक्टर हण्टर साहेब के ग्रंथ से गंग वंश की निम्न लिखित सूची देते हैं—

	ई०		
चोर गंग	११३२	शंख वसुदेव	१३३७
गंगेश्वर	११५२	बलि वसुदेव	१३६१
एकजतकमदेव	११६६	वीर वसुदेव	१३८२
मदनमहादेव	११७१	कलि ,,	१४०१
अनंग भीम ,,	११७५	नेत्रानंत ,,	१४१४
राजराजेश्वर ,,	१२०२	नेत्र ,,	१४२८
लांगुल्यनरसिंह	१२३७	कपिलेन्द्र देव	१४५२
केशरी ,,	१२८२	पुरुषोत्तम ,,	१४७९
प्रताप ,,	१३०७	प्रताप रुद्र ,,	१५०४
घटिरुन्द्र ,,	१३२७	कलिंग ,,	१५३२
कपिल ,,	१३२८	कखारुआ ,,	१५३३ १५३४
गंग ससुर	१३३०		

[गंग वंश की समाप्ति]

प्रचारक चैतन्य उड़ीसा में आया उस समय उसके उत्तराधिकारी प्रतापरूद्र देव का राज्य था।

गंगवंश के अन्तिम राजा को गोविन्द विद्याधर ने मार कर राज्य ले लिया परन्तु उसके राज्य काल (१५३४-१५४१) में मुसल्मानों से युद्ध आरम्भ हुआ। इसके उपरान्त ४ राजा गद्दी पर बैठे अर्थात् चक्रप्रताप (१५४१ १५४९) नरसिंहजन (१५४९ १५५०) रघुराम चोत्र (१५५०-१५५१) और मकुन्ददेव (१५५१-१५५९)। इसी अन्तिम राजा के राज्य में प्रसिद्ध मुसल्मान सेनापति कलपहर ने इस प्रान्त में आक्रमण किया, जाजपुर के निकट के युद्ध में राजा को हराया और मार डाला, जगन्नाथ के नगर को लूटा और हिन्दू राज्य का नाश कर दिया।

इस भांति उत्तरी भारतवर्ष और बंगाल के विजय के लगभग ४ शताब्दी पीछे तक उड़ीसा ने अपनी स्वतंत्रता स्थिर रखी थी और लगभग १५६० ईस्वी में उसे मुसल्मानों ने जीता।

——o——

५ अध्याय ।

कश्मीर और दक्षिणी भारतवर्ष ।

हम पहिले किसी अध्याय में प्रतापी विक्रमादित्य के समकालीन मातृगुप्त के समय तक कश्मीर का इतिहास लिख चुके हैं अब हम मातृगुप्त के उत्तराधिकारियों के नाम बारहवीं शताब्दी के बीच तक देते हैं जब कि कल्हण के इतिहास की समाप्ति होती है। कल्हण के उपरान्त का इतिहास अन्य ग्रंथकारों ने लिखा है।

हमें केवल इतना कह देना है कि दुर्लभवर्द्धन के समय से (जो कि मातृगुप्त के उपरान्त सातवां राजा था) कल्हण की दी हुई तिथियां पूर्णतया विश्वास योग्य हैं। कल्हण के अनुसार दुर्लभवर्द्धन का राज्य सन ५९८ में आरम्भ हुआ। मातृगुप्त और दुर्लभवर्द्धन के बीच ६ राजाओं ने राज्य किया और यदि हम इनमें से प्रत्येक राजा के लिये १५ वर्ष का औसत समय दें तो मातृगुप्त का राज्य छठीं शताब्दी के प्रारम्भ में निश्चित होता है।

मातृगुप्त ने राज्य त्याग ५० ई० में किया

प्रवरसेन
युधिष्ठिर
नरेन्द्रादित्य
रणादित्य
विक्रमादित्य
बालादित्य } ५५०–५९८

दुर्लभ वर्द्धन (कल्हँण की तिथि) ५९८
दुर्लभक ,, ६३४
चन्द्रापीर ,, ६८४
तारा ,, ,, ६९३
ललितादित्य ,, ७६९
कुवलयापीर ,, ७३३
वज्रादित्य ,, ७३४
पृथिव्यापीर ,, ७४१
संग्राम ,, ,, ७४५
जया ,, ,, ७४५
ललिता ,, ,, ७७६
संग्राम ,, ,, ७८८
चिप्पट जया ,, ,, ७९५
अजिता ,, ,, ८१३
अनंग ,, ,, ८४९

उत्पला पीर (कलहण की तिथि) ८५२
अवन्ति वर्म्मन ,, ८५५
शंकर ,, ८८३
गोपाल ,, ९०२
संकट ,, ९०४
सुगन्धा ,, ९०४
पार्थ ,, ९०६
निर्जित ,, ९२१
चक्र वर्म्मन ,, ९२२
सुर ,, ,, ९३३
पार्थ (दूसरी बार) ९३४
चक्र वर्म्मन (दूसरी और तीसरी बार) ,, ९३५
त्रिभुवन ,, ,, ९७३
भीम गुप्त ,, ९७५
उनमत्तावन्ति ,, ९३७
सुर वर्म्म ,, ९३९
यशस्कर ,, ९३९
वर्नट ,, ९४८
संग्राम ,, ९४८
पर्व गुप्त ,, ९४८
क्षेम गुप्त ,, ९०५
अभिमन्यु ,, ९५८

नन्दिगुप्त	,,	९७२	रड्डु	,,	११११
दिद्दा	,,	९८०	सल्हण	,,	११११
संग्राम	,,	१००३	सुस्सल	,,	१११२
हरिराज	,,	१०२८	भिक्षाचर	,,	११२०
अनन्तदेव	,,	१०२८	सुस्सल	,,	११२१
रणादित्य	,,	१०६३	सिंह देव	,,	११२७
उत्कर्ष	,,	१०८९	कल्हण का इतिहास इस		
हर्ष	,,	१०८९	राजा के राज्य के आठवें		
उच्चल	,,	११०१	वर्ष में समाप्त होता है।		

कल्हण और उसके अनुवादक को धन्यवाद है कि उनसे पाठकों को कश्मीर के इतिहास की कुछ मनोरंजक बातें विदित होती हैं। मातृगुप्त की कथा इतिहास में सब से मनोरंजक है। कहा जाता है कि वह प्रतापी विक्रमादित्य की सभा का कवि था और उस सम्राट ने उसकी योग्यता के पुरस्कार की भांति उसे कश्मीर का राज्य दिया। हम नहीं जानते कि उस कवि ने किस भांति राज्य का प्रबन्ध किया परन्तु जब उसने अपने संरक्षक की मृत्यु का समाचार सुना तो उसने शोक के कारण संसार त्याग दिया और वह सन्यासी होकर बनारस चला गया।

शीलादित्य को पराजित किया और उज्जयिनी से वह सिंहासन ले आया जिसे कि विक्रमादित्य ने विजय चिन्ह की भांति पाया था। यहां पर हमें हुनत्सांग के इस कथन का प्रमाण मिलता है कि प्रथम शीलादित्य प्रतापी विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी हुआ।

इसके उपरान्त का बड़ा राजा प्रसिद्ध ललितादित्य हुआ जिसका ३० वर्ष का बड़ा राज्य सन ६९७ से प्रारम्भ होता है। उसने अपना राज्य बहुत दूर दूर तक फैलाया और कन्नौज के राजा यशोवर्मन को पराजित किया और वहां से भवभूति इस राजा के साथ आया जो कि कालिदास के उपरान्त भारतवर्ष का सब से प्रसिद्ध नाटककार है। ललितादित्य तब पूरब और दक्षिण की ओर बढ़ा और कहा जाता है कि उसने कलिंग गौड़ और कर्नाट को भी पराजित किया और तब "एक द्वीप से दूसरे द्वीप में होते हुए समुद्र को पार किया" हम नहीं जानते कि यह कहां तक सत्य है और इसमें कहां तक कवि की अत्युक्ति है। वह विन्ध्या को पार कर अवन्ति में होता हुआ अपने देश को लौटा। उसने बहुत सी इमारतें बनवाईं और कहा जाता है कि अज्ञात उत्तर को विजय करने के निमित्त हिमालय को पार करने के यत्न में उसने अपना जीवन खोया।

ललितादित्य केवल भवभूति कवि का ही नहीं वरन सिंधु के जीतने वाले मुहम्मद कासिम का भी समकालीन था। कहा जाता है कि ललितादित्य ने तुरकों को तथा सिंध के छली राजा को पराजित किया था। यह कदाचित

काशिम का उत्तराधिकारी होगा जिसके अधीन सन् ७[illegible] ई० तक सिंध रहा ।

वज्रादित्य की जिसने ७५४ से ७६१ ई० तक राज्य किया बहुत सी स्त्रियां थीं । उसने बहुत से लोगों को म्लेच्छों के हाथ बेंच डाला और उनकी बुरी रीतियों का प्रचार किया ।

प्रतापी जयापीड ने सन् ७६५ से ७९६ ई० तक ३१ वर्ष राज्य किया और पाणिनि पर पातंजलि के महाभाष्य को संगृहीत करने के लिये विद्वानों को नियत किया । यह भी कहा जाता है कि वह पौन्ड्रवर्द्धन में गया जो कि गौड़ के जयन्त राजा के अधीन था और उसने जयन्त की पुत्री कल्याणा देवी से विवाह किया । एक प्रबल विजयी होने के कारण उसने नेपाल में भी प्रवेश किया परन्तु वहां हराया और कैद कर लिया गया पर फिर भाग आया । जयापीड अपने कायस्थ मंत्रियों और कोषाध्यक्षों पर विश्वास करता था और एक ब्राह्मण इतिहासकार लिखता है कि ब्राह्मण के शाप से उसकी मृत्यु हुई ।

अवन्तिवर्म्मन् ने सन् ८५५ ई० में एक नए वंश को स्थापित किया और सन् ८८३ तक राज्य किया । उसके राज्य में बड़ी बड़ी बाढ़ों ने बड़ी हानि पहुंचाई और कहा जाता है कि सुय्यु नामक एक देशहितैषी ने वितस्ता नदी के [illegible] [illegible] मार्ग साफ किया और अधिक जल को निकालने के लिये नहरें भी खुदवाईं । [illegible] [illegible]

महापद्म झील के पानी से रक्षा के लिये एक बड़ी बांध बंधवाई और इस झील को भी वितष्टा में मिलाया।

अवन्ति वर्म्मन् पहिला वैष्णव राजा देखने में आता है उसका उत्तराधिकारी शंकरवर्म्मन् बड़ा विजयी हुआ और उसने अपना राज्य गुजरात तक बढ़ाया परन्तु कायस्थ कोषाध्यक्षों पर विश्वास करने के कारण वह अपने देश के ब्राह्मणों का घृणापात्र बन गया। सन् ९०२ ईस्वी में सुरेन्द्रवती और उसकी अन्य दो रानियां उसके साथ चिता में सती हो गईं।

उसकी एक दुराचारी रानी सुगन्धा ने तांत्रियों और एकांगों की सहायता से जो कि सम्भवतः दो पन्थ के लोग थे, सन् ९०४ से ९०६ ई० तक दो वर्ष राज्य किया। परन्तु वह शीघ्र ही राज्यसिंहासन से उतारी गई और तांत्री लोग पारितोषिक और आदर पाने के अनुसार एक के उपरान्त दूसरे राजा को सिंहासन पर बैठाते रहे। इसके उपरान्त हमें लगातार अयोग्य और दुराचारी राजाओं की नामावली मिलती है जिनमें से क्षेमगुप्त (९५०-९५८) सब से अधिक निर्लज्ज और दुराचारी हुआ। उसका पुत्र अभिमन्यु निष्कलंक राजा था और उसने १४ वर्ष तक राज्य किया। इसके उपरान्त उसकी माता दिद्दा (क्षेमगुप्त की विधवा) ने तीन बालक राजाओं को मार कर तेइस वर्ष तक (९८० से १००३) तक राज्य किया। जिस समय कश्मीर के राज्य को ये दृश्य कलंकित कर रहे थे उस समय एक बड़ा शत्रु निकट था। महमूद गज़नी ने दिद्दा का राज्य समाप्त होने के पहिले अपना आक्रमण आरम्भ कर दिया था।

उसके उत्तराधिकारी क्षेमपति ने तुरन्त आक्रमण करने वाले हम्मीर (महमूद) के विरुद्ध शाहराजा को सहायता भेजी । परन्तु वह व्यर्थ हुई । इस भयानक आक्रमण करने वाले ने कश्मीरियों और राजपूतों की सेना को पराजित किया और "शाहिराज्य" को अपने राज्य में मिला लिया इसके उपरान्त एक दूसरी सेना भेजी गई परन्तु विजयी मुसल्मानों के सामहने सेना अपने देश की ओर भागी ।

अनन्त ने ३५ वर्ष राज्य करने के उपरान्त अपने पुत्र रणादित्य को राज्य दे दिया जो कि दुराचारी प्रकृति का था । उसने भी २६ वर्ष तक राज्य किया और सन् १०८८ में मरा । उसका पुत्र उत्कर्ष उसका उत्तराधिकारी हुआ परन्तु उसके योग्य भ्राता हर्ष ने उसे शीघ्रही राज्य सिंहासन से उतार दिया । इसके राज्य में देश में बहुत से युद्ध हुए और अन्त में राजा की हार हुई । वह सन्यासी होकर परन्तु पता लगवा कर वह मार डाला गया ।

कश्मीर की एकान्त स्थिति ने राज्य के कई शताब्दियों के उपरान्त तक अपनी स्वतंत्रता स्थिर रखी परन्तु इसके इतिहास में पाठकों के लिये कोई बड़ी मनोरञ्जक घटना नहीं हुई, अन्त में इस राज्य को मुसल्मान आक्रमण करने वालों ने जीत लिया और अकबर ने उसे अपने राज्य में मिला लिया ।

अब हम दक्षिणी भारतवर्ष के इतिहास की ओर झुकेंगे । हम देख चुके हैं कि दार्शनिक काल में ईसा के पहिले [illegible] शताब्दी के उपरान्त दक्षिणी भारतवर्ष के [illegible] हिन्दू बनाया । इसी काल से [illegible]

राज्य स्थापित हुआ और वहां विद्या और स्मृति के भी कुछ सूत्र सम्प्रदाय स्थापित हुए। सन् ईस्वी के उपरान्त अन्ध्र लोगों ने मगध और उत्तरी भारत वर्षतक अपना राज्य बढ़ाया और कई शताब्दियों तक वे भारतवर्ष में सर्व प्रधान रहे। अन्ध्रों और गुप्तों के पतन के उपरान्त बल्लभी लोग गुजरात और पश्चमी भारतवर्ष के स्वामी हुए और उनके उत्तराधिकारी राजपूत लोग हुए।

इस बीच में जब कि बल्लभी लोगों का गुजरात में उदय हुआ था तो दक्षिण में चालुक्यों की एक राजपूत जाति बड़ी प्रबल हुई और नर्बदा और कृष्णा के बीच का समस्त देश उसके अधीन रहा। दक्षिण में चालुक्यों का राज्य पांचवीं शताब्दी के अन्त से प्रारम्भ हुआ और २० वीं शताब्दी के अन्त तक अर्थात् उस समय तक रहा जब कि उत्तरी भारतवर्ष को मुसल्मानों ने विजय किया था। चालुक्यों की पश्चिमी शाखा कोकन और महाराष्ट्र देश पर राज्य करती थी और उनकी राजधानी कल्याण में थी। इसी जाति की पूर्बी शाखा पूर्बी दक्षिण में राज्य करती थी और उसकी राजधानी गोदावरी नदी के मोहाने के निकट राजमन्द्री में थी। सर बाल्टर ईलियट साहब ने सन् १८५८ ई० में इन दोनों राज्यवंशों के राजाओं की सूची प्रकाशित की थी और तब से अन्य ग्रन्थकारों ने इन सूचियों की नकल की है।

——o——

चालुक्य वंश ।

पश्चिमी शाखा । राजधानी-कल्याण ।

१ जयसिंह विजयादित्य प्रथम ४७० ई०
२ राजसिंह विष्णुवर्द्धन
३ विजयादित्य द्वितीय
४ पुलकेशिन प्रथम
५ कीर्तिवर्म्म प्रथम
६ मंगलीश
७ सत्याश्रय पुलकेशिन द्वितीय (शिलादित्य द्वितीय और हर्षवर्द्धन का समकालीन) ६०९
८ अमर
९ आदित्य
१० विक्रमादित्य प्रथम
११ विनयादित्य
१२ विजयादित्य तृतीय
१३ विक्रमादित्य द्वितीय
१४ कीर्तिवर्म्म द्वितीय
१५ कीर्तिवर्म्म तृतीय [illegible]
१६ भीम प्रथम
१७ [illegible]
१८ कीर्तिवर्म्म चतुर्थ
१९ विजयादित्य चतुर्थ
२० विक्रमादित्य तृतीय या तैलप द्वितीय (इसने रट्ट पुत से राज्य छीने जाने उपरान्त उसे प्राप्त किया) ९७३
२१ सत्याश्रय द्वितीय
२२ विक्रमादित्य चतुर्थ
२३ जयसिंह
२४ सोमेश्वर प्रथम
२५ सोमेश्वर द्वितीय
२६ विक्रमादित्य पंचम
२७ सोमेश्वर तृतीय ११२७
२८ जगदेव ११३८
२९ तैलप तृतीय ११५०
३० सोमेश्वर चतुर्थ (इसे कलचुर्य वंश के बिज्जल ने राजगद्दी से उतार दिया और राज्य का दक्षिणी भाग मैसूर के [illegible] के आधीन हुआ) ११[illegible]

पूर्वी शाखा । राजधानी राजमन्द्री ।

ई०	
१ विष्णुवर्द्धन द्वितीय (६०५)	२० युद्ध मल्ल
२ जयसिंह प्रथम	२१ राजभीम द्वितीय
३ इन्द्रराज	२२ अम्मराज द्वितीय
४ विष्णुवर्द्धन तृतीय	२३ धनार्णव
५ मंग युवराज	(२७ वर्ष राजगद्दी सून्य रही)
६ जयसिंह द्वितीय } भाई	२४ कृत्ति वर्म्म
७ कोक्किल } भाई	२५ बिमलादित्य
८ विष्णुवर्द्धन चौथा } भाई	२६ राजनरेन्द्र
९ विजयादित्य प्रथम	२७ राजेन्द्र चोल
१० विष्णु वर्द्धन पंचम	२८ विक्रमदेव चोल
११ नरेन्द्र मृगराज	२९ राज राज चोल (एक वर्ष के लिये राज प्रतिनिधि रहा)
१२ विष्णु वर्द्धन षष्ट	३० बीरदेव चोल (१०७९–११३५) इसके उपरान्त वारंगल के ककत्य वंश के अधीन यह देश हो गया)
१३ विजयादित्य द्वितीय (कलिंग विजय किया)	
१४ चौलुक्य भीम प्रथम	
१५ बिजयादित्य तृतीय	
१६ अम्मराज	
१७ विजयादित्य चतुर्थ	
१८ तलप	
१९ विजयादित्य पंचम	

केवल राजाओं की सूची से पाठकों को देश के इतिहास का कोई ज्ञान नहीं हो सकता और दुर्भाग्य वश उपरोक्त सूचियों के सिवाय चालुक्यों के विषय में हमें और

कोई बात विदित नहीं है । कहा जाता है कि प्राचीन
अर्थात् पश्चिमी शाखा का संस्थापक यवनी राजाओं के
संस्थापक प्रथम का सम्बन्धी था । चौथा राजा पुलकेशिन
वही है जिसने कि हुइनत्सांग के समय के एक सौ वर्ष पहिले
अमरावती के मठ को लूट लिया था और वहां से बौद्ध
धर्म्म को उठा दिया था । उसने सम्भवतः चोल को भी
विजय किया, कञ्जीवरम को जला डाला और वहां से
पल्लावा लोगों को भगा दिया, जो कि चालुक्यों के उदय के
पहिले दक्षिण में प्रधान जाति थे । सातवां राजा पुलकेशिन
द्वितीय कन्नौज के शीलादित्य द्वितीय का बड़ा समकक्षी था
जिसे कि शीलादित्य कभी पराजित न कर सका और हम
हुइनत्सांग की यात्रा में इस बड़े और प्रतापी राजा के
आधीन स्थानों का उत्तेजक वृत्तान्त लिख चुके हैं । जान
पड़ता है कि इस वंश की प्रबलता लगभग सन् ७५० ई० तक
रही । इसके उपरान्त कुछ समय के लिये तैलप द्वितीय के
समय तक इसका अधिकार घटा रहा । तैलप द्वितीय ने
अपने साम्राज्य को सन् ९७३ ई० में पुनः प्राप्त किया । इसके
पीछे दो शताब्दियों तक और यह वंश अच्छी अवस्था में
रहा और फिर इसकी समाप्ति हो गई ।

पूर्वी वा छोटी शाखा ने अपना राज्य उत्तर की ओर
उड़ीसा की सीमा तक बढ़ाया और अपनी राजधानी राज-
महेन्द्री अर्थात् आधुनिक राजमहेन्द्री में स्थापित की । इसके
इतिहास में कई बार उलट फेर हुए परन्तु यह प्राचीन वंश
बार बार अपने अधिकार को प्राप्त करने में सफल होता रहा
यहां तक कि यह राज्य विवाह के द्वारा राजेन्द्र चोल के

पास चला गया जो कि दक्षिणी भारतवर्ष का उस समय प्रधान सम्म्राट था और जिसके समय में चोल लोगों के प्रताप की सब से अधिक वृद्धि हुई थी।

चालुक्य लोग भारतवर्ष के अन्य सब राजपूतों की नाईं कट्टर हिन्दू थे और बौद्ध धर्म्म के विरोधी थे। हम आगे चल कर एक अध्याय में इस वंश की बनाई हुई हिन्दू इमारतों का कुछ वृत्तान्त देंगे।

अब हम कृष्णा नदी के दक्षिण ओर द्रविड़ के प्राचीन देश को पाते हैं जो कि दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैला हुआ है। जान पड़ता है कि प्राचीन द्रविड़ लोगों में आर्य्यों की सभ्यता का प्रचार होने के पहिले वे लोग अपनी ही रीति से सभ्य थे। हम पंड्यों के विषय में लिख चुके हैं जिन्होंने नितांत दक्षिण में ईसा के कई शताब्दी पहिले अपना राज्य स्थापित किया था। स्ट्रेबो ने लिखा है कि आगस्टस के पास राजा पेण्डिऔन के यहां से एक राजदूत आया था और यह अनुमान किया जाता है कि यह राजदूत पांड्य देश का था। "पिरिप्लस" के समय में पांड्यों के राज्य में मालावार तट भी सम्मिलित था और प्राचीन ग्रन्थकारों का इस देश के विषय में बहुधा उल्लेख होने के कारण जान पड़ता है कि ईसा के पहिले और पीछे की शताब्दियों में वह इतना सभ्य था कि पश्चिमी जातियों के साथ उसका बड़ा व्यापार होता था। इस राज्य की राजधानी दो बार बदली गई और अन्त में मदुरा में नियत हुई और यहीं वह टालेमी के समय में तथा इसके उपरान्त रही।

पाण्ड्य राज्य भारतवर्ष के नितान्त दक्षिण में
और उसमें एक मोटे हिसाब से आज कल के टिन्नेवे(ली)
और मदुरा के ज़िले सम्मिलित थे। इसके उत्तर की ओर
सन् ईस्वी के पहिले एक दूसरे मध्य राज्य अर्थात् चोल के
राज्य की उत्पत्ति हुई जो कि कावेरी नदी के समीप और
उसके उत्तर की ओर फैला हुआ था। इस राज्य की राज-
धानी काञ्ची का नाम संस्कृत साहित्य में विद्या के लिये
प्रसिद्ध है और वह ह्वेनत्सांग के समय में एक भरा पूरा
नगर था और इस विद्या के केन्द्र से उत्तर में उज्जैनी
और कन्नौज के साथ बराबर व्यवहार होते रहे होंगे।
आठवीं तथा इसकी उपरान्त की शताब्दियों में चोल
राजाओं का अधिकार कर्नाट और कलिंगन के बहुत से
भाग में फैल गया।

एक तीसरे प्राचीन राज्य अर्थात् चेर राज्य में ट्रैवेन-
कोर, मालाबार और कैम्बटूर सम्मिलित थे। इसका
उल्लेख टालेमी ने किया है और वह सन् ईस्वी के पहिले
रहा होगा। केरल भी जिसमें कि मालाबार और कनारा
सम्मिलित थे इससे सटा हुआ एक राज्य था और सम्भवत
वह बहुधा पांड्य राजाओं के अधिकार और रक्षा में था।

यह बात विदित हुई है कि अशोक की दूसरी सूचना
में चोड़ा, पद, और केरलपुत्र देशों का उल्लेख है और यह
अनुमान किया जाता है कि ये नाम चोल, पांड्य, और
र (या केरल) राज्यों के लिये आए हैं। इससे यह विदित
ता कि भारतवर्ष के नितान्त दक्षिण के ये तीनों प्राचीन

हिन्दूराज्य ईसा के ३०० वर्षों से अधिक पहिले ही प्रसिद्ध हो चुके थे।

दक्षिणी भारतवर्ष के इन प्राचीन तीनों राज्यों का विस्तार भिन्न भिन्न राजाओं और वंशों के अधिकार के अनुसार बढ़ता घटता रहा। पांड्य लोग सब से प्राचीन थे परन्तु सन् ईस्वी के उपरान्त चोल अर्थात् काञ्ची के राजा लोग सब से प्रसिद्ध और सब से प्रबल हुए और वे बहुधा चालुक्य वंश की पूर्बी शाखा से युद्ध करते रहे। पाठकों को पूर्बी चालुक्य राजाओं की सूची में राजेन्द्र चोल और उसके तीनों उतराधिकारियों के नाम मिलेंगे जो कि उस समय दक्षिणी भारतवर्ष के स्वामी थे।

दसवीं शताब्दी के अन्त में मैसूर में एक बड़े राजपूत वंश अर्थात् बल्लाल वंश का उदय हुआ। ११ वीं शताब्दी में उन्होंने सारे कर्नाटक को अपने अधीन कर लिया और जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं पश्चिमी चालुक्यों के दक्षिणी राज्य को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। यह प्रबल वंश कर्नाटक और मालावार में सर्वप्रधान रहा यहां तक कि अंत में मुसल्मानों ने सन १३१० ईस्वी में उसका नाश कर डाला।

अब हमें दक्षिण के एक हिन्दू राज्य का वर्णन करना है यद्यपि उसका इतिहास मुसल्मानों के समय से सम्बन्ध रखता है। कर्नाटक के बल्लाल वंश का नाश होने पर उनका स्थान एक नए वंश ने लिया जिसने कि सन् १३४४ ई० के लगभग विजयनगर में अपनी राजधानी स्थापित की। विजयनगर के स्थापित करने वाले दो राजा कहे जाते हैं

अर्थात् बुक्करय और हरिहर जिन्होंने कि एक विद्वान ब्राह्मण माधव विद्यारण्य की सहायता से इसे किया। बुक्करय के सब से प्राचीन ताम्रपत्र का समय १३७० ई० है। माधव जो कि सायन भी कहलाता है उसका प्रधान मंत्री था और वह हिन्दुओं के पवित्र ग्रन्थों का सबसे बड़ा और विद्वान भाष्यकार है जिसे भारतवर्ष ने उत्पन्न किया है। १४ वीं शताब्दी में एक बड़े हिन्दूराज्य के स्थापित होने के कारण थोड़े काल के लिये हिन्दुओं की विद्या पुनर्जीवित होगई और वेदों, दर्शन शास्त्रों, स्मृति और व्याकरण के भाष्यों के लिये, जो कि आज तक समस्त भारतवर्ष में प्रमाण समझे जाते हैं हम लोग सायन के अनुगृहीत हैं।

विजयनगर का हिन्दूराज्य दो सौ वर्ष से अधिक समय तक बढ़ा चढ़ा रहा। दक्षिण में जिन मुसल्मानी राज्यों का उदय हो गया था उनके बीच उसने अपना स्थान स्थिर रक्खा, मेल वा संधि और युद्ध के द्वारा देशों को जीता वा खोया। हिन्दु और मुसल्मानों के बीच पहिले से अधिक हेल मेल हो गया था। बहमनी राजा लोग राजपूत सेना को रखते थे और विजयनगर के राजा लोग मुसल्मानी सेना को रखते थे। उनके सर्दारों को भूमि देते थे और उनके लिये अपनी राजधानी में मसजिद बनवाते थे।

परन्तु कई शताब्दियों में एक कट्टर जोश की उत्पत्ति हुई और अहमदाबाद बीजापुर और गोलकुण्डा, (जो कि प्राचीन बाहमनी राज्य में से भिन्न राज्य बन गए थे) के मुसल्मानी सर्दारों ने हिन्दू राज्य के विरुद्ध

एका किया। कृष्णा नदी के तट पर टलीकोटा के निकट सन १५६५ ई० में एक बड़ा युद्ध हुआ और उसमें मुसल्मान लोगों ने विजय पाई। वृद्ध और बीर राजा का बड़ी निर्दयता से वध किया गया और उसका सिर कई शताब्दियों तक बीजापुर में तोहफे की नांई रखा रहा।

इस प्रकार विजयनगर के राज्य का नाश हुआ और यह दक्षिणी भारतवर्ष का हिन्दुओं का सबसे अंतिम बड़ा राज्य था। परन्तु मुसल्मानों का दक्षिणी भारतवर्ष की विजय पूर्ण नहीं हुई और कर्नाटक, ट्रेवेनकोर तथा अन्य स्थानों में छोटे छोटे सर्दार राजा ज़िमीदार और पोलीगार लोग अपना अधिकार जमाए थे जो कि बहुधा अपने पहाड़ी किलों में रहते थे और कर्नाटक में अंग्रेजों के युद्ध के समय में देखने में आए थे।

विजयनगर के अन्तिम राजा का भाई चन्द्रगिरि में आकर बसा और उसीकी एक सन्तान ने अंग्रेजों को फोर्ट सेण्ट ज्यार्ज (मद्रास) में सन् १६४० ई० में अर्थात् प्राचीन विजयनगर के राज्य के पतन होने के १०० वर्ष के भीतर बसने की आज्ञा दी थी। यह छोटी सी बात एक अद्भुत और मनोरञ्जक घटना है जो कि भूत काल को वर्तमान काल से मिलाती है।

——:o:——

अध्याय ६।

धर्म्म।

जो हिन्दू धर्म्म भारतवर्ष में बौद्ध धर्म्म के पहिले प्रचलित था वह साधारणत: वैदिक धर्म्म के नाम से प्रसिद्ध है और जिस रूप में हिन्दू धर्म्म ने बौद्ध धर्म्म के उपरान्त उसका स्थान ग्रहण किया वह साधारणतः पौराणिक धर्म्म कहालता है। वैदिक और पौराणिक धर्म्म में दो मुख्य भेद हैं अर्थात् एक तो सिद्धान्त में और दूसरा आचार मे।

वैदिक धर्म्म अन्तिम समय तक तत्वों के देवताओं का धर्म्म था अर्थात् इन्द्र, अग्नि, सूर्य्य, वरुण, मरुत्स, अश्विनी, तथा अन्य देवताओं का, और यद्यपि ऋचाओं और उपनिषदों के बनाने वालों में एक सर्वप्रधान और सर्व व्यापक ईश्वर का विचार उदय हुआ परन्तु फिर भी राजा और सर्व साधारण लोग समान रीति से ऋग्वेद के प्राचीन देवताओं को अब भी बलिप्रदान करते थे। इसी भांति पौराणिक धर्म्म में भी ये सब देवता माने गए थे परन्तु इन देवताओं से कहीं ऊपर एक परमेश्वर अपने तीन रूपों में अर्थात सृष्टि करने वाले ब्रह्मा, पालन करने वाले विष्णु और संहार करने वाले शिव के रूप में माना गया था। इस हिन्दू त्रिकत्व का मानना पौराणिक धर्म्म के सिद्धान्त में एक नई बात है और इस विचार को बौद्ध-ग्रन्थ से उत्पन्न न किए जाने का सन्देह करना असम्भव है।

आचार के विषय में पौराणिक धर्म्म की नई बात निर्दिष्ट है। वैदिक धर्म्म अग्नि में होम करने का धर्म्म

था। बड़े प्राचीन समय में जो कुछ देवताओं को चढ़ाना होता था वह अग्नि में हवन किया जाता था और दार्शनिक काल के अन्त तक राजा, पुजेरी तथा नम्र गृहस्थ लोग अग्नि में हवन करते थे और मूर्तिपूजा को नहीं जानते थे। सन् ईस्वी के उपरान्त की शताब्दियों में बौद्ध धर्म्म में बिगड़ कर मूर्तिपूजा होगई थी और इस बात का सन्देह न करना असम्भव है कि आधुनिक हिन्दू धर्म्म ने मूर्तिपूजा को बौद्ध धर्म्म से ग्रहण किया है। यह निश्चय है कि बौद्ध काल में जिस समय मनुस्मृति बन रही थी उस समय मूर्ति पूजा का प्रचार होता जाता था और इस कट्टर स्मृतिकार ने उनकी निन्दा की है। परन्तु यह रीति दृढ़ता से प्रचलित होती गई यहां तक कि वह आधुनिक हिन्दू रीतियों और विधानों का मूल तत्व हो गई है। अब अग्नि में हवन करना प्रायः एक बीती हुई कहानी है।

वैदिक धर्म्म और पौराणिक धर्म्म के सिद्धान्त और आचार में ऐसा भेद है। परन्तु उस कट्टर बिचार के साथ जो कि हिंदू धर्म्म की प्रत्येक नई उन्नति में सदा पाया जाता है, पौराणिक ग्रंथकारों ने भी नवीन बात के दिखाव को बचाया है और प्राचीन वैदिक देवताओं के नाम में से त्रिमूर्ति के नामों को चुना है। ब्राह्मा अथवा ब्रह्मन्- स्पति ऋग्वेद में स्तुति का देवता था और जब उपनिषदों के बनाने वालों ने एक सर्वव्यापक ईश्वर होने का विचार ग्रहण किया तब उन्होंने उस ईश्वर का नाम ब्रह्मन् रखा। अतएव यह नाम ईश्वर के सृष्टि उत्पन्न करने के कार्य्य के

लिये ठीक हुआ। ऋग्वेद में विष्णु सूर्य्य का नाम था जो कि सब प्राणियों का पालन करता है और इस कारण उसका नाम ईश्वर की पालन करने वाली शक्ति के आधुनिक विचार के लिये उपयुक्त हुआ। रुद्र ऋग्वेद में बिजली वा बिजली के बादल का नाम था और ईश्वर की संहारक शक्ति के लिये इससे उत्तम और कोई नाम नहीं चुना जा सकता था। और जब ईश्वर की भिन्न भिन्न शक्तियों के नाम इस प्रकार भिन्न भिन्न रक्खे गए तो उन्होंने बहुत ही शीघ्र विशेष विशेष रूपों और स्थितियों को ग्रहण किया। सन् ईस्वी के लगभग सनु को सृष्टिकर्त्ता पालनकर्ता और संहारकर्ता का यह त्रैकत्व विदित नहीं था। परन्तु छठीं शताब्दी में कालिदास के समय तक यह जातीय विचार हो गया था।

जब कि सर्व साधारण की कल्पना ने ईश्वर की उन भिन्न भिन्न शक्तियों के लिये भिन्न भिन्न देवताओं की कल्पना करली थी तो इन देवताओं का सम्बन्ध देवियों से करने की आवश्यकता हुई। ब्रह्मा का सम्बंध सरस्वती से किया गया और इस संयोग का कारण यह है कि ऋग्वेद में ब्रह्मा स्तुति का देवता और सरस्वती सूक्तों की देवी थी। विष्णु का सम्बन्ध एक नई देवी अर्थात लक्ष्मी से किया गया जिसका कि प्राचीन संस्कृत के ग्रन्थों में कोई पता नहीं लगता। परन्तु इस कल्पना के कोई कारण हैं कि जब ऋग्वेद के सोम के [illegible] ने मनुष्य रूप धारण किया और वह भारतवर्ष में एक ऐतिहासिक राज्य की स्थापना हुई तो लक्ष्मी ने जल और धन की देवी

ी भांति उसका स्थान ग्रहण किया और इस प्रकार वह ालन करनेवाले देवता की पत्नी होने के उपयुक्त हुई और अन्त में केनोपनिषद् में उमा एक निगूढ़ स्त्री है जो कि इन्द्र को ब्रह्मन का स्वभाव समझाती है। शतपथ ब्राह्मण में अम्बिका रुद्र की बहिन है और मुण्डकोपनिषद् में काली कराली, इत्यादि अग्नि की सातों जिह्वाओं के नाम हैं और रुद्र, अग्नि वा बज्र का नाम है। पौराणिक गून्थ-कारों ने इन सब बिखरी हुई बातों को एकत्रित किया और उमा और अम्बिका, दुर्गा और काली-भयानक संहार कर्त्ता, रुद्र, शिव वा महादेव की पत्नी के भिन्न भिन्न नाम रखे गए।

परन्तु जब कि हमने तीनों प्रधान देवता और उनकी स्त्रियों का उल्लेख किया तो हमने आधुनिक हिन्दूधर्म्म के विषय में केवल बहुत ही थोड़ी बात कही है। इस त्रैकत्व में से एक अर्थात् विष्णु वा पालनकर्ता के अवतारों के सम्बन्ध में लाखों कथाएं हैं। रामायण के नायक राम विष्णु के एक अवतार समझे जाते हैं, और छान्दोग्य उप-निषद् में देवकी के पुत्र कृष्ण ने जो कि अंगिरस के शिष्य थे और महाभारत के प्राचीन अंशों में केवल यादवों के एक सर्दार थे ईश्वर का रूप ग्रहण किया और विष्णु के दूसरे अवतार समझे जाने लगे। और जैसे जैसे कृष्ण अधिक प्रसिद्ध देवता होते गए तो पुराणों में उनके वृन्दावन की ग्वालिनों के साथ खेल करने की नई नई कहानियां बढ़ती गईं।

हम पहिले देख चुके हैं कि कृष्ण संस्कृत के पवित्र ग्रन्थों में एक प्राचीन नाम है। परन्तु उनका प्रधान देवता की भांति आधुनिक रूप और उनके जन्म के विषय की और कंस तथा निरपराधियों के मारे जाने की कहानियां तथा बाइबिल और भगवद्गीता में समानता के कारण बहुत से यूरप के विद्वानों का यह विचार हुआ है कि हिन्दुओं ने ईसाई कथाओं और विचारों को उद्धृत करके उनका कृष्ण के साथ सम्बन्ध किया है।

इंडियन एण्टिक्वेरी में कई वर्षों तक इस विषय का एक मनोरञ्जक विवाद चलता रहा। डाक्टर लोरिमनर ने सन् १८६९ में लिखते हुए हिन्दुओं का अनुगृहीत होना प्रमाणित किया, बम्बई के मिस्टर तेलंग और हेडेलबर्ग के प्रोफेसर विण्डिश ने इसका विरोध किया। प्रोफेसर भंडार्कर ने महाभाष्य में कृष्ण के देवता होने का उल्लेख दिखलाया है जो कि ईसा के पहिले दूसरी शताब्दी का ग्रन्थ है, और प्रोफेसर वेबर यद्यपि सन् ईस्वी की पहिली शताब्दी में ईसाई धर्म और भारतवर्ष के विचारों में परस्पर प्रभाव पड़ने को स्वीकार करते हैं तथापि वे डाक्टर लोरिनर साहब के मत को अत्युक्तिमात्र समझते हैं।

शिव विष्णु के जैसे प्रसिद्ध देवता नहीं हैं परन्तु पौराणिक काल में अर्थात् विक्रमादित्य तथा उसके पीछे के राजाओं के समय में शिव अधिक प्रसिद्ध थे। पुराणों में शिव की पत्नी के विषय में विलक्षण कथाएं गढ़ी गई हैं। शतपथ ब्राह्मण में दक्ष पार्वती के एक यज्ञ करने का उल्लेख है, परन्तु यह कथा कि सती (शिव की पत्नी और दक्ष की

पुत्री) ने इस यज्ञ में अपना प्राण दिया, पुराणों की जोड़ी हुई बात है। फिर केन उपनिषद् में हमें उमा हैमवती का उल्लेख मिलता है जो कि इन्द्र को ब्राह्मन् की प्रकृति समझाती है और उमा हैमवती के इस रूप से पुराण की इस कथा की उत्पत्ति हुई कि सती ने हिमालय पर्वत की कन्या हो कर जन्म लिया। इस पर्वत की कन्या ने इस भांति समाधि में मग्न होकर शिव की आराधना की, मानो प्रेम के देवता की सहायता पाने पर भी वह किसी भांति इस योगी देवता पर कोई प्रभाव न डाल सकी, और अन्त में उसने अपनी तपस्या और भक्ति द्वारा उसे किसी भांति प्राप्त किया, ये सब पुराणों की मनोहर कल्पनाएं हैं जिन्हें कि कालिदास की चिरस्थयी कविता ने रक्षित किया।

हिन्दू त्रैकत्व के देवताओं के सम्बन्ध में मुख कथाएं इस प्रकार की हैं। ऋग्वेद के तत्त्वों के प्राचीन देवताओं का आधुनिक हिन्दू देवताओं में बड़ा नीचा स्थान है। फिर भी पुराणों में इन्द्र के स्वर्ग के भड़कीले वृत्तान्त हैं कि वहां सुन्दर वैदिक देवता अग्नि वायु इत्यादि तथा उनके स्वर्गीय सैनिक रथ और हाथी, सुन्दर अप्सराओं और गाने वाले गंधर्वों से सुशोभित हैं। परन्तु इन वैदिक देवताओं के भी रूप परिवर्त्तित होगए हैं। इन्द्र वह सोम पीनेवाला युद्ध का देवता नहीं रहा है जो कि आर्य्यों को आदिवासियों के विरुद्ध युद्ध करने में सहायता देता था। समय में परिवर्तन हो गया है और समय के साथ ही साथ विचारों में भी परिवर्तन हो गया है। पुराण का इन्द्र विलास और कुछ विषय युक्त स्वर्ग की सभा का भड़कीला राजा है जो कि

अपना अधिक समय नाच और गान में व्यतीत करता है। उसकी रानी शची वा इन्द्राणी एक उत्तम और उत्साह युक्त कल्पना है और वह सब देवताओं से सत्कार पाती है। वेद की अप्सराओं ने मनोहर रूप धारण किया है और रम्भा, तिलोत्तमा और पौराणिक उर्वसी स्वर्ग की वेश्याएं हैं जो कि इन्द्र के अवकाश के समय को नृत्य और प्रेम की बातों से बिताती थीं। इन्द्र का पद कठिन तपस्या के द्वारा प्राप्त किया हुआ कहा गया है और वह सदा इस भय में है कि पृथ्वी पर के मनुष्य उसी रीति से उसके पद को न प्राप्त करलें। इस कारण वह बहुधा स्वर्ग की अप्सराओं को पृथ्वी पर कठोर तपस्याओं में विघ्न डालने के लिये और अपनी प्रबल मोहनी शक्ति के द्वारा तपस्वियों के हृदय को विचलित करने के लिये भेजता है। उसके भय का एक दूसरा कारण असुर हैं और यद्यपि वे स्वर्ग से निकाल दिए गए हैं तथापि वे बहुधा सेना लेकर आते हैं और केवल युद्ध द्वारा उसे पुनः जीत लेते हैं। ऐसे अवसरों पर इन्द्र तथा उसके साथियों को किसी उच्च देवता अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु या शिव की शरण लेनी पड़ती है। ये देवता लोग छोटे देवताओं की असुरों के विरुद्ध सहायता करने की ओर कभी नहीं झुकते परन्तु हारे हुए देवताओं को धीरज देते हैं और उन्हें अपना पद पुनः प्राप्त करने के लिये उपाय बतलाते हैं। ऐसे एक अवसर पर देवताओं ने शिव और पर्वत की कन्या उमा के विवाह का उपाय किया और इस विवाह से कुमार, स्कन्द, या कार्तिकेय नामक जो पुत्र हुआ उसने निकाले हुए देवताओं को विजय और स्वर्ग की पुनः प्राप्ति

करवाई । दोनों कुमार और उसके भाई हाथी के मस्तक वाले गणेश प्राचीन हिन्दू धर्म्म में अज्ञात हैं और वे पुराणों की कल्पनाएं हैं ।

जब कि सर्वसाधरण का हृदय इन पौराणिक देवताओं के सम्बन्ध की असंख्य कथाओं में लिप्त होता है जिनकी कि संख्या तेंतीस करोड़ कही गई है (जो कि तेंतीस वैदिक देवताओं का प्रत्यक्ष 'बढ़ाव है') बुद्धिमान और विद्वान लोगों को उपनिषदों के इस मुख्य सिद्धान्त का सदा स्मरण रहता है कि परमेश्वर केवल एक है और देवता असुर और मनुष्य अर्थात् समस्त सृष्टि की उत्पत्ति उसी सर्वव्यापक ईश्वर से हुई है और सबका उसी सर्वव्यापक ईश्वर में लय हो जायगा ।

पुण्य के कर्म्मों से स्वर्ग में थोड़े वा बहुत समय के लिये वास मिलता है और पाप कर्म्मों से नियत समय तक नर्क के कष्ट सहने पड़ते हैं और इसके उपरान्त आत्मा को नई देहों में पुनर्जन्म लेने पड़ते हैं । पुनर्जन्म का सिद्धान्त हिन्दुओं के हृदय में उतनी ही दृढ़ता के साथ जमा हुआ है जितना कि ईसाइयों के हृदय में मृतोत्थान का सिद्धान्त और नीच से नीच हिन्दू भी नए जन्मे हुए बच्चे में अथवा पक्षी वा पशु में भी सम्बन्ध की सम्भावना देखता है । केवल पवित्र ध्यान और विद्या के द्वारा पाप से तथा सब सांसारिक विचारों और अभिलाषाओं से रहित रह कर भी आत्मा सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो सकती है और परमेश्वर में संयुक्त हो सकती है जो कि हिन्दुओं की अंतिम मुक्ति है । हम देखते हैं कि उपनिषदों का यह

विचार किस भांति बौद्धों के निर्वाण के सिद्धान्त में परिवर्तित किया गया और तब वह वेदान्त और आधुनिक पौराणिक धर्म्म में किस भांति ग्रहण किया गया। इस कारण सच्चे विद्वान और बुद्धिमान लोगों को यह सम्मति दी गई है कि वे कीर्ति के कार्य्यों द्वारा इन्द्र के स्वर्ग की प्राप्ति न करें वरन् सांसारिक विषयों और कामनाओं से इस संसार में मुक्त होकर उस परमब्रह्म में मिल जांय।

उत्तर काल के हिन्दू धर्म्म उसी एक ईश्वर को मान कर चले हैं और उन्होने आधुनिक हिन्दू देवताओं में से कोई एक नाम इस कार्य्य के लिये चुन लिया है। डाक्टर विल्सन साहब ने हिन्दुओं के धर्म्म सम्प्रदाय के विषय में अपने ग्रन्थ में वैष्णवों के १९ सम्प्रदाय, शैवों के ११ सम्प्रदाय, शाक्तों के ४ सम्प्रदाय और उनके अतिरिक्त बहुत से भिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख किया है।

वैष्णव धर्म्म अपने कई रूपों में केवल बौद्ध धर्म्म का अवशेष जान पड़ता है। उसमें सब मनुष्यों और सब जातियों की समानता का वही सिद्धान्त और जीव की हिंसा का वही निषेध है। परन्तु इन सिद्धान्तों का संयोग एक देवता विष्णु में विश्वास रखने के साथ कर दिया गया है और इसी विष्णु को साधारण लोग बहुधा कृष्ण के नाम से पूजते हैं। कृष्ण के वृन्दावन की ग्वालिनों के साथ विहार करने की कथाओं का प्रचार लोगों में पौराणिक समय से हुआ है। भारतवर्ष के सब से बड़े जीवित ग्रन्थकार बंकिमचन्द्र ने यह बात अच्छी प्रमाणित की है कि इन कथाओं का महाभारत में कहीं उल्लेख नहीं है।

शिव और उनकी पत्नी शक्ति के उपासकों ने बहुधा इन से भी अधिक बिगड़े हुए सिद्धान्तों और आचारों को ग्रहण किया है ।

आधुनिक हिन्दू धर्म्म के भिन्न भिन्न पन्थों के सिद्धान्त और विचार इस प्रकार के हैं परन्तु किसी जाति के आचरण पर उसके धार्म्मिक सिद्धान्तों की अपेक्षा उसकी रीतियों और विधानों से अधिक प्रभाव पड़ता है और हम पहिले कह चुके हैं कि धार्म्मिक रीतियों और विधानों में प्राचीन वैदिक काल से बहुत ही अन्तर हो गया है ।

मन्दिरों में मूर्ति की पूजा बौद्ध धर्म्म के प्रचार के पहिले हिन्दुओं को विदित नहीं थी और इसका व्यवहार उस समय से हुआ जान पड़ता है जब कि बौद्ध धर्म्म प्रधान हो गया था । हम पहिले देख चुके हैं कि मनु ने जो कि धर्म्म सम्बन्धी रीतियों में बड़ा कट्टर था, घर की अथवा यज्ञ की अग्नि में हवन करने की प्राचीन रीति का समर्थन करता है और मन्दिर के पुजारियों को बड़े क्रोध के साथ मदिरा और मांस के बेचने वालों के तुल्य कहता है । परन्तु मन्दिर और मूर्तियां सर्व साधारण के हृदय को आकर्षित करती थीं और छठीं शताब्दी तक वे सत्कार की दृष्टि से देखी जाने लगीं और उन्होंने अधिक अंश में प्राचीन पूजा की रीति को दबा लिया । छठीं से लेकर आठवीं शताब्दी तक के ग्रन्थों में हमें यज्ञों का कोई उल्लेख नहीं मिलता सिवाय उन यज्ञों के जिन्हें राजा लोग करते थे, परन्तु कालिदास तथा अन्य कवियों ने मन्दिर और उनमें जिन मूर्तियों की पूजा होती थी उनका बहुधा उल्लेख किया है ।

यह परिवर्तन निस्संदेह अनुचित हुआ। लोगों के हृदय पर मूर्तिपूजा का कभी उत्तम प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु भारतवर्ष में इसके साथ और भी बुराइयां हुईं। मनु के समय तक वैश्य लोग अर्थात् सर्वसाधारण जन देवताओं की पूजा अपनी इच्छानुसार कर सकते थे और अपने घर की अग्नि में हवन कर सकते थे। परन्तु जब पूजा का स्थान अग्नि से मन्दिर में परिवर्तित हुआ तो पुजेरियों का जो कि इन मन्दिरों के रक्षक थे अधिक प्रभाव लोगों के हृदय पर पड़ा और उन्होंने लोगों के गले में अधिक बंधन डाल दिए। धूम धाम के उत्सव और भड़कीली सजावट ने सर्वसाधारण के ध्यान को आकर्षित किया उनके मिथ्या विचारों को रक्षित रखा, कविता, शिल्प, गृहनिर्म्मण विद्या, संगतराशी, और गान विद्या ने इसमें सहायता दी और कुछ ही शताब्दियों के भीतर जाति का धन उन भड़कीले मन्दिरों और उत्सवों में व्यय होने लगा जो कि लोगों की अपरिमित भक्ति और उनके विश्वास के साक्षी दिखलाते थे। यात्रा जो कि बहुत प्रचीन समय में बहुत ही कम की जाती थी अथवा बिलकुल नहीं की जाती थी, बहुत ही अधिक होने लगी, मन्दिरों की सहायता के लिये भूमि और द्रव्य के दान बहुतायत से आने लगे और स्वयं धर्म ने मूर्ति और उनके रक्षकों का अन्धे होकर सत्कार करने का रूप ग्रहण किया। भारतवर्ष के बड़े बड़े नगर मन्दिरों से भर गए और पत्थर के मन्दिरों में तथा मनुष्यों के हृदय में नए नए देवताओं और नई नई मूर्तियों ने स्थान पाया।

हमने ऊपर पौराणिक धर्म्म के विषय में जो बातें लिखी हैं उनको अगले अध्याय में पौराणिक धर्म्म ग्रन्थों की संक्षिप्त आलोचना करके दिखलावेंगे ।

अध्याय ७

धर्म्म ग्रन्थ ।
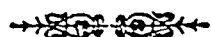
१ धर्म्म शास्त्र ।

दार्शनिक काल की चाल व्यवहार और कानूनों के लिये हमें गौतम, वशिष्ठ, बौद्धायन और आपस्तम्ब के धर्म्मसूत्रों में सबसे उत्तम सामग्रियां मिली थीं । मनु के धर्म्म शास्त्र से हमें बौधकाल में हिन्दू जीवन के वृत्तान्त के लिये भी वैसी ही बहुमूल्य समग्रियां मिली थीं । सौभाग्य वश पौराणिक समय में भी धर्म्मशास्त्र बनते रहे और याज्ञवल्क्य ने हमें बीस ग्रन्थों से कम की सूची नहीं दी है–

१ मनु	११ कात्यायन
२ अत्रि	१२ बृहस्पति
३ विष्णु	१३ पराशर
४ हारीत	१४ व्यास
५ याज्ञवल्क्य	१५ शंख
६ उशनस	१६ लिखित
७ अंगिरस	१७ दक्ष
८ यम	१८ गौतम
९ आपस्तम्ब	१९ सातातप
१० संवर्त	२० वशिष्ठ

पाराशर भी हमें इन्हीं २० ग्रन्थों के नाम देता है, केवल उसने विष्णु के स्थान पर काश्यप, व्यास के स्थान पर गर्ग और यम के स्थान पर प्रचेतस लिखा है । इन २० ग्रन्थों में गौतम, आपस्तम्ब और वशिष्ठ दार्शनिक काल के और

सनु बौद्ध काल से सम्बन्ध रखता है जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं। शेष १६ ग्रन्थ भी सम्भवतः प्राचीन सूत्र ग्रन्थों के आधार पर बनाए गए हैं परन्तु वे अपने आधुनिक रूप में पौराणीक काल से अथवा मुसल्मानों के भारत विजय की पीछे की शताब्दियों से सम्बन्ध रखते हैं।

और यही हमारी कठिनाई है। हम पौराणिक काल के लोगों के आचरण के वृतान्त के लिये इन १६ धर्म्म शास्त्रों का निश्चय रूप से हवाला नहीं दे सकते क्योंकि हम यह नहीं जानते कि उनमें मे कौन पौराणिक काल के बने हैं और कौन उसके पीछे के समय के। इनमें से कुछ निस्सन्देह पौराणिक काल के अथवा उससे भी पहिले के बने हैं परन्तु इन ग्रन्थों में कुछ अध्याय पीछे के समय में मुसल्मानों के विजय के उपरान्त जोड़े गए हैं। फिर कुछ ग्रन्थ पूरे इस पीछे के समय के बने हुए जान पड़ते हैं। इस कारण इन धर्म्म शास्त्रों में से हिन्दुओं के आचरण का जो वृत्तान्त लिया जाय वह मुसल्मानों के समय का होगा, पौराणिक समय का नहीं जिसे कि हम वर्णन करना चाहते हैं।

इन सोलहो धर्म्म शास्त्र के थोड़े विवरण से यह बात प्रगट हो जायगी।

१ अत्रि—इसकी जो प्रति हमने देखी है वह एक छोटा सा ग्रन्थ है जिसमें कि ४०० श्लोकों से कम हैं और वह लगातार श्लोक छंद में लिखा गया है। उसमें आधुनिक शास्त्रों तथा प्राचीन वेदों के अवलोकन करने की आवश्यकता दिखलाई गई है (११), फल्गू नदी में स्नान करने और गदाधर देव के दर्शन करने का उपदेश दिया गया है (५७), शिव

और विष्णु के चरणामृत पीने का उपदेश किया गया है, सब म्लेच्छों से घृणा प्रगट की गई है (१८०, १८३), विधवाओं को जलाने की रीति का उल्लेख है (२०९) और उसमें उसके मुसल्मानों के विजय के उपरान्त के बनाए जाने अथवा किए जाने के सब चिन्ह हैं।

२ विष्णु—उपरोक्त १६ धर्म्म शास्त्रों में केवल विष्णु ही गद्य में है और इस कारण वह सब से अधिक प्राचीनता का स्वत्व रख सकता है। डाक्टर जौली साहेब ने कायक कल्प सूत्र के गृह्यसूत्र से उसकी घनिष्ट समानता दिखलाई है और यह सूत्र निस्सन्देह दार्शनिक काल का है, और डाक्टर बुहलर के साथ वे भी इस बात का समर्थन करते हैं कि विष्णु धर्म्म शास्त्र का अधिकांश वास्तव में उसी कल्प सूत्र का प्राचीन धर्म्म सूत्र है। फिर भी यह प्राचीन ग्रन्थ कई बार संकलित और परिवर्त्तित किया गया जान पड़ता है। डाक्टर बुहलर साहेब का यह मत है कि समस्त ग्रन्थ को विष्णु के किसी अनुयायी ने संकलित किया था और अन्तिम तथा भूमिका के अध्यायों को (पद्य में) किसी दूसरे तथा उसके पीछे के समय के ग्रन्थकार ने बनाया था। इस प्रकार इस ग्रन्थ के कई बार बनाए जाने का समय चौथी शताब्दी से १०वीं शताब्दी तक है।

जैसी कि आशा की जा सकती है इस ग्रन्थ का रूप बहुत ही भिन्न भिन्न है। इस में ऐसे अध्याय हैं जो कि दार्शनिक काल में वशिष्ठ और बौधायन द्वारा उद्धृत किए वा दिखलाए गए हैं, और फिर ऐसे पद्य भी हैं जो मनु- [illegible] तथा अन्य आधुनिक ग्रन्थों से उद्धृत किए हैं। अध्याय

६५ में प्राचीन और सच्चे काथक मंत्र दिए हैं जो कि वैष्णव कार्य्य के लिये परिवर्त्तित और संकलित किए गए हैं, अध्याय ९७ में सांख्य और योग दर्शनों का वैष्णव धर्म्म के साथ सम्बन्ध करने का यत्न किया गया है, अध्याय ७८ में आधुनिक सप्ताह के दिनों (अतवार से लेकर सनीचर तक) का उल्लेख है जो कि प्राचीन संस्कृत गून्थों में कहीं नहीं मिलता, अध्याय २०, श्लोक ३ और २५, में विधवाओं के आत्म बलिदान करने का उल्लेख है, अध्याय ८४ म्लेच्छों के राज्य में श्राद्ध करने का निषेध करता है, और अध्याय ८५ में लगभग ५० तीर्थस्थानों का वर्णन है। भूमिका का अध्याय जो कि लगातार श्लोकों में है और जिसमें पृथ्वी एक सुन्दर स्त्री के रूप में क्षीर सागर में अपनी पत्नी लक्ष्मी के साथ लेटे हुए विष्णु से परिचित कराई गई है, सम्भवतः इस आधुनिक गून्थ के सौ अध्यायों में सब से पीछे के समय का है।

इस प्रकार से हमारे प्राचीन ग्रन्थों में परिवर्तन और सम्बन्ध स्थापित किया गया है जो कि प्रत्येक नए धर्म्म के तथा प्रत्येक आधुनिक रीति के सहायक के लिये हर्ष का, परन्तु इतिहास जानने वाले के लिये शोक का विषय है।

३ हारीत—यह दूसरा प्राचीन ग्रन्थ है जो कि पीछे के समय में पूर्णतया फिर से लिखा किया गया है। हारीत का उल्लेख बौद्धायन, वशिष्ठ और आपस्तम्ब में किया है जो सब कि दार्शनिक काल के ग्रन्थ हैं। मिताक्षर और दायभाग में हरीत के जो उद्धृत वाक्य पाए जाते हैं वे सब गद्य सूत्रों में हैं। परन्तु फिर भी हारीत के जिस ग्रन्थ को हमने देखा है वह लगातार श्लोकों में है और उसका

विषय भी आधुनिक समय का है। पहिले अध्याय में यह पौराणिक कथा है कि विष्णु अपनी पत्नी श्री के साथ एक कल्पित नाग पर जल में पड़े हैं और उनकी नाभी में एक कमल उत्पन्न हुआ जिसमें से ब्रह्मा उत्पन्न हुए जिन्होंने कि संसार की सृष्टि की। दूसरे अध्याय में नरसिंह देव की पूजा का वर्णन है और चौथे अध्याय में विष्णु की पूजा का, और सातवें अर्थात् अन्तिम अध्याय मे योग शास्त्र का विषय है।

४ याज्ञवल्क्य*—स्टेंज़लर और लैसन साहब याज्ञवल्क्य का समय विक्रमादित्य के पहिले परन्तु बौद्ध धर्म्म के प्रचार के उपरान्त निश्चित करते हैं। आधुनिक खोज से विद्वान लोग मनु का समय ईसा के १ वा २ शताब्दी पहिले वा उपरान्त निश्चित कर सके हैं और चूंकि याज्ञवल्क्य निस्सन्देह मनु के उपरान्त हुआ अतएव उसका सम्भव समय ईसा के उपरान्त पांचवीं शताब्दी अर्थात् पौराणिक काल के प्रारम्भ के लगभग है। इस ग्रन्थ के विषय को देखने से यह सम्मति कुछ दृढ़ होती है। अध्याय २, श्लोक २८६ में बौद्ध भिक्षुणियों का उल्लेख है और बौद्धों की रीति और सिद्धान्तों के खण्डन का उल्लेख है। मनु उच्च जाति के मनुष्यों को शूद्र जाति की स्त्रियों से विवाह करने का अधिकार देता है परन्तु याज्ञवल्क्य इस प्राचीन रीति का विरोध करता है (१, ५६)। परन्तु बहुत सी बातों में याज्ञवल्क्य उस काल से पहिले

* [illegible] के पुरोहित प्राचीन याज्ञवल्क्य [illegible] धर्म शास्त्र के [illegible] समझना चाहिए।

शास्त्रों की अपेक्षा मनु से अधिक मिलता है और सब बातों पर विचार कर उपरोक्त १६ शास्त्रों में से केवल याज्ञवल्क्य का ही ग्रन्थ ऐसा है जिस पर कि पौराणिक काल की बातों के लिये पूर्णतया विश्वास किया जा सकता है। यह ग्रन्थ तीन अध्यायों में है और उसमें एक हज़ार से अधिक श्लोक हैं।

५ उषणस—अपने आधुनिक रूप में यह ग्रन्थ बहुत पीछे के समय का बना हुआ है। उसमें हिन्दू त्रिमूर्ति का (३,५०) और विधवाओं के आत्मबलिदान का (३,११७) उल्लेख है, समुद्र यात्रा करने वालों को अपराधी ठहराया है (४,३३) और पाप करने वालों के लिये अग्नि वा जल में आत्म बलिदान करने के लिये लिखा है (८,३४)। बहुत से नियमों, निषेधों और प्रायश्चितों की इस ग्रंथ में विशेषता पाई जाती हैं। यह ग्रन्थ नौ अध्याओं में है, और उसमें लगभग ६०० श्लोक हैं।

६ अंगिरस—इस नाम का जो ग्रन्थ हमें प्राप्त है वह सत्ताइस श्लोकों का एक छोटा सा अध्याय है। यह आधुनिक समय का ग्रन्थ है और नील की खेती को उत्तम जातियों के लिये अयोग्य अपवित्र व्यापार लिखता है।

७ यम—दार्शनिक काल में वशिष्ठ ने यम का उल्लेख किया है परन्तु जो यम स्मृतियां आज कल वर्त्तमान हैं वे आधुनिक समय की बनी हुई है और वशिष्ठ का तात्पर्य उनसे नहीं हो सकता। हमें ७८ श्लोकों का एक छोट सा ग्रंथ अब प्राप्त है। अंगिरस के साथ उसमें भी धोबी, चर्म्मकार, नाचने वालों, बरुद, कैवर्त्त, मेद, और भील लोगों को अपवित्र जाति लिखा है।

८ संवर्त्त—यह आधुनिक समय का एक पद्य ग्रन्थ है जिसमें २०० से अधिक श्लोक हैं। यह कोई उपयोगी ग्रन्थ नहीं है। यम की भांति उसमें भी धोबियों, नाचने वालों और चर्मकारों को अपवित्र जाति माना है।

१० कात्यायन—(जिसे कि पाठकों को पाणिनि के प्राचीन समालोचक से भिन्न समझना चाहिए) उन नियमों और रीतियों को दीपक की नाईं प्रकाशित करता है जिन्हें कि गोभिल ने अन्धकार में छोड़ दिया है जिसके गृह्य सूत्र की आलोचना हम दार्शनिक काल के वृत्तान्त में कर चुके हैं। परन्तु कात्यायन का धर्म्मशास्त्र पीछे के समय का है, और यह २९ अध्यायों में है जिनमें कि लगभग ५०० श्लोक हैं। अध्याय १ श्लोक ११–१४ में गणेश तथा उसकी माताओं गौरी, पद्मा, शची, सावित्री, जया, विजया इत्यादि की पूजा के विषय में लिखा है, और यह भी लिखा है कि उनकी मूर्तियों की अथवा उजले वस्त्र पर लिखे हुए चित्रों की पूजा करनी चाहिए। अध्याय १२, श्लोक २ में (जो कि गद्य में है) हिन्दू त्रैकत्व का उल्लेख है, अध्याय १९, श्लोक ७ में उमा का उल्लेख है, और अध्याय २०, श्लोक १० में जिस समय सीता निकाल दी गई थी उस समय राम का सीता की स्वर्ण प्रतिमा के साथ यज्ञ करने का उल्लेख है।

११ वृहस्पति—इस ग्रन्थ के ८० श्लोकों का एक छोटा सा खण्ड हमारे देखने में आया है, जो कि प्रत्यक्ष आधुनिक समय का बना हुआ है। इसमें ब्राह्मणों को भूमि दान देने के पुण्य का विषय है और पाठकों के हृदय पर ब्राह्मण के दोष के भयानक कष्ट को जमाने का यत्न किया गया है। परन्तु

"सेक्रेट बुक्स आफ दी ईस्ट" नाम की ग्रन्थावली में वृहस्पति के अधिक प्राचीन और अधिक विश्वास योग्य ग्रन्थ का अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

१२ पराशर निस्संदेह सब से पीछे के समय के धर्म्म शास्त्रों में से एक है। स्वयं संग्रहकर्ता हमें कहता है (१,२३) कि मनु सत्य युग के लिये था, गौतम त्रेता युग के लिये, शंख और लिखित द्वापर युग के लिये थे। और पराशर अब कलियुग के लिये है। हमें हिन्दू त्रैकत्व का उल्लेख (१,१९), और विधावाओं के आत्मवलिदान का उल्लेख (४,२८ और २९) मिलता है। फिर भी विधवा विवाह इस पीछे के समय में भी प्रचलित था और यदि किसी स्त्री के पति का पता न लगे अथवा वह मर जाय अथवा योगी वा जाति बाहर वा नपुंसक होजाय तो पराशर उस स्त्री को दूसरा विवाह करने की आज्ञा देता है (४,२६)। यह ग्रन्थ बारह अध्यायों में है, और उसमें लगभग ६०० श्लोक हैं।

१३ व्यास* और भी पीछे के समय का है। वह निःसन्देह हिन्दू त्रैकत्व का उल्लेख करता है (३,२४) और विधवाओं के आत्म वलिदान की प्रशंसा करता है (२,५३) और जाति के अधिकांश से बने हुए भिन्न भिन्न व्यवसायों का नीच बनाया जाना बहुत से अन्य धर्म्म शास्त्रों की अपेक्षा

* पाठकों को इन धर्म्म शास्त्रो के वनाने वाले पराशर और व्यास को इन नामों के प्राचीन ज्योतिषी और वेदों के प्राचीन संग्रह कर्ता से भिन्न समझना चाहिए। इन आधुनिक संग्रह कर्ताओं ने कदाचित अपने ग्रन्थों को प्राचीन समझे जाने के लिये इन प्राचीन नामों को ग्रहण कर लिया है।

व्यास में अधिक पूर्ण है। मुसल्मानी राज्य में हिन्दुओं के व्यवहारों के वृत्तान्त के लिये हमें व्यास से बहुत उत्तम सामग्रियां मिलेंगी। इस छोटे से ग्रन्थ में चार अध्याय हैं जिनमें दो सौ के ऊपर श्लोक हैं।

१४ शंख भी विष्णु की नाईं एक प्राचीन ग्रन्थ है, परन्तु वह पीछे के समय में पुनः पद्य में बनाया गया है, यद्यपि उसके दो अंश अब तक भी गद्य में हैं। डाक्टर बुहलर का विचार है कि गद्य के अंश शंख के मूल ग्रन्थ से लिए हुए सच्चे सूत्र हैं और वह मूल ग्रन्थ दार्शनिक काल में बना था, और पूर्णतया सूत्रों में था। परन्तु इसमें बहुत कम सन्देह हो सकता है कि यह ग्रन्थ बहुत ही आधुनिक समय का है। अध्याय ३, श्लोक ७ में मन्दिरों और शिव की मूर्ति का उल्लेख है, अध्याय ४, श्लोक ९ में उच्च जाति के मनुष्यों का शूद्र जाति की स्त्री से विवाह करने का निषेध है और मनु ने इसका निषेध नहीं किया है। अध्याय ७, श्लोक २७ में ग्रन्थकार ने विष्णु का नाम वासुदेव लिखा है। अध्याय १४, श्लोक १-३ में ग्रन्थकार ने १६ तीर्थ स्थानों का नाम लिखा है, और अध्याय १४, श्लोक ३ में म्लेच्छ देशों में यात्रा करने अथवा जाने का भी निषेध किया है। परन्तु इस आधुनिक ग्रन्थ में भी विधवा विवाह की आज्ञा दी गई है [१५,१३]। इस ग्रन्थ में १८ अध्याय हैं, जिनमें तीन सौ श्लोकों से अधिक हैं।

१५ लिखित जैसा कि हमें अब प्राप्त है, ८० श्लोकों का एक छोटा आधुनिक ग्रन्थ है और उसमें देव मन्दिरों का (४) [illegible] करने का [११], और गया में पिण्ड देने का उल्लेख है।

१६ दक्ष भी सात अध्यायों का एक आधुनिक ग्रन्थ है, और उसमें गृहस्थी के जीवन तथा मनुष्य और स्त्रियों के कर्तव्य का एक मनोहर वर्णन दिया है। परन्तु इस वर्णन को विधवाओं के आत्म वलिदान की निष्ठुर रीति ने कलंकित कर दिया है [४,२०] ।

१७ सातातप अपने आधुनिक रूप में व्यास की नांई १६ धर्म शास्त्रौं में एक सबसे नवीन है और उसमें तीन आंख वाले रुद्र का [१,१९] विष्णु की पूजा का [१,२२], चार मुख वाले ब्रह्मा की मूर्ति का [२,५], और भैंसे पर चढ़े हुए तथा हाथ में दण्ड लिए हुए यम की मूर्ति का भी [२,१८], उल्लेख है। इसमें विष्णु की पूजा श्री वत्सलांछन, वासुदेव, जगन्नाथ के नाम से कही गई है, उसकी स्वर्ण की मूर्ति वस्त्र से सज्जित् करके पूजा के उपरान्त ब्राह्मणों को देनी चाहिए [२,२२–२५]। सरस्वती की भी जो कि अब ब्रह्मा की स्त्री है, पूजा कही गई है [२,२८], और यह भी कहा गया है कि पाप से मुक्ति पाने के लिये हरिवंश और महाभारत को श्रवण करना चाहिए । इसके आगे गणेश [११,४४], दोनों अश्विनों [४,१४], कुबेर [५,३], प्रचेत [५,१०], और इन्द्र [५, १७], की मूर्तियों का उल्लेख है। इन सब स्वर्ण की मूर्तियों को भी केवल ब्राह्मणों को दान देने के लिये कहा गया है और वास्तव में इस कार्य्य का उद्देश्य ब्राह्मणों को बहुतायत से दान दिलाने का जान पड़ता है। संसार में कोई पाप वा कोई असाध्य रोग अथवा कोई गृहस्थी की आपत्ति वा संपत्ति अथवा कोई हानि ऐसी नहीं है जो ऐसे दान से पूरी न की जा सके। मुसल्मानों के विजय के उपरान्त हिन्दू धर्म्म

ने जो रूप धारण किया था उसके जानने के लिये यह ग्रन्थ बहुमूल्य है।

उपरोक्त वृत्तान्त से यह विदित होगा कि याज्ञवल्क्य तथा सम्भवतः एक वा दो अन्य धर्म्म शास्त्रों को छोड़ कर शेष सब पौराणिक काल में हिन्दुओं के व्यवहारों को जानने के लिये निरर्थक हैं। उनमें से अधिक मुसल्मानों के राज्य में हिन्दुओं के आचरण और धर्म्म जानने के लिये कुछ उपयोगी हैं।

दुर्भाग्य वश पुराणों की भी जिस रूप में वे प्राप्त हैं यही दशा है। उनसे हमें पौराणिक काल में हिन्दू धर्म्म का स्वाभाविक और मनोरञ्जक वृत्तान्त नहीं मिलता वरन उनमें विशेष देवताओं यथा विष्णु शिव इत्यादि की प्रधानता के विषय में साम्प्रदायिक झगड़े हैं। और हम यह जानते हैं कि भारतवर्ष में मुसल्मानों के राज्य के समय में ये झगड़े सब से अधिक प्रचलित थे। अब हम पुराणों के संक्षिप्त वृत्तान्त की ओर झुकेंगे।

२ पुराण।

विक्रमादित्य की सभा का कोशकार अमरसिंह पुराण के पञ्च लक्षण अर्थात् पांच विशेष विषयों का होना लिखता है और साधारणतः इस बात में सहमत हैं कि वे पांच विषय ये हैं अर्थात् (१) आदि सृष्टि वा जगत की उत्पत्ति (२) उपसृष्टि वा जगत का नाश और पुनरुत्पत्ति जिसमें समय विभाग भी सम्मिलित है (३) देवताओं तथा [illegible] की वंशावली (४) मनु के राज्य का समय (५) सूर्य और चन्द्र

वंशो तथा उनके आधुनिक संतान का इतिहास। जो पुराण अब वर्तमान हैं और जो मुसल्मानों के भारत विजय के उपरान्त संकलित किए गए थे, इस वर्णन से बहुत कम मिलते है।

पुराण तीन श्रेणी के हैं अर्थात् विष्णु, शिव औरब्रह्मा से क्रमात सम्बन्ध रखने वाले। उनके नाम और उनके श्लोकों की जो संख्या समझी जाती है नीचे दी जाती है-

वैष्णव		शैव		ब्रह्मा	
विष्णु	२३०००	मत्स्य	१४०००	ब्रह्मांड	१२०००
नारदीय	२५०००	कूर्म्म	१७०००	ब्रह्मवैवर्त	१८०००
भागवत	१८०००	लिंग	११०००	मारकण्डेय	९०००
गरुण	१९०००	वायु	२४०००	भविष्य	१४५००
पद्म	५५०००	स्कंद	८११००	वामन	१००००
वाराह	२४०००	अग्नि	१५४००	ब्रह्मा	१००००

इस पुस्तक में इन वृहद् ग्रन्थों का कुछ भी सारांश देना असम्भव है जिसमें कि कई शताब्दियों तक पुजेरियों ने प्राचीन कथाओं, इतिहासों और वार्ताओं को संकलित करने और आधुनिक साम्प्रदायिक धर्म्मों और पूजाओं का प्रचार करने का यत्न किया है। हम थोड़े से शब्दों में प्रत्येक ग्रन्थ के केवल प्रधान चिन्हों का वर्णन करेंगे।*

१ ब्रह्मपुराण—इसके आरम्भ के अध्यायों में सृष्टि की उत्पत्ति तथा कृष्ण के समय तक सूर्य्य और चन्द्र वंशों का

* पाठकों को इन पुराणों के विषयों का पूरा वृत्तान्त विल्सन साहेब के विष्णुपुराण की भूमिका के पृष्ठ २७-८६ में मिलेगा, जहां से कि हमारा भी वृत्तान्त लिया गया है।

वृत्तान्त दिया है। इसके उपरान्त सृष्टि का वर्णन दिया है और फिर उड़ीसा तथा वहां के सूर्य्य, शिव और जगन्नाथ के मन्दिरों और पवित्र कुंजों का वर्णन है। इसके उपरान्त कृष्ण का जीवन चरित्र दिया है जिसका कि एक एक शब्द वही है जैसा कि विष्णु पुराण में है और फिर योग का वृत्तान्त देकर यह ग्रन्थ समाप्त होता है।

२ पद्मपुराण—यह पुराण जो कि (केवल स्कंद पुराण को छोड़ कर) सब पुराणों से बड़ा है, पांच भागों में है अर्थात् (१) सृष्टि (२) भूमि (३) स्वर्ग (४) पाताल (५) उत्तर खंड। सृष्टि खंड में सृष्टि की उत्पत्ति तथा आचार्य्यों और राजाओं की भी वंशावली दी है और तब अजमेर की पुष्कर झील की पवित्रता और तीर्थ स्थान होने का वृत्तान्त दिया है। भूमि खंड में १२७ अध्याय हैं जिनमें अधिकांश तीर्थों के सम्बन्ध की कथाएं हैं और इनमें तीर्थ स्थान तथा सत्कार किए जाने योग्य पुरुष भी सम्मिलित हैं। इस के उपरान्त पृथ्वी का वर्णन है। स्वर्ग खण्ड में सब स्वर्गों के ऊपर विष्णु के वैकुंठ को माना है। उसमें भिन्न भिन्न जातियों और जीवन की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के आचरण के नियम तथा बहुत सी कथाएं हैं जिनमें से अधिकांश आधुनिक समय की हैं। पाताल खण्ड हमें सर्पों के लोक में ले जाता है। वहां शेषनाग पुराण की कथा कहता है और इसके उपरान्त कृष्ण के बालचरित का वर्णन और विष्णु की पूजा का माहात्म्य कहा है। उत्तर खंड [illegible] इस पुराण के अन्य भागों से पीछे के समय का बना हुआ है, सब बहुत ही वैष्णव है। इसमें शिव

ने अपनी पत्नी पार्वती से विष्णु की भक्ति, शरीर पर वैष्णव चिन्हों का लगाना, विष्णु के अवतारों की कथाएं और विष्णु की मूर्ति का वर्णन किया है और फिर दोनों विष्णु की पूजा करके समाप्त करते हैं। उसमें यह भी कहा गया है कि हिन्दू त्रैकत्व में केवल विष्णु ही सत्कार के योग्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि इस साम्प्रदायिक विवाद का बहुत सा अंश मुसल्मानों के भारत विजय के पीछे जोड़ा गया है। इस पुराण के प्रारम्भ के भागों में भी भारतवर्ष में म्लेच्छों के होने का उल्लेख है और इसके सब से अन्तिम भागों का सम्भव समय डाक्टर विल्सन साहेब १५ वीं १६ वीं शताब्दी बतलाते हैं।

३ विष्णु पुराण के ६ भाग हैं। पहिले भाग में विष्णु और लक्ष्मी की उत्पत्ति तथा बहुत सी कथाएँ जिनमें ध्रुव और प्रह्लाद की कथाएं भी सम्मिलित हैं वर्णन की गई हैं। दूसरे भाग में पृथ्वी, उसके सात द्वीप और सात समुद्र का वर्णन है तथा भारतवर्ष और नीचे के देशों, ग्रहमंडल, सूर्य्य, चन्द्रमा इत्यादि का वर्णन है। तीसरी पुस्तक में वेद तथा द्वापर युग में कृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा उसके ४ विभाग किए जाने का वर्णन है। उसमें अट्ठारहों पुराणों के नाम, चारों जाति और चारो आश्रमों के धर्म्म, और गृहस्थी सम्बन्धी तथा सामाजिक रीतियों और श्राद्धों का भी वर्णन दिया हैं। अन्तिम अध्याय में बौद्धों और जैनियों की निन्दा है। चौथी पुस्तक में सूर्य्य और चन्द्र वंशो का इतिहास दिया है और अन्त में मगध के राजाओं की सूची दी है जिसे कि हम चौथे कांड तीसरे अध्याय में उद्धृत कर चुके हैं।

पांचवे भाग में विशेषतः कृष्ण का, उस के बाल्यावस्था के खेलों का, गोपियों के साथ उसके विहारों का और उसके जीवन के भिन्न भिन्न कार्यों का विशेष रूप से वर्णन है। फिर छठें और अन्तिम भाग में यह वर्णन है कि विष्णु की भक्ति से सब जाति और सब मनुष्यों की मुक्ति हो सकती है और फिर योग तथा मुक्ति के अध्याय के उपरान्त यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है।

४ वायु पुराण जिसे कि शिव वा शैव पुराण भी कहते हैं चार भागों में बँटा है। पहिले भाग में सृष्टि की उत्पत्ति और प्राणियों के प्रथम विकास का वर्णन है। दूसरे भाग में भी सृष्टि की उत्पत्ति का विषय है और उसमें भिन्न भिन्न कल्पों का वर्णन आचार्यों की वंशावली और सृष्टि तथा मन्वंतरों की घटनाओं का वर्णन है जिसमें शिव की प्रशंसा और कथाएं मिली हैं, तीसरे भाग में भिन्न भिन्न प्राणियों का वर्णन है तथा सूर्य और चन्द्र वंशों और अन्य राजाओं का वृत्तान्त है। चौथे और अन्तिम भाग में योग का फल और शिव का माहात्म्य जिसके साथ कि योगियों का अन्त में लय हो जाता है लिखा है।

५ भागवत पुराण जिसे कि श्रीमद्भागवत भी कहते हैं सब पुराणों में सब से पवित्र, कम से कम वैष्णवों की दृष्टि से, समझा जाता है। यह ग्रन्थ भी अन्य पुराणों की नाईं सृष्टि की उत्पत्ति के विषय से आरम्भ होता है। वासुदेव परम ब्रह्म कहा गया है। कृष्ण ही स्रष्टा माना है। इस में यह भी कहा गया है कि सब जाति के लोग और म्लेच्छ भी वासुदेव के भक्त हो सकते हैं, और यह शुद्ध वैष्णव सिद्धान्त

है । तीसरे भाग में ब्रह्मा की उत्पत्ति, विष्णु के वराह अवतार और उसके सांख्य दर्शन के रचयिता कपिल के रूप में अवतार लेने का वर्णन है । चोथे और पांचवें भाग में ध्रुव और वेंण पृथु और भारत की कथाएं दी हैं । छठें भाग में विष्णु के पूजन की शीक्षा देने के अभिप्राय से बहुत सी कथाएं दी हैं । सातवें भाग में प्रह्लाद की कथा है और आठवें में बहुतसी अन्य कथाएं हैं । नवें भाग में सूर्य्य और चन्द्र वंशों का वर्णन है, और दसवें भाग में जो कि इस ग्रन्थ का विशेष भाग है, पूर्णतया कृष्ण का जीवनचरित्र है । ग्यारहवें भाग में यादवों के नाश होने और कृष्ण की मृत्यु का वर्णन है और बारहवें तथा अन्तिम भाग में विष्णुपुराण की नाईं पीछे के समय के राजाओं की सूची है ।

६ नारद पुराण ! इस ग्रन्थ में विष्णु की अनेक प्रकार की स्तुति और हरि में भक्ति दिलाने वाली कथाएं हैं । वृहत् नारदीय पुराण नामक एक दूसरे ग्रन्थ में भी विष्णु की ऐसी ही स्तुति, भिन्न भिन्न रीतियों को पालन करने की आज्ञाएं और उसके सम्मानार्थ व्रत रहने का उल्लेख वा भिन्न भिन्न कथाओं का वर्णन है । ये दोनों ग्रन्थ बहुत ही थोड़े समय के हैं, और डाक्टर विल्सन साहब का यह अनुमान है कि ये वे मूल ग्रन्थ नही हैं, जिनका कि अट्ठारह पुराण की नामावली में वर्णन है ।

७ मार्कण्डेय पुराण में केवल कथाएं हैं, वृत्र की मृत्यु, बलदेव की तपस्या, हरिश्चन्द्र की कथा और वशिष्ठ और विश्वामित्र के विवाद की कथा के उपरान्त जन्म, मृत्यु, पाप और नर्क के विषय पर विचार किया गया है, उसके

उपरान्त सृष्टि की उत्पत्ति और मन्वन्तरों का वर्णन है। एक भविष्यत मन्वन्तर के वृत्तान्त में दुर्गादेवी के कार्यों का वर्णन है, जो कि इस पुराण का विशेष अहंकार है, और चण्डी वा दुर्गा की पूजा का पाठ है। यह प्रसिद्ध चण्डी पाठ है, और यह आज तक भी हिन्दुओं के घरों और दुर्गा के मन्दिरों में पढ़ा जाता है।

८ अग्नि पुराण—जिसके आरम्भ के अध्यायों में विष्णु के अवतारों का वर्णन है। इसके उपरान्त धार्म्मिक क्रियाओं का वर्णन है, जिनमें से अधिकांश तांत्रिक क्रियाएं हैं, और कुछ शिव पूजन की रीतियां हैं। इसमें पृथ्वी और विश्व के विषय के भी अध्याय हैं, इसके उपरान्त राजाओं के कर्तव्य, युद्ध की विद्या और कानून के विषय के अध्याय हैं, और उसके उपरान्त वेदों और पुराणों का वृत्तान्त है। इसकी वंशावली बहुत ही सूक्ष्म है। औषधि, अलंकार, छन्द, शास्त्र और व्याकरण के वर्णन के उपरान्त यह ग्रन्थ समाप्त होता है।

९ भविष्य पुराण तथा उसके अनुक्रम में भविष्योत्तर पुराण—इसमें से पहिले ग्रंथ में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन, संस्कारों और भिन्न जातियों और आश्रमों के कर्तव्यों तथा भिन्न रीतियों का वर्णन है। इन विषयों ने ग्रन्थ का तिहाई भाग ले लिया है, और उसके उपरान्त कृष्ण, उनके पुत्र साम्ब, वशिष्ठ, नारद और व्यास में परस्पर सूर्य के प्रताप और पूजा के विषय की बातें हैं। "अन्तिम अध्यायों में शाक-द्वीप वासी सूर्य के भक्त पूजक मगलोगों के विषय में कुछ अद्भुत उक्ति है। ग्रंथकार ने मानो फारसी शब्द मग का प्रयोग करके ईरान के अग्नि पूजकों का भारतवर्ष में सूर्य

पूजकों के साथ सम्बन्ध कर दिया है"*। भविष्य पुराण की नाईं भविष्योत्तर पुराण भी धर्म्म कर्म्मों के विषय की पुस्तक है।

१० ब्रह्मवैवर्त पुराण—यह चार भागों में है, जिसमें कि ब्रह्मा, देवी, गणेश और कृष्ण के चरित्रों का वर्णन है। परन्तु इस ग्रंथ के मूल रूप में बहुत परिवर्तन होगया है और वर्तमान ग्रन्थ निस्सन्देह साम्प्रदायिक है, और उसमें सब देवताओं से कृष्ण को प्रधानता दी गई है। वर्त्तमान ग्रंथ के अधिकांश भाग में वृन्दाबन का वर्णन, कृष्ण की असंख्य स्तुतियां, और राधा और गोपियों के प्रेम की उकताने वाली कहानियां दी हैं।

११ लिंगपुराण—यह ग्रन्थ सृष्टि की उत्पत्ति तथा सृष्टि कर्ता शिव के वृत्तान्त से प्रारम्भ होता है। सृष्टि के अंतर में एक बड़े प्रकाशमय लिंग का दर्शन होता है, और ब्रह्मा और शिव उसकी अधीनता स्वीकार करते हैं। लिंग से वेदों की उत्पत्ति होती है, जिससे कि ब्रह्मा और शिव को ज्ञान प्राप्त होता है, और वे शिव के यश का गान करते हैं। इसके उपरान्त दूसरी सृष्टि होती है, और शिव अपने अट्ठाइसों अवतार का वर्णन करते हैं, (जो कि निस्सन्देह भागवत पुराण में कहे हुए विष्णु के २४ अवतारों के समान हैं) और इसके उपरान्त विश्व का वर्णन और कृष्ण के समय तक के राज्यवंशों का वर्णन है। फिर शिव के सम्बन्ध की कथाएं, विधान, स्तुतियां है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि लिंग पुराण में भी "पुरा काल के निकृष्ट विधानों की भांति कोई वस्तु नहीं है। उसमें सब बातें निगूढ़ और धर्म्म सम्बन्धी हैं ‡"।

---

* विष्णु के २४ अवतारों का विचार सम्भवतः गौतम बुद्ध के पहिले २४ बुद्धों के होने की कथा से लिया गया था।

‡ विलसन साहब के विष्णु पुराण की भूमिका देखो

१२ वाराह पुराण—यह ग्रन्थ प्रायः समस्त विष्णु की पूजा और भक्ति के नियमों से भरा है, और दृष्टान्त के लिये उसमें कथाएं दी हैं। इसके अधिक अंश में वैष्णवों के भिन्न भिन्न तीर्थस्थानों का भी वर्णन है।

१२ स्कन्दपुराण—यह ग्रन्थ जो कि सब पुराणों से अधिक बड़ा है संगठित रूप में नहीं है परन्तु खण्ड खण्ड में है जिसमें इस पुराण के जो ८११०० श्लोक कहे गए हैं उनसे अधिक हैं। काशी खण्ड में बनारस के शिवमन्दिरों का सूक्ष्म वर्णन है और उसमें पूजा की रीति और बहुत सी कथाएं भी दी हैं। उत्कल खण्ड में उड़ीसा और जगन्नाथ के माहात्म्य का वर्णन है और यह निस्सन्देह पीछे के समय के वैष्णव ग्रन्थकारों का जोड़ा हुआ है जिन्होंने कि इस प्रकार से एक प्रसिद्ध शिवपुराण में एक वैष्णव तीर्थ का वृत्तान्त मिला दिया है। इस मिले जुले पुराण में भिन्न भिन्न खण्डों के अतिरिक्त कई संहिता और बहुत से महात्म्य सम्मिलित हैं।

१४ वामन पुराण—इसमें विष्णु के वामन अवतार का वृत्तान्त है। इसमें लिङ्ग की पूजा का भी वर्णन है, परन्तु इस ग्रंथ का मुख्य उद्देश्य भारतवर्ष के तीर्थस्थानों की पवित्रता वर्णन करने का है और इस कारण इस पुराण को माहात्म्यों का एक अनुक्रम ही कहना चाहिए। दक्ष के यज्ञ, कामदेव के भस्म किए जाने, शिव और उमा के विवाह और कार्तिकेय के जन्म की कथा, बलि के प्रताप और कृष्ण का वामन अवतार लेकर उसे परास्त करना, ये सब विशेष स्थानों और तीर्थों को पवित्र गिने जाने के लिये लिखे गए हैं।

१५ कूर्म पुराण। वामन पुराण की भांति इस पुराण का नाम भी विष्णु के एक अवतार का है परन्तु फिर भी इसकी गणना शैवपुराण में है और इसके अधिक भाग में शिव और दुर्गा की पूजा का वर्णन है। इस पुराण के प्रथम भाग में सृष्टि की उत्पत्ति, विष्णु के अवतार, कृष्ण के समय तक सूर्य्य और चन्द्रवंशी राजाओं की वंशावली, विश्व और मन्वन्तरों का विषय है और इनके साथ महेश्वर की स्तुति और अनेक शैव कथाएं मिली हूई हैं। दूसरे भाग में ध्यान और वैदिक विधानों के द्वारा शिव के ज्ञान प्राप्त करने का विषय है।

१६ मत्स्यपुराण—यह ग्रंथ विष्णु के मत्स्य अवतार लेने की कथा से प्रारम्भ होता है। यह कथा निस्सन्देह सतपथ ब्राह्मण में दी हुई कथा का परिवर्धित रूपांतर है जिसकी कि ईसाइयों की प्राचीन धर्म्म पुस्तक के प्रलय और नोआ की कथा से इतनी अद्भुत समानता है। इस पुराण में विष्णु ने मछली का रूप धारण करके मनु को सब वस्तुओं को बीज के सहित एक नौका में प्रलय के जल से बचाया है। जिस समय मत्स्य में बंधी हुई यह नौका जल के ऊपर तैरती थी उस समय मनु ने मत्स्य से बातोलाप किया है और उसने जो प्रश्न किए हैं तथा विष्णु ने उनका जो उत्तर दिया है वे ही इस पुराण के मुख्य अंश हैं। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति राज्यवंशों और भिन्न भिन्न आश्रमों के कर्त्तव्य का क्रम से वर्णन है। इसके उपरान्त शिव के पार्वती के साथ विवाह करने और कार्तिकेय के जन्म की कथाए हैं और उनमें वैष्णव कथाएं भी सम्मिलित कर दी गई हैं। फिर कुछ महात्म्य दिएगए

हैं जिनमें नर्मदा माहात्म्य है, और स्मृति और नीति तथा मूर्तियों के बनाने, भविष्यत के राजाओं और दान के विषय के अध्याय हैं।

१७ गरुड़पुराण—इसमें सृष्टि की उत्पत्ति का संक्षेप वृत्तान्त है परन्तु उसका मुख्य विषय धार्म्मिक आचार, त्योहार और स्तुतियां, तांत्रिक रीति से ज्योतिष शास्त्र, हस्तसामुद्रिक शास्त्र, वैद्यक शास्त्र इत्यादि हैं। इस ग्रंथ के अन्तिम भाग में अन्त्येष्टि क्रिया के करने की रीतियों का वर्णन हैं। वर्त्तमान ग्रन्थ में गरुण के जन्म का कोई वर्णन नहीं है और यह सम्भव है कि मूल गरुणपुराण अब हम लोगों को अप्राप्त हो।

१८ ब्रह्माण्डपुराण—स्कंद पुराण की नांई यह ग्रन्थ भी अब हम लोगों को संगठित रूप में नहीं मिलता वरन् वह खण्ड खण्ड में मिलता है और पीछे के समय के ग्रन्थकारों ने समय समय पर इस अप्राप्त मूल ग्रन्थ में भिन्न भिन्न स्वतन्त्र विषयों को सम्मिलित करने का लाभ उठाया है। आध्यात्म रामायण नामक एक बड़ा विलक्षण ग्रन्थ ब्रह्माण्ड पुराण का एक अंश समझा जाता है।

अट्ठारहों वृहत पुराणों के विषयों की उपरोक्त संक्षिप्त आलोचना से इन ग्रन्थों का ढंग यथेष्ट रीति से प्रगट होता है। ये अट्ठारहों मूलग्रन्थ पौराणिक काल में बनाए अथवा संकलित किए गए थे और जब अलबरूनी ११वीं शताब्दी में भारतवर्ष में आया उस समय ये वर्तमान थे परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि उस समय से ये बहुत ही परिवर्तित और विस्तृत किए गए हैं विशेषत:

शैव और वैष्णव ग्रन्थकारों के द्वारा जो कि अपने अपने धर्म्मों की प्रधानता स्थिर करने के लिये उत्सुक थे। पौराणिक काल में शिव सबसे अधिक प्रिय देवता था जैसा कि हमें उड़ीसा और अन्य प्रान्तों के इतिहासों से और पौराणिक काल के साहित्य से भी विदित होता है। कृष्ण जो कि कालिदास, भारवि, बाणभट्ट, भवभूति वा अन्य ग्रंथकारों से अधिक परिचित नहीं है, पीछे के समय में हिन्दुओं का सर्व प्रिय देवता हुआ। माघ और जयदेव ने ११ वीं और १२वीं शताब्दियों में उसके चरित्रों का वर्णन किया है और मुसल्मानों के राज्य के समस्त समय में कृष्ण निस्संदेह हिन्दुओं का सबसे अधिक प्रिय देवता था। अधिकांश पुराण जिनमें कृष्ण के प्रेम और बिहारों का तथा तांत्रिक रीति के अनुसार शिव वा शक्ति की पूजा का वर्णन है, मुसल्मानों की विजय के उपरान्त की शताब्दियों के बने हुए जान पड़ते हैं। पुराणों में मुसल्मानों के विजय होने के उपरान्त इतना परिवर्तन होने के कारण ही वे पौराणिक समय में हिन्दू जीवन और आचरण के लिये अनिश्चित और अविश्वास योग्य हैं।

इन अट्ठारहों पुराणों के अतिरिक्त इतने ही उप पुराण भी कहे गए हैं परन्तु भिन्न भिन्न ग्रन्थकारों ने इनकी जो सूची दी है उनमें भेद पाया जाता है। उपपुराण निस्संदेह पुराणों की अपेक्षा बहुत पीछे के समय के हैं और सम्भवतः वे सब मुसल्मानों की विजय के उपरान्त के बने हुए हैं। उपपुराणों में सब से प्रसिद्ध कालिका पुराण है जिसमें शिव की पत्नी की पूजा का वर्णन है और वह

मुख्यतः शाक्तग्रंथ है। उसमें दक्ष के यज्ञ और सती की मृत्यु का वर्णन है और उसके उपरान्त यह कहा गया है कि शिव ने अपनी स्त्री के मृत देह को समस्त संसार में घुमाया और इस शरीर के भिन्न भिन्न भाग भारतवर्ष के भिन्न भागों में पड़े और इस कारण ये स्थान पवित्र हो गए इन स्थानों में लिंग स्थापित किए गए जहां कि आज तक भी प्रति वर्ष लाखों यात्री जाते हैं। जो लोग वेद के सूत्रों का गान करते थे और जिन्होंने उपनिषदों की गूढ़ और उत्साहपूर्ण खोज को आरम्भ किया था उनके संतानों का अब ऐसी कल्पित कथाओं में विश्वास है और वे ऐसे धर्म्म विधानों को करते हैं।

३ तंत्र।

परन्तु मुसल्मानी राज्य का हिन्दू साहित्य हमारे साम्हने मनुष्यों की कल्पना और विश्वास का इससे भी अधिक अद्भुत रूपान्तर उपस्थित करता है। योग दर्शन ने अब अद्भुत साधनों के भिन्न रूप धारण किए थे जिनके द्वारा कि अमानुषिक शक्तियों के प्राप्त होने का विश्वास किया जाता था। हमें इसका प्रमाण भवभूति के ग्रन्थों में भी मिलता है जो कि आठवीं शताब्दियों में हुआ है परन्तु आगे चलकर इसने और भी विलक्षण रूप धारण किया। तंत्र के ग्रन्थों में जो कि विदेशी राज्य में हिन्दुओं की अवनति के समय में अन्तिम काल के बने हुए हैं हमें दैविक शक्तियों को प्राप्त करने के लिये अन्धकारमय कठोर और

निर्लज्ज साधनों के वर्णन मिलते हैं। और एक ढिठाई की कथा के द्वारा ये दूषित मस्तिष्क की अद्भुत कल्पनाएं स्वयं शिव के लिये निरूपित की गई हैं। तंत्रों की संख्या ६४ कही गई है, और हमने इनमें से कुछ तंत्रों को देखा है जो कि कलकत्ते में प्रकाशित हुए हैं।

जहां अज्ञान है वहीं सरल विश्वास है और दुर्बलता प्रबलता का पीछा करती है। और जब मिथ्या विश्वास की अज्ञानता और वृद्धावस्था की निर्बलता अन्तिम सीमा पर पहुंच गई थी तो लोगों ने हानिकारक साधनों और अपवित्र क्रियाओं के द्वारा उस शक्ति को प्राप्त करना चाहा जिसे कि ईश्वर ने केवल हमारे धार्मिक, मानसिक और शारीरिक शक्तियों के स्वतन्त्र और निर्दोषी अभ्यास से प्राप्त करने योग्य बनाया है। इतिहास जानने वाले के लिये तंत्र ग्रन्थ, हिन्दू विचार का कोई विशेष रूप प्रगट नहीं करते वरन् उनसे हिन्दू मन का रोगग्रस्त होना विदित होता है जो कि केवल उसी अवस्था में सम्भव है, जब कि जातीय जीवन नहीं रह जाता, जब सब राजनैतिक ज्ञान का लोप हो जाता है, और विद्या का प्रदीप ठंढा हो जाता है।

अध्याय ८

जाति।

हम चौथे कांड में देख चुके हैं कि भारतवर्ष की वृहद् आर्य जाति (पुजेरियों और राजाओं को छोड़ कर) बौद्ध काल तक एक ही संयुक्त जाति थी और वह आज कल के व्यवसाय की जातियों में नहीं बँटी थी। पौराणिक काल में जातियों के फूटने की प्रवृत्ति सब से अधिक थी और हमें भिन्न भिन्न व्यवसाय करने वालों के एक दूसरे से स्पष्ट जुदे उल्लेख मिलते हैं। परन्तु फिर भी जो प्रमाण अब मिलते हैं उनको पक्षपात रहित दृष्टि से देखने से सच्चे पाठकों को विश्वास हो जायगा कि आज कल की व्यवसाय की जाति पौराणिक समय में भी पूर्णतया नहीं बनी थी और लोग तब तक भी एक ही संयुक्त जाति में अर्थात् वैश्य जाति में रह कर भिन्न भिन्न व्यवसाय करते थे। जाति का भिन्न भिन्न व्यवसाय की जातियों में पूरी तरह से बँटना मुसलमानों के भारत विजय तथा हिन्दुओं के जातीय जीवन की समाप्ति के उपरान्त हुआ।

यह कहने की कठिनता से आवश्यकता है कि हम इस अध्याय में केवल याज्ञवल्क्य तथा एक वा दो अन्य धर्म्म-शास्त्रों का उल्लेख करेंगे जो कि पौराणिक काल के हैं। मुसल्मानों के विजय के उपरान्त के बने हुए अथवा पूर्णतया फिर से लिखे गए धर्म्मशास्त्रों पर हम निर्भयता से भरोसा नहीं कर सकते।

पौराणिक काल के सब धर्म्मशास्त्रों में चार बड़ी जातियों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का उल्लेख है। इनमें से पहिली तीनों जातियां उस समय तक भी धार्म्मिक विधानों को करने तथा बेद पढ़ने की अधिकारी थीं। इनके कार्य्य क्रमात् ये थे अर्थात् बेद पढ़ना, शस्त्र चलाने का अभ्यास करना और पशु चराना। और उनके जीविका निर्वाह के विषय में ब्राह्मणों के लिये दूसरों का यज्ञ करना और दान ग्रहण करना, क्षत्रिय के लिये लोगों की रक्षा करना और वैश्य के लिये खेती करना, गौ रखना, व्यापार करना, द्रव्य उधार देना और बीज बोना था (विष्णु, २)।

शूद्र का धर्म्म अन्य जातियों की सेवा करना था और उसकी जीविकावृत्ति भिन्न भिन्न प्रकार के शिल्प द्वारा कही गई है (विष्णु २) वह वाणिज्य भी कर सकता था, (याज्ञवल्क्य, १,१२०) और निस्सन्देह बहुत से दूसरे व्यवसाय भी करता था।

याज्ञवल्क्य भी भिन्न भिन्न मुख्य जातियों के पुरुषों और स्त्रियों के द्वारा मिश्रित जातियों की उत्पत्ति की प्राचीन कथा लिखता है, उसने जिन १३ मिश्रित जातियों का उल्लेख किया है वे ये हैं—

पिता	माता	जाति
ब्राह्मण	क्षत्रिय	मूर्द्धाभिशक्ति
,,	वैश्य	अम्बष्ठ
,,	शूद्र	निषाद वा पार्सव
क्षत्रिय	वैश्य	माहिश्य
,,	शूद्र	उग्र

वैश्य	,,	करन
क्षत्रिय	ब्राह्मण	सूत
वैश्य	,,	वैदेहक
शूद्र	,,	चाण्डाल
वैश्य	क्षत्रिय	मागध
शूद्र	,,	क्षत्री
,,	वैश्य	आयोगव
माहिश्य	करन	रथकार

(याज्ञवल्क्य १,९१-९५)

अब एक वार पुन: इस वात के दिखालाने की कठिनता से आश्यकता है कि ऊपर जो मिश्रित जातियां कही कई हैं, वे भारतवर्ष की आज कल की व्यवसाय करने वाली जातियां नहीं हैं, वरन उनमें से अधिकांश उन आदि वासी जातियों के नाम हैं, जो धीरे धीरे हिन्दू रीति और सभ्यता को ग्रहण कर रही थीं और पूर्णतया शूद्र जाति में सम्मिलित नहीं हुई थीं । यह विदित होगा कि याज्ञवल्क्य को इन जातियों के धीरे धीरे हिन्दुओं में मिलने का कुछ विचार था क्योंकि उपरोक्त सूची के उपरान्त ही वह लिखता है कि सातवें अथवा पांचवें युग में भी कर्मों के अनुसार नीच जाति उच्च पद को प्राप्त कर सकती है (१,९६)।

अत: इन मिश्रित जातियों से हमें आज कल की व्यवसाय करने वाली जातियों की उत्पत्ति का पता नहीं लगता। इन आधुनिक जातियों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? पौराणिक धर्मशास्त्रों से इस विषय का कुछ पता लगेगा।

मनु के ग्रन्थ में कायस्थों का कोई उल्लेख नहीं क्योंकि बौद्धकाल में प्रत्येक न्यायालय और कार्यालय में लेखकों के नियत करने की रीति साधारणत: प्रचलित नहीं थी। पौराणिक काल में लेखक लोग बहुत और प्रभाव शाली हो गए थे, और वे न्यायालय में न्यायाधीश के पास कार्य्य करते थे, दस्तावेजों पर शाक्षी करते थे और कानून के सम्बन्ध का सब लिखने पढने का कार्य्य करते थे। वे बहुधा इससे भी ऊंचे कार्य्यों में नियत किए जाते थे और राजा लोग उन्हें आय का प्रबन्ध करने, कर उगाहने, राज्य का हिसाब रखने और उन सब कार्य्यों के करने के लिये नियत करते थे जो कि आज कल कोश विभाग के मंत्री को करने पडते हैं। मृच्छकटि नामक एक नाटक में हम एक कायस्थ अर्थात् दस्तावेज रखने वाले को न्यायालय में न्यायाधीश की सेवा में पाते हैं और कल्हण ने अपने काश्मीर के इतिहास में कायस्थों का राजाओं के हिसाब रखने वालों, कर उगाहने वालों, और कोषाध्यक्ष की नांई बहुधा उल्लेख किया है। वे शीघ्र ही ब्राह्मणों के कोप में पड़े क्योंकि वे सभों से कर उगाहते थे किसी को नहीं छोडते थे और इस कारण स्वयं कल्हण ने भी बहुत कड़े ही शब्दों में उनकी निन्दा की है। कर देने वाले पुजेरियों के इन क्षमायोग्य क्रोध को छोड़कर हम उनके अनुगृहीत हैं कि पौराणिक काल के ग्रन्थों के वाक्यों से हमें विदित होता है कि भारतवर्ष में इस व्यवसाय करने वालों की किस भांति उत्पत्ति हुई और उनके मुख्य कार्य्य क्या थे। यह सम्भव जान पडता है कि इस जाति के लोग मुख्यत: सर्व साधारण लोगों अर्थात् क्षत्रियों और वैश्यों में

से लिए गए। ब्राह्मण लोग कठिनता से ऐसे कार्य्यों के करने का अपमान सहन कर सकते थे और शूद्रों में उनको करने की योग्यता नहीं थी *। मुसल्मानों की विजय के उपरान्त इस व्यवसाय के करने वालों की एक जुदी और अविकल जाति हो गई।

याज्ञवल्क्य कहता है (१,३३६) कि राजा को छलने वालों, चोरों, उपद्रवी लोगों, डांकुओं इत्यादि से और विशेषतः कायस्थों से अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। यहां यदि हम कायस्थों से आधुनिक जाति का तात्पर्य समझें तो इस वाक्य का कोई अर्थ नहीं होता क्योंकि किसी विशेष जाति की रक्षा किए जाने की आवश्यकता का कोई कारण नहीं देख पड़ता। इसके विरुद्ध यदि हम इस शब्द का तात्पर्य लोभी कर उगाहने वालों से समझें, तो हम उस ग्रन्थकार के विचारों को समझ सकते हैं, जिसने कि उनकी चोरों और डाकुओं में गणना की है। ऐसा सत्कार आज तक भी कर उगाहने वालों का किया जाता है। और यह स्पष्ट है कि

* इस अध्याय में तथा अन्यत्र हमने कायस्थों और वैद्यों की उत्पत्ति प्राचीन क्षत्रियों और वैश्यों से दिखलाई है। परन्तु कई वर्षों से इस सिद्धान्त का विरोध हो रहा है और कायस्थों के क्षत्रिय होने के प्रमाण दिखलाए गए हैं। हम इस वाद विवाद में प्रवृत्त नहीं हुए हैं और हम इस विषय में कोई सम्मति देने में असमर्थ हैं। हमारा मुख्य तात्पर्य यह है कि आधुनिक कायस्थ और वैद्य लोग शूद्र नहीं हैं और न उनकी दो जाति के सम्मेल से उत्पत्ति हुई है। वे भारतवर्ष के प्राचीन आर्यों की सन्तान हैं और केवल एक जुदा व्यवसाय ग्रहण करने के कारण उनकी जुदी जुदी जातियां बन

यद्यपि याज्ञवल्क्य कायस्थों का उल्लेख करता है परन्तु उनका अपनी मिश्रित जातियों की सूची में वर्णन नहीं करता। इससे यह प्रमाणित होता है कि पौराणिक काल में कायस्थ केवल एक व्यवसाय के लोग थे, उनकी कोई जुदी जाति नहीं थी।

अब हम बिष्णु पुराण से उद्धृत करेंगे। उसमें दस्तावेजों के प्रसिद्ध अध्याय में तीन प्रकार के दस्तावेज कहे गए हैं अर्थात् (१) जिन पर राजा के हस्ताक्षर हों जो कि आजकल के रजिस्टरी किए हुए दस्तावेज के काम देते थे (२) वे जिन पर अन्य शाक्षियों के हस्ताक्षर हों और (३) वे जिन पर किसी की साक्षी न हो। इसके आगे ग्रन्थकार कहता है कि "दस्तावेज पर राजा कीसाक्षी तब कही जाती है जब कि वह राजदर्बार में राजा के नियत किए हुए कायस्थ के द्वारा लिखी जाय और उसमें दर्बार के प्रधान के हस्ताक्षर हों। यहां भी यदि हम कायस्थ से किसी जाति को समझें तो इस शब्द का कोई अर्थ नहीं होता। डाक्टर जौली साहेब ने इस शब्द का अनुवाद केवल "लेखक" किया है और यह ठीक है। पौराणिक काल में कायस्थ का अर्थ ठीक वही था जो कि आज कल मोहर्रिर का अर्थ है।

गई हैं। यह सम्भव है कि कायस्थ लोग केवल क्षत्रिय जाति से ही लिए गए हों और क्षत्रिय राजाओं के धनहीन भाइयों ने राज्य-न्यायालय में हिसाब लिखने और दस्तावेज रखने का कार्य्य प्रसन्नता से स्वीकार किया हो। हमें यह विदित किया गया गया है कि उत्तरी भारतवर्ष में आज तक भी कायस्थों में सम्बन्धियों की मृत्यु होने पर अशौच का समय उतना नहीं है जितना कि क्षत्रियों के लिये है।

अन्य वैश्यों से उत्पन्न हुए हैं और एक जुदा व्यवसाय करने के कारण उनकी एक जुदी जाति बन गई है। और कायस्थों की नांई वैद्यों के विषय में भी यह सम्भव है कि बंगाल के सेन वंशी राजाओं की नांई राजाओं की क्षत्रिय जातियों की सन्तान भी इस आधुनिक व्यवसाय की जाति में सम्मलित हो गई हों।

परन्तु यद्यपि पौराणिक काल में जुदे जुदे व्यवसाय करने वालों की जुदी जुदी जातियां नहीं हो गई थीं तथापि भिन्न भिन्न व्यवसाय अपमान की दृष्टि से देखे जाने लगे थे जैसा कि हम कायस्थों और वैद्यों के विषय में दिखला चुके हैं। जातिभेद का जिसने कि पुजेरियों के अधिकार और स्वत्वों को अनुचित रीति से बढ़ा दिया था पुजेरियों के सिवाय अन्य सचाई के व्यापारों और व्यवसायों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। हमने मनु के ग्रंथों में इस बात को देखा है और याज्ञवल्क्य में और भी अधिक देखते हैं। एक वाक्य में जिसका कि हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं (१, १६०–१६५) उसने बहुत से व्यवसाय करना अपवित्र कहा है और वैद्यों, सोनारों, लोहारों, तांतियों, रँगरेजों, शस्त्र बनाने वालों और तेलियों की गणना चोरों और वेश्याओं के साथ की है। इस प्रकार जातिभेद का अपने पीछे के रूप में दो फल हुआ जैसा कि हमारे पाठक लोग ऊपर के सदृश वाक्यों से देखेंगे। उसने जाति में भेद कर के परस्पर के द्वेश को उत्पन्न किया और उसने ब्राह्मणों को उच्च पद देने के लिये अन्य जातियों को नीचा बनाया।

अध्याय ६।

हिन्दुओं और जैनियों की गृह और मूर्ति निर्माण विद्या।

हम पहिले एक अध्याय में भारतवर्ष में बौद्धों की गृहनिर्माण विद्या के विषय में लिख चुके हैं। बौद्धों की गृह निर्माण विद्या के इतिहास की पांचवीं शताब्दी में समाप्ति होती है और पांच सौ ईस्वी के पीछे के बहुत ही थोड़े नमूने हम लोगों को मिलते हैं। इसके विरुद्ध हिन्दू मन्दिरों के वर्तमान नमूनों को देखने से विदित होता है कि वे इसी समय में प्रारम्भ होते हैं और भारतवर्ष के मुसल्मानी विजय के बहुत उपरान्त तक जारी रहते हैं। ये घटनाएं जो सारे भारतवर्ष में चिरस्थायी पत्थरों पर लिखी हुई हैं उस विभाग का समर्थन करती हैं जो कि हमने बौद्ध काल और पौराणिक काल का किया है।

उत्तरी भारतवर्ष का ढंग।

तब हिन्दू मन्दिरों के सब से प्राचीन नमूनों का समय ५०० ईस्वी से प्रारम्भ होता है और ये नमूने अपने शुद्ध रूप में बहुतायत से उड़ीसा में मिलते हैं। जो मनुष्य उड़ीसा के भुवनेश्वर नगर में गया है उसे हिन्दू मन्दिरों का बहुत अधिक वृत्तान्त विदित है जो कि कई पृष्ट के वर्णन से भी नहीं विदित हो सकता।

उत्तरी भारतवर्ष के मन्दिरों की बनावट में कुछ विशेष बातें हैं जो कि सारे उत्तरी भारतवर्ष की सब प्राचीन इमारतों में देखने में आती हैं। विमान के ऊंचे बुर्ज का

आकार वक्रीय होता है और उसके सिरे पर अमलक होता है जो कि इस नाम के किसी फल के आकार का समझा जाता है। उनमें खण्डों के होने का कोई चिन्ह नहीं दीख पड़ता और उनमें कहीं पर खम्भे नहीं हैं। उसके द्वारा पर गुम्बटाकार सिरा होता है जिसमें कि बहुत सी कार्नीस होती हैं। डाक्टर फर्ग्यूसन साहब ने इस बात को दिखलाया है कि बनारस के आज कल के मन्दिरों के रूप (और बनारस का कोई वर्तमान मन्दिर दो शताब्दियों से प्राचीन नहीं है) में परिवर्तन होने पर भी उनमें वे ही विशेषता हैं जो कि बारहवीं शताब्दी के बने हुए उड़ीसा के विमानों में पाई जाती है। *

कहा जाता है कि भुवनेश्वर में सैकड़ों मन्दिर बनाए गए थे और उनमें से बहुत से अब तक भी वर्तमान हैं और दर्शकों को आश्चर्यित करते हैं। उनमें से सबसे प्रसिद्ध वह है जो भुवनेश्वर का बड़ा मन्दिर कहलाता है और वह सन् ६१७ और ६५७ ईस्वी के बीच का बना है। उसकी पहिली इमारत जिसमें कि विमान और द्वार सम्मिलित हैं १६० फीट लम्बी थी और उसके उपरान्त १२ वीं शताब्दी में उसमें नाट मन्दिर और भोग मन्दिर बनवाए गए। विमान के भीतर का भाग ६६ फीट का एक समचतुर्भुज है और वह १८० फीट ऊंचा है। यह समस्त इमारत पत्थर की है। इसके बाहर

* कदाचित पाठकों को यह सूचना देनी अनावश्यक नहीं है कि इस अध्याय की सब बातें डाक्टर फर्ग्यूसन साहब के उत्तम और पूर्ण ग्रन्थ " हिस्टरी आफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्चिटेकचर" से ली गई हैं।

का भाग बहुत ही उत्तम खुदाई के काम से ढका हुआ है। प्रत्येक पत्थर पर एक एक प्रकार की खुदाई है और यह अनुमान किया जाता है कि स्वयं इस इमारत की बनवाई में जितना व्यय हुआ होगा उसका तिगुना उसकी खुदाई में लगा होगा। "बहुत से लोगों का यह विचार होगा कि इसकी चौगुनी इमारत का बड़ा और अधिक प्रभाव पड़ता। परन्तु हिन्दू लोगों ने इस विषय को इस दृष्टि से कभी नहीं देखा होगा। उन लोगों का यह विचार था कि प्रत्येक बात में बहुत ही अधिक परिश्रम करने से वे अपने मन्दिर को अपने देवता के अधिक योग्य बना सकते थे और चाहे उनका विचार सत्य हो वा असत्य इसका फल निस्संदेह अद्भुत रीति से सुन्दर हुआ। मूर्ति निर्माण का काम बहुत ही उच्च श्रेणी का और बड़े ही सुन्दर नमूने का है।" (फर्गूसन पृष्ठ ४२२)

कनारक का प्रसिद्ध काला मन्दिर जिसका कि अब केवल बरामदा रह गया है १२४१ ई० का बना हुआ समझा जाता है। डाक्टर फर्गूसन साहब अच्छे प्रमाणों के साथ इस बात का समर्थन करते हैं कि वह ८५० वा ८७३ में बना था। उसकी सतह ४० फीट की चौकोर है और उसकी छत भीतर की ओर ढालुआं होते हुए २० फीट तक हो गई है और वहां समथर चौरस पत्थर की छत पाट दी गई है जो कि लोहे की २१ वा २३ फीट लम्बी धरनों पर है। और इससे हिन्दुओं की लोहे के ढालने की विद्या प्रगट होती है जो कि अब उनमें नहीं रही है। इसके बाहरी भाग में "द्वारों बाजों तथा सीढ़ियों पर बहुत ही सुन्दर भिन्न भिन्न खुदाई

का काम है और ईंटे ऐसी सुन्दरता और विचार के साथ लगाई गई हैं जिसकी बराबरी कोई सच्चा यवन कठिनता से कर सकता था ।" (फर्ग्यूसन पृष्ठ ४२८)

इसके उपरान्त हमारे साम्हने पूरी का जगन्नाथ का मन्दिर है, जो कि उड़ीसा में वैष्णव धर्म्म के शैव धर्म्म को दबा लेने के उपरान्त बना था । उससे केवल धर्म्म का परिवर्तन ही प्रगट नहीं होता वरन हिन्दू धर्म्म में अधमता का आजाना भी प्रगट होता है जो कि सन् ११७४ ई० की इस इमारत पर अंकित है । "परन्तु इस मन्दिर की केवल बनावट ही से नहीं वरन उसके आकार, प्रकार और प्रत्येक बातों से विदित होता है कि इस शिल्प को कम से कम इस प्रान्त में वह हानिकारक धक्का पहुंचा था जिससे कि वह अपनी पहिली अवस्था को प्राप्त नहीं कर सका" (फर्ग्यूसन पृष्ट ४३०)

इस मन्दिर का बिमान बीच में ८५ फीट लम्बा है, और वह १९२ फीट की उँचाई तक उठा हुआ है, बरामदे को लेकर उसकी पूरी लम्बाई १५५ फीट है और नाट मन्दिर तथा भोग मन्दिर को लेकर, भुवनेश्वर के बड़े मन्दिर की नाई वह ३०० फीट लम्बा है !

बुन्देलखण्ड के प्रान्त में प्राचीन हिन्दू मन्दिर अधिकता से सम्भवत: उड़ीसा को छोड़ कर उत्तरी भारतवर्ष के और सब स्थानों की अपेक्षा बहुत अधिकता से पाए जाते हैं । बुन्देलखण्ड के खजुराहो स्थान में लगभग ३० बड़े बड़े मन्दिर हैं जिनमें से कि प्राय: सब ९५० ई० से लेकर १०५० ई० के भीतर के हैं, जो कि हमारे पाठकों को स्मरण

होगा कि राजकीय उलट फेर के अन्धकार मय समय के उपरान्त राजपूतों की प्रबलता की पहिली शताब्दी है। डाक्टर फर्ग्यूसन साहब के ग्रन्थ में इनमें से एक मन्दिर का एक उत्तम चित्र दिया हुआ है जिससे कि उड़ीसा की बनावट के परिवर्तन प्रगट होते हैं। एक ऊंचे विमान के चारों ओर बहुत से छोटे छोटे विमान उसको घेरे हुए हैं। उसकी कुर्सी ऊंची है और उसके चारों ओर मूर्तियों की खुदी हुई तीन पंक्तियां हैं। जेनरल कनिंघाम साहब ने इनमें ८७२ मूर्तियां गिनी हैं जिनमें कि बहुतायत से बेल बूटे का काम भी मिला हुआ है। इस मन्दिर की उंचाई ११६ फीट अर्थात् चबूतरे के ऊपर ८८ फीट है और उसके बाहर का रूप बहुत ही भड़कीला और सजा हुआ है।

भूपाल राज्य में ११ वीं शताब्दी के एक मन्दिर का पूरा नमूना है। उसे मालवा के किसी राजा ने सन् १०६० ई० में बनवाया था। विमान बहुत ही सुन्दर और भड़कीले अमलक के चार चौरस बंद से सुसज्जित है और उसके चारों ओर के अमलक पर भी बहुत ही अच्छी नकाशी का काम है। मन्दिर की नकाशी में सर्वत्र यथार्थता और उत्तमता पाई जाती है।

अब हम राजपुताने की ओर झुकेंगे। चित्तौड़ के प्रसिद्ध खंडहरों में हमने कुंभ की रानी के बनवाए हुए मन्दिरों को देखा है। कुंभ एक बड़ा विजयी राजा था और वह जैन धर्मावलम्बी था। उसने सत्री में जैन मन्दिर और चित्तौर में विजय का संगमर्मर का खम्भा बनवाया है। उसकी रानी मीराबाई एक कट्टर हिन्दू जान पड़ती है और

उसने दो मन्दिर बनवाए हैं (१४१८–१४६८) जो कि अब खँडहर हो गए हैं और उनमें वृक्ष आदि उग आए हैं। बिमान और बरामदे दोनों ही का ढंग निस्सन्देह उड़ीसा के मन्दिरों का सा है। मन्दिर के चारों ओर खम्भों की पंक्तियां है और चारों कोने पर चार छोटी छोटी कोठरियां हैं और ऐसा ही द्वार पर भी है।

महाराष्ट्र देश में भी प्रचीन मन्दिरों के नमूनों में न इतना उत्तम नकाशी का काम है और न वे इतने अधिक हैं जितने कि उड़ीसा में। महराष्ट्र मन्दिरों में मनोरञ्जक बात केवल यह है कि वहां उड़ीसा वा उत्तरी भारतवर्ष के ढंग के द्रविड़ अथवा दक्षिणी भारतवर्ष के ढंग पर प्रभुत्व पाने के लिये यत्न किया गया है। मरहठा लोग द्राविड़ जाति के हैं परन्तु आर्य्यों के साथ उनके संसर्ग ने तथा उनमें आर्य सभ्यता के प्रचार ने उन्हें आर्यों के अर्थात् उत्तरी भारतवर्ष के ढंग को ग्रहण करने के लिये उत्तेजित किया। इमारतों में दोनों ढंगों के चिन्ह देख पड़ते हैं।

जब कि उड़ीसा, बुंदेलखंड, मालवा, महाराष्ट्र, और राजपूताना में प्राचीन मन्दिरों के नमूने इतनी अधिकता से मिलते हैं तो वे स्वयं आर्यों के निवासस्थान अर्थात् गंगा और जमुना की घाटी में इतने अप्राप्त क्यों हैं? इसका उत्तर स्पष्ट है। बाहरवीं शताब्दी में मुसल्मानों ने गङ्गा और यमुना की घाटियों को विजय किया और उन्होंने केवल उस समय के प्राचीन मन्दिरों को तोड़वा कर उनके पत्थरों से मसजिद और मीनार ही नहीं बनवाए वरन मन्दिरों के निर्माण की उन्नति को भी रोक दिया।

राजनैतिक जीवन के लोप हो जाने पर शिल्प की उन्नति सम्भव नहीं है और जो दुर्बल उद्योग देखने में आ भी सकते थे उनको कट्टर मुसल्मानों ने रोक दिया। परन्तु हिन्दुओं की स्वतंत्रता अबतक भी राजपूताना, महाराष्ट्र, मालवा, बुंदेलखण्ड और उड़ीसा में रह गई थी और यही कारण है कि इन प्रान्तों में हम प्राचीन मन्दिर बचे हुए और नए मन्दिर बने हुए पाते हैं।

सम्राट अकबर के समय में मानसिंह ने वृन्दावन में एक बड़ा मन्दिर बनवाया था परन्तु कहा जाता है कि कट्टर औरङ्गजेब की आँखे इस मन्दिर के ऊंचे सिरे को न देख सकीं और उसने इस मन्दिर को गिरवा डाला। इस मन्दिर का जो भाग शेष है और जिसे हमारी अंग्रेज़ी सरकार ने अंशतः बनवा दिया है उसे वृन्दावन में जानेवाले प्रत्येक यात्री ने देखा होगा।

मन्दिरों का निर्माण अब तक भी उड़ीसा के पुराने ढंग के अनुसार होता था, यद्यपि उसमें बहुत परिवर्तन हो गए थे। उन्होंने नए मुसल्मानी ढंग को भी ग्रहण किया था। यह बात बनारस के आधुनिक मन्दिरों में यथा विश्वेश्वर के मन्दिर में देखने में आती है। उड़ीसा के मन्दिरों का विमान छोटा कर दिया गया है और बीच में विमान के चारों ओर बहुत से छोटे छोटे विमान बनाए गए हैं और आगे के बरामदे में उड़ीसा की शुंडाकार छत के स्थान पर मुसल्मानी ढंग का गुम्बज है जो कि बहुत ही सुन्दर है परन्तु मन्दिर की बनावट के मेल में नहीं है। बंगाल में लोगों के छाए हुए झोपड़ों की सुन्दर झुकी हुई छतों से

एक नई सुन्दरता ली गई है। बंगाल में पत्थर के मन्दिर प्रायः नहीं हैं परन्तु ईंटों के शिवालय बनते हैं जिनकी छत्त छाए हुए झोपड़ों की नाई सुन्दरता से झुकी हुई होती है और जिनकी दीवारें कहीं कहीं खपरे के उच्चश्रेणी के काम से ढकी हुई होती हैं, इन मन्दिरों के नोकीले मेहराब मुसल्मानी ढंग से लिए गए हैं यद्यपि बंगाल के आधुनिक शिवालयों में उत्तरी भारतवर्ष के ढंग से इतना अन्तर है जितना कि भली भांति विचारा जा सकता है।

उत्तरी भारतवर्ष की जैन इमारतों ने उड़ीसा के विमान के ढंग को ग्रहण किया परन्तु काल पाकर उसने सुन्दर मुसल्मानी गुम्बज का भी आश्रय लिया। मन्दिरों के समूह बनाने की चाल अन्य धर्म्म के लोगों की अपेक्षा जैनियों में बहुत अधिक है। सामान्य श्रेणी के धनाढ्य लोग प्रत्येक शताब्दी में मन्दिर पर मन्दिर बनवाते हैं और यद्यपि उनके प्रत्येक मन्दिर में राजाओं की आज्ञा से बने हुए हिन्दू मन्दिरों की शान नहीं पाई जाती तथापि कुछ समय मे मन्दिरों के समूह किसी पहाड़ी वा तीर्थ स्थान को मन्दिरों के नगर में परिवर्त्तित कर देते हैं। ऐसे ही गुजरात में पलीताने के मन्दिर हैं जिनमें से कुछ ११ वीं शताब्दी के बने हुए प्राचीन हैं और उनमें से सब से पीछे के केवल वर्त्तमान शताब्दी के बने हैं। ये सैकड़ों मन्दिर विस्तृत पहाड़ियों की चोटियों और उनके बीच की घाटी को ढके हुए हैं और इन मन्दिरों के पूरे समूह का साधारण प्रभाव बहुत पड़ता है।

प्राचीन मन्दिरों में बौद्ध ढंग के कोई चिन्ह नहीं मिलते। उनमें से सब से प्राचीन मन्दिर बनावट में अर्थात् ढांचे और कारीगरी में सब प्रकार पूर्ण हैं और इस ढंग के इतिहास का इसके पहिले कोई पता नहीं चलता।

परंतु द्रविड़ की अर्थात् पश्चिमी ढंग की उत्पत्ति बौद्धों के गुफा खोदने के ढंग से दिखलाई गई है। सब से प्राचीन द्रविड़ मन्दिर जो अब वर्त्तमान हैं वे गुफा खोद कर बनाए गए थे। और सबसे पीछे के समय में द्रविड़ इमारतों ने जो उन्नतियां कीं उनमें उनकी उत्पत्ति के और भी चिन्ह मिलते हैं।

एलोरा कृष्णा नदी से दूर उत्तर की ओर है। एलोरा की कई इमारतों के ढांचे और उनकी बनावट के देखने से इसमें बहुत कम सन्देह हो सकता है कि वे द्रविड़ ढंग की हैं। कैलाश का मन्दिर आठवीं वा नवीं शताब्दी में बनाया गया था और यह समझा जाता है कि इसी समय के लगभग चालुक्यों की प्रबलता के पतन होने पर दक्षिण के द्रविड़ लोगों अर्थात् प्रबल चोला लोगों ने उत्तर की ओर अपना राज्य बढ़ाया था। इससे कृष्णानदी से इतनी दूर उत्तर में द्रविड़ ढंग के इस अद्भुत नमूने के मिलने का कारण विदित हो जाता है।

चट्टान में २७० फीट लम्बा और १५० चौड़ा एक बड़ा गड्हा खोदा गया है। इस चौकोर गड्हे के बीच में मन्दिर है जिसका विमान ८० वा ९० फीट ऊंचा है और जिसके आगे का बड़ा बरामदा १६ खम्भों पर है और यह एक पुल तथा गोपुर अर्थात् फाटक के द्वारा मन्दिर से मिला

राजा ने बनवाया था। नीचे का सीधा भाग दो खण्ड का ऊंचा है, और इसके ऊपर इमारत सुण्डाकार होकर १३ खण्डों की ऊंची है इसके सिरे पर एक गुम्बज़ है जो कि एक ही बड़े पत्थर का बना हुआ कहा जा सकता है। इसकी पूरी ऊंचाई १९० फीट है और इस भड़कीली इमारत का रूप मनोहर और सुन्दर है। यह इमारत यद्यपि एलोरा के चट्टान खोद कर बने हुए मन्दिर से बहुत भिन्न है तथापि उसमें उसी ढंग के होने के चिन्ह मिलते हैं।

दक्षिणी भारतवर्ष के सब से मान्य और सब से प्राचीन मन्दिरों में समुद्र तट पर कावेरी नदी के मुहाने के कुछ उत्तर चिल्लमबरं का मन्दिर है। उसका बनवाना निस्सन्देह दसवीं वा ग्यारहवीं शताब्दी में प्रारम्भ किया गया था, परन्तु इसके सब से अच्छे भाग १५ वीं, १६ वीं और १७ शताब्दियों के बने हुए हैं। इन्हीं शताब्दियों में बड़े गोपुर अर्थात् फाटक, पार्वती के मन्दिर और एक हज़ार खम्भों के बड़े और सुन्दर दलान का समय निश्चित करना चाहिए। पार्वती के मन्दिर का अगला भाग अद्भुत रीति से सुन्दर है। १००० खम्भों के दालान के खम्भे सामने की ओर २४ और लम्बान की ओर ४१ की पंक्तियों में हैं। कड़े पत्थरों के खम्भों का कुञ्ज जिनमें से प्रत्येक खम्भा एक ही पत्थर का बना हुआ है, और सब पर थोड़ी वा बहुत नकाशी का काम है एक अद्भुत शान का प्रभाव उत्पन्न करता है।

तंजोर के निकट शरिंघम का रौनकदार मन्दिर गत शताब्दी में बना था और निस्सन्देह इस मन्दिर का बनना फरासीसियों के कारण रुक गया, जिन्होंने कि ट्रिचिना-

पत्नी के लेने के लिये अंग्रेजो से १० वर्ष तक युद्ध करने के समय में यहां रह कर किलाबन्दी की थी। इसके १४ वा १५ सुन्दर नक्काशीदार फाटकों को दूर से देखने से बहुत ही अद्भुत प्रभाव पड़ता है। परन्तु इसके बीच की अधिक उत्तम बनावट सब के ऊपर उठी हुई नहीं है और यह अभाव दक्षिण के प्रायः सब बड़े बड़े मन्दिरों में पाया जाता है। वे सब थोड़े वा अधिक इमारतों के समूह हैं, जो कि सुन्दरता और काम की उत्तमता में आंख को चकाचौंध में डालने वाले हैं, परन्तु उनमें उत्तरी भारतवर्ष के मन्दिरों की नाईं दृष्टि किसी बीच की अद्भुत इमारत पर नहीं ठहरती।

मदुरा में एक बड़ा मन्दिर हैं जो कि कहा जाता है, १६ वीं शताब्दी में प्रारम्भ किया गया था, परन्तु स्वयं मन्दिर को १७ वीं शताब्दी में त्रिमुल्ल नायक ने बनवाया। यह एक बड़ा चौखुटा मन्दिर है जो कि लगभग ८४० फीट लम्बा और ७२० फीट चौड़ा है और उसमें ९ गोपुर तथा १००० खम्भों का एक दालान है, जिनके पत्थर की नक्काशियां इस प्रकार की बहुत सी अन्य इमारतों से बढ़ कर हैं। इस मन्दिर के सिवाय मदुरा में एक प्रसिद्ध चौलत्री भी है जिसे कि इसी नायक ने राजा के यहां दस दिन भेट करने के अवसर पर मुख्य देवता के लिये बनवाया था। यह ३३३ फीट लम्बी और १०५ फीट चौड़ी एक बड़ी दालान है जिसमें कि खम्भों की चार पंक्तियां हैं, और उनमें से सब पर बहुत सुन्दर भिन्न भिन्न नक्काशी हैं।

द्वीपों की उन श्रेणी में से एक पर जो कि भारतवर्ष को लंका से जोड़ती हुई जान पड़ती हैं, रामेश्वर का प्रसिद्ध

मन्दिर है जिसमें द्रविड़ ढंग की सब से पूर्ण सुन्दरता देखने में आती है। मदुरा की नाईं यह मन्दिर भी (एक नीचे और प्राचीन विमान को छोड़ कर) १७वीं शताब्दी का बना हुआ है। मन्दिर के चारों ओर ८८६ फीट लम्बी और ६७२ फीट चौड़ी और २० फीट ऊंची दीवाल का घेरा है, इसके चारों ओर चार बड़े बड़े गोपुर हैं, परन्तु उनमें से केवल एक ही पूरा बना है। परन्तु मन्दिर की शान उसके लम्बे दालान में है जो कि लगभग ४००० फीट लम्बे हैं। उसकी चौड़ाई २० फीट से ३० तक है, और ऊंचाई ३० फीट है। "कोई नक़्क़ाशी उस विचार को नहीं प्रगट कर सकती जो कि लगातार ७०० फीट की लम्बाई तक इस परिश्रम की कारीगरी को देखने से होती है। हमारे कोई गिर्जे ५०० फीट से अधिक ऊंचे नहीं हैं और सेंट-पीटर के गिर्जे का मध्य भाग भी द्वार से लेकर पूजास्थान तक केवल ६०० फीट लंबा है। यहां बगल के लंबे दालान ७०० फीट लम्बे हैं और वे उन फैले हुए पतले दालानों से जुड़े हुए हैं जिनका काम स्वयं उनकी ही भांति सुन्दर और उत्तम है। इनमें भिन्न भिन्न उपायों और प्रकाश के प्रवन्ध से ऐसा प्रभाव उत्पन्न होता है जो कि निस्सन्देह भारतवर्ष में और कहीं नहीं पाया जाता। यहां हमें ४००० फीट तक लंबे दालान मिलते हैं जिनके दोनों ओर कड़े से कड़े पत्थरों पर नक़्क़ाशी की गई है। यहां पर परिश्रम की जो अधिकता देखने में आती है उसका प्रभाव नक़्क़ाशी के गुण की अपेक्षा बहुत अधिक होता है और वह एक प्रकार की मनोहरता और अद्भुतता को लिए हुए एक ऐसा प्रभाव उत्पन्न करता है जो कि भारतवर्ष के किसी मन्दिर में नहीं पाया जाता है"। (फर्ग्यूसन् पृष्ठ ३५८)

कांचीवरम वा काञ्ची के प्राचीन नगर में बहुत से मनोहर मन्दिर हैं जो कि प्रायः इतने बड़े हैं जितने कि अन्यत्र कहीं नहीं मिलते। कांचीवरम में एक बड़ा मन्दिर है जिसमें कि कई बड़े बड़े गोपुर और १००० खम्भों का एक दालान तथा उत्तम मंडप और बड़े बड़े तलाव हैं जिनमें सीढ़ियां भी हैं।

हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि दक्षिणी भारतवर्ष में विजयनगर में हिन्दुओं का अन्तिम प्रबल राज्य था और उसने अपनी स्वतंत्रता दो शताब्दियों से अधिक समय तक अर्थात् १३४४ से १५५६ ई० तक रक्षित रक्खी। यहां गृह निर्माण शिल्प तथा विद्या और वेदाध्यायन उन्नति की अवस्था में रहे और सारे भारतवर्ष में कठिनता से कोई ऐसा नगर है जिसमें कि हिन्दुओं की विद्या और उनके प्रताप के इस अन्तिम नगर की नाईं उसके चिन्ह इतने बहुतायत से वर्त्तमान हैं।

विटोप के मन्दिर का अगला भाग बड़ा ही सुन्दर और मनोहर है जो कि सारा कड़े पत्थरों से बना हुआ है और जिसकी खोदाई के काम में वह साहस और पराक्रम पाया जाता है जिसकी कि समानता इस प्रकार की इमारतों में और कहीं नहीं मिलती। बहुत से दूसरे मन्दिर और इमारतें भी बड़ी सुन्दर और विस्तृत पाई जाती हैं जो कि विजयनगर के राजाओं के अधिकार और उद्योग की शिक्षा देती हैं।

परन्तु इन राजाओं की सब से उत्तम इमारतें नगर में नहीं हैं वरन् विजयनगर के लगभग १०० मील दक्षिण पूर्व की ओर तरपुत्री नामक एक स्थान में है। यहां अब एक उजाड़ मन्दिर के दो गोपुर खड़े हैं जिनमें से एक तो पूरा

बन गया है और दूसरे का केवल खड़े भाग के ऊपर नहीं बना है। "यह समस्त खड़ा भाग बहुत ही उत्तम खोदाई के काम से ढका हुआ है यह एक सुन्दर ठोस पत्थर पर बहुत ही उत्तम गहराई और शुद्धता के साथ बनाया गया है, और इसका अन्य बनावटों से अधिक और सम्भवतः विशेष मनोहर प्रभाव होता है। (फरग्यूसन पृष्ठ ३७५)।

अब दक्षिणी जैनियों की इमारतों के विषय में हम देखते हैं कि उन्होंने प्रायः द्रविड़ ढंग को ग्रहण किया है जैसा कि उत्तरी जैनियों ने उड़ीसा के ढंग को ग्रहण किया था। चन्द्रगिरि पर्वत पर १५ मन्दिरों का समूह है। प्रत्येक मन्दिर के भीतर एक दालान है जिसके चारों ओर बरामदे हैं जिसके पीछे की ओर तीर्थंकर की प्रधान मूर्ति की कोठरी के ऊपर विमान उठा हुआ है।

मन्दिरों के सिवाय दक्षिणी जैनियों ने कई स्थानों पर पर्वताकार मूर्तियां बनवाई हैं जो कि उत्तर में पूर्णतया नहीं हैं। वे गौतम राजा की मूर्तियां कही जाती हैं और ऐसा अनुमान किया जाता है कि गौतम बुद्ध के राजकुमार वा राजा होने के कुछ अस्पष्ट स्मरण इन मूर्तियों के बनवाने के कारण हैं। इनमें से एक श्रावन बेलगुल में है जिसने कि वेलिंटन के ड्यूक सर ए वेलेसली साहब का ध्यान आकर्षित किया था जिस समय कि वे सेरिंगपटम को घेरने में एक सेना के सेनापति थे। यह ७० फीट ३ इंच ऊंची एक मूर्ति है और ऐसा समझा जाता है कि यह एक ठोस पहाड़ी को काटकर बनाई गई है जो कि पहिले इस स्थान पर थी। ईजिप्ट के सिवाय और कहीं ऐसा भारी और इतना प्रभाव

उत्पन्न करने वाला दृश्य नहीं है और ईजिप्ट में भी कोई मूर्ति इससे अधिक ऊंची नहीं है। (फर्ग्यूसन पृष्ट २६८)

दक्षिणी ढंग।

हम हिन्दू इमारतों के दो भिन्न ढंग के विषय में लिख चुके हैं अर्थात एक तो उड़ीसा वा उत्तरी भारतवर्ष का जो कि विंध्या पर्वत के उत्तर के देश में पाया जाता है, और दूसरा द्रविड़ का अथवा दक्षिणी भारतवर्ष का ढंग जो कि कृष्णा नदी के दक्षिण देश में पाया जाता है। परन्तु इनके सिवाय एक तीसरे प्रकार का ढंग भी है जिसे डाक्टर फर्ग्यूसन साहेब चालुक्य ढंग कहते हैं और जो विंध्या पर्वत और कृष्णा नदी के बीच में अर्थात् उस देश में जो कि दक्षिण कहलाता है, मिलता है। इसकी अभी पूरी तरह जांच नहीं की गई है, क्योंकि और देशों की अपेक्षा निज़ाम के राज्य में अभी कुछ भी खोज नहीं की गई है। इसके सिवाय यह भी सम्भव है कि वहां कई शताब्दियों तक बराबर मुसल्मानों का राज्य रहने के कारण बहुत ही कम प्राचीन हिन्दुओं की इमारतें बची होंगी। इस के जो नमूने विदित हैं, उनमें से सब से उत्तम मैसूर के राज्य में हैं जो कि यद्यपि कृष्णा के दक्षिण में है पर फिर भी वहां पर चालुक्य ढंग की वृद्धि हुई है।

इस ढंग की विशेषता यह है कि मन्दिरों का आकार बहुकुण वा तारे के रूप का होता है, दिवारें कुछ दूर तक सीधी उठती हैं, और तब ढालुआं होती हुई हैं एक बिंदु पर मिल जाती हैं।

हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि बल्लाल राजाओं ने मैसूर और कर्नाटक में सन् १००० से सन् १३१० ईस्वी तक सर्व प्रधान रह कर राज्य किया और इस वंश के राजाओं ने मन्दिरों के तीन अद्भुत समूह बनवाए हैं। इनमें से एक तो सोमनाथपुर में विनादित्य बल्लाल का बनवाया हुआ है, जो कि सन् १०४३ में राजगद्दी पर बैठा था। इस मन्दिर की ऊंचाई केवल ३० फीट है परन्तु उसकी विशेषता उसके वाह्य रूप की अद्भुत सुन्दरता और काम की बारीकी में है। दूसरा मन्दिर बैलूर में है जिसे विष्णुवर्द्धन ने १११४ ईस्वी के लगभग बनवाया था। उसमें प्रधान मन्दिरों के चारों ओर चार वा पांच अन्य मन्दिर तथा बहुत सी छोटी छोटी इमारतें हैं जो कि एक ऊंची दीवार से घिरी हुई हैं और उसमें दो उत्तम गोपुर हैं। इसकी २८ खिड़कियों में मूर्ति निर्माण विद्या का अद्भुत काम दिखलाया गया है। बल्लाल राजाओं का तीसरा और अन्तिम मन्दिर हुल्लाबिड में है। इस मन्दिर को जिसे कि कैटईश्वर का मन्दिर कहते हैं, सम्भवतः इस वंश के पांचवें राजा विजय ने इसे बनवाया था। "नींव से लेकर सिरे तक वह भारतवर्ष के सब से उत्तम श्रेणी के खुदाई के काम से ढका हुआ है और ये इस प्रकार से बनए गए हैं कि वे इमारत के वाह्य रूप में कोई विशेष हस्तक्षेप नहीं करते वरन् उसे ऐसी शोभा देते हैं जो कि केवल हिन्दू शिल्प के नमूनों में पाई जाती है। यदि इस मन्दिर का संपूर्ण चित्र देना सम्भव होता तो सम्भवतः भारतवर्ष में और कोई ऐसी वस्तु नहीं होती जिससे कि

उसके बनाने वालों की योग्यता का अधिक परिचय मिलता" (फरग्यूसन पृष्ठ ७३१)।

परन्तु कैटईश्वर के मन्दिर से अधिक उत्तम उसके निकट का हुल्लाविड का बड़ा दोहरा मन्दिर है। यदि यह दोहरा मन्दिर पूरा बन गया होता तो यह एक ऐसी इमारत होती जिस पर कि डाक्टर फरग्यूसन साहेब के कथनानुसार, हिन्दू गृहनिर्म्माण विद्या के प्रशंसक अपनी स्थिति लेना चाहते। परन्तु दुर्भाग्य वश यह इमारत समाप्त न हो सकी। ८६ वर्ष तक यह बनती रही परन्तु इसके उपरान्त सन् १३१० ई० में मुसल्मानों की विजय ने इसका बनना रोक दिया।

"निस्सन्देह इतने पेचीले और इतने भिन्न भिन्न प्रकार के नमूनों का दृष्टान्त के द्वारा समझाना असम्भव है। यह इमारत पांच वा छ फीट ऊंचे एक चबूतरे पर है जिसमें कि बड़े बड़े पत्थर की पटिया लगी हैं। इस चबूतरे के ऊपर हाथियों की एक पंक्ति खुदी है जो कि लगभग ७१० फीट लम्बी है और उसमें २००० हाथियों से कम नहीं हैं और उनमें से अधिक पर साज तथा सवार भी इस भांति खुदे हुए हैं जैसा कि केवल पूर्व देश वासी इन्हें बना सकते हैं। उनके ऊपर शार्दूलों अर्थात् कल्पित सिंहों की पंक्ति है जो कि उस मन्दिर को बनाने वाले होइशल बल्लालों का राज्यचिन्ह है। इसके उपरान्त बड़े सुन्दर चित्र विचित्र बेल बूटों का काम है, उसके ऊपर घोड़सवारों की पंक्ति और दूसरे बेल बूटों का काम है और उसके ऊपर रामायण के दृश्य यथा लंकाविजय तथा अन्य भिन्न घटनाओं के

दृश्य खुदे हुए हैं। यह भी पहिले मन्दिर की नांई ७०० फीट लम्बा है इसके उपरान्त स्वर्ग के पशु और पक्षियों की मूर्तियां हैं और पूरब ओर बराबर मनुष्यों के झुण्ड की पंक्ति है और फिर कटघरे के सहित एक कार्निस है जिसमें कि बराबर खाने हैं जिनमें से प्रत्येक खाने में दो मूर्तियां हैं। इनके ऊपर जालीदार पत्थर की खिड़कियां हैं जो कि बेलूर के मन्दिर की नाईं हैं यद्यपि उनमें इतना अधिक और इतने भिन्न भिन्न प्रकार का काम नहीं है, मध्य में खिड़कियों के स्थान पर पहिले बेल बूटे हैं और उसके उपरान्त देवताओं और स्वर्ग की अप्सराओं तथा हिंदू कथाओं की अन्य बातों की पंक्ति है । यह पंक्ति जो कि साढ़े पांच फीट ऊंची है इमारत के संपूर्ण पश्चिमी ओर भी है तथा उसकी लम्बाई ४०० फीट के लगभग है इसमें शिव तथा उसके जांघ पर उसकी पत्नी पार्वती की मूर्ति कम से कम १४ बार दी गई है। विष्णु के नवों अवतार की भी इसमें मूर्तियां हैं । ब्रह्मा की तीन वा चार मूर्तियां हैं और इसमें हिन्दुओं की कथाओं के प्रत्येक देवता दिए हैं। इनमें से कुछ मूर्तियों में ऐसा महीन काम है कि उसका चित्र केवल फोटोग्राफ के द्वारा लिया जा सकता है और सम्भवतः वह धैर्य्यमान पूरब में भी मनुष्यों के परिश्रम का सब से अद्भुत नमूना समझा जा सकता है"। (फरग्यूसन पृष्ठ ४७१)

हमने डाकृर फरग्यूसन साहेब के ग्रन्थ से अपने पाठकों को उन खुदाई के अद्भुत कामों से परिचय दिलाने के लिये इन बड़े बड़े वाक्यों को उद्धृत किया है जिसके विषय में कि हमने प्रायः प्रत्येक मन्दिर और विमान, दालानदे और

गोपुर का वर्णन करने में इतनी बार उल्लेख किया है। हिन्दू मन्दिर में यदि उत्तम नक्काशी और सुन्दर काम बहुतायत से न हो तो वह कुछ नहीं है और यही अद्भुत और अनन्त बेल बूटों और खुदाई का काम उड़ीसा और राजपूताना से लेकर मैसूर और रामेश्वरम तक भारतवर्ष के प्रत्येक मन्दिर में पाया जाता है। अब हम हेलेबिड के मन्दिरों की सुन्दर नक्काशी के विषय में अपने उसी ग्रंथकर्ता की कुछ विचारशील बातों को उद्धृत करके इस अध्याय को समाप्त करेंगे जिसके वाक्यों को कि हमने इस अध्याय में इतनी अधिकता से उद्धृत किया है।

"यदि ह्यूलेबिड के मन्दिर का इस प्रकार से दृष्टान्त देकर समझाना सम्भव होता कि हमारे पाठक उसकी विशेषता से परिचित हो जाते तो उसमें तथा एथेंस के पार्थीनान में समानता ठहराने में बहुत ही कम वस्तुएं इतनी मनोरंजक और इतनी शिक्षाप्रद होतीं। यह बात नहीं है कि ये दोनो इमारतें एक सी हैं वरन इसके विरुद्ध वे गृहनिर्म्माण विद्या के दोनों ओर के अन्तिम सिरे हैं परन्तु वे अपनी अपनी श्रेणी के सब से उत्तम नमूने हैं और इन दोनों सिरों के बीच गृहनिर्म्माण करने की समस्त विद्या है।

"पार्थीनान गृहनिर्म्माण करने की शुद्ध उत्तम बुद्धि का सब से उत्तम नमूना है जो कि हमें अब तक विदित है। उसका प्रत्येक भाग और प्रत्येक वस्तु गणित की ऐसी शुद्धता और बड़ी कारीगरी के साथ बनाई गई है जिसकी बराबरी कभी नहीं हो सकती। उसके पत्थर का काम उसके निर्माण को पूर्णता पर पहुंचाने के लिये बहुत उत्तमता से

किया गया है जो कि बड़ा दृढ़ और देवताओं सा है और उसमें मनुष्यों के नीच विचार कहीं देखने में नहीं आते।

"ह्यूलेबिड का मन्दिर इन सब बातों में विरुद्ध है वह समकोण है परन्तु उसके वाह्य रूप भिन्न भिन्न प्रकार के है तथा उसको विशेष बनावट में और भी अधिक भिन्नता है। पार्थीनान के सब खम्भे एक से हैं। परन्तु भारतवर्ष के इस मन्दिर के कोई दो भी एक से नहीं हैं, प्रत्येक बेल का प्रत्येक घुमाव जुदी जुदी भाँति का है। सारी इमारत में कोई दो मंडप एक से नहीं हैं और प्रत्येक में कारीगरी की बाधाओं को लज्जित करती हुई, आनन्द देने वाली कल्पना की अधिकता देखने में आती है। मनुष्यों के धर्म्म की सब निगढ़ बातें तथा मानवी विचार की सब बातों के चित्र इन दीवारों में अङ्कित पाए जाते हैं। परन्तु इनमें शुद्ध बुद्धि की बहुत ही थोड़ी बातें हैं अर्थात् पार्थीनान में जो मानवी विचार पाए जाते हैं उनसे बहुत थोड़ी बातें इसमें पाई जाती हैं।

हमारे लिये भारतवर्ष के इन नमूनों का अध्ययन इस कारण बड़ा उपयोगी है कि उसमें गृहनिर्माण विद्या के गुणदोष के विषय में हमारे ज्ञान की वृद्धि होती है। हम लोग जिन रूपों से अब तक परिचित हैं उनसे इतने विपरीत रूपों को जानने से हम यह देख सकते हैं कि जो लोग एक ही रूप वा एक ही रीति से संतुष्ट हैं वे कितने परिमित हैं। इस विस्तृत दृष्टि से हमें यह देख पड़ेगा कि गृहनिर्माण विद्या भी इतनी ही भिन्न भिन्न भांति की हो सकती है जितने भिन्न भिन्न मनुष्यों के हृदय वा मस्तिष्क

कितने थोड़े ऐसे विचार और ऐसी कामनाएं हैं जो कि शिल्प के द्वारा प्रगट न की जा सकें। (फरग्यूसन पृष्ठ ४७३)

इन विचार शील तथा गृह निर्माण विद्या के सम्बन्ध में दार्शनिक बातों से इतिहास जानने वालों के स्वभावतः कुछ विचार मिलते हैं। क्या कारण है कि भारतवर्ष के गृह-निर्माण विद्या में "शुद्ध बुद्धि" का अभाव प्रगट होता है जैसा कि डाक्टर फरग्यूसन साहब कहते हैं? और फिर क्या कारण है कि उसी गृह निर्माण विद्या में आनन्द देनेवाली कल्पना की इतना अधिकता तथा "पवित्र विचार" अर्थात लाखों जीवधारियों को उनके सब नम्र विचार आशा और भय के भावों को, उनके नित्य के व्यवसायों को, उनके युद्ध और विजय को, उनके परिश्रम और पश्चात्ताप को, तथा उनके पापों को भी अपने मन्दिरों में चित्रित करने की इतनी प्रबल कामना पाई जाती है?

पहिले प्रश्न का उत्तर सहज है। कपिल और कालीदास की भूमि में "शुद्ध बुद्धि" का अभाव नहीं था परन्तु दुर्भाग्य वश उच्चश्रेणी के लोगों में शारीरिक परिश्रम के व्यवसायों को करने की अरुचि थी। और जब जाति भेद एक बार पूरी तरह से स्थापित होगया तो शारीरिक परिश्रम न करने की यह रुचि ऊंची जातियों का एक नियम होगया। विचारशील लोगों अर्थात् क्षत्रियों और ब्राह्मणों के लिये खुदाई का व्यवसाय करना असम्भव हो गया और इस प्रकार इस उत्तम शिल्प से उच्चश्रेणी के बुद्धवाले लोग सदा के लिये छूटे रहगए। शिल्प करने वाली जातियों में गूढ़ की शिक्षा की यह अद्भुत चतुराई थी जो कि हिन्दुओं के सब

प्रकार की कारीगरी में विशेष रूप से पाई जाती है, और उन्होंने कारीगरी में वह सुगमता प्राप्त की जो कि सैंकड़ों वर्ष के अनुभाव से होती है। उनके लिये कोई परिश्रम का भी यत्न करना इतना बड़ा कार्य्य नहीं था जो कि न हो सके। किसी प्रकार का भी सूक्ष्म वा परिश्रम का काम ऐसा नहीं था, जिन्हें कि वे न कर सकें परन्तु फिर भी हिन्दू काल के अन्त तक वे लोग केवल शिल्पकार अर्थात् निपुण कारीगरों के वंशज बने रहे और इसके सिवाय उन्होंने और किसी विषय में उन्नति न की। पुजेरियों तथा राजाओं की आज्ञा से उन्होंने जिन अद्भुत इमारतों से भारतवर्ष को भर दिया है वे किसी उच्च बुद्धि के विचार वा किसी आविष्कारक बुद्धि के नमूने की अपेक्षा बड़े परिश्रम तथा सूक्ष्म और अनन्त कारीगरी के लिये अधिक प्रसिद्ध हैं। और उन हजारों मनुष्यों और स्त्रियों की सुन्दर मनोहर और स्वाभाविक मूर्तियों में जिन्हें कि प्रकृति के ध्यान पूर्वक अवलोकन ने इन शिल्पकारों को प्रत्येक मन्दिर और बरामदों के पत्थरों में खोदना सिखलाया था, हमारा उस उच्चश्रेणी की बुद्धि का खोजना व्यर्थ है, जो कि ग्रीस और रोम की संगमर्मर की मूर्तियों में पाई जाती है। फीडिअस और मैकेल एञ्जलो के ऐसे शिल्पकारों का होना असम्भव था।

दूसरे प्रश्न के उत्तर के लिये हमें इनसे अधिक गूढ़ कारण खोजने पड़ेंगे। केवल ग्रीस के मन्दिरों में ही नहीं वरन यूरप के मध्य समय के तथा आज कल के गिरजों के लिये धर्म्म सम्बन्धी विषय और नमूने ही उपयुक्त समझे गए हैं। प्राटेस्टेण्ट जातियों के गिरजों की खिड़कियों को

ईसामसीह के चरित्र तथा अन्य पवित्र विषय के चित्र सुशोभित करते हैं और केथोलिक गिरजों को मसीह और उनकी माता की तथा पीरों और धार्म्मिक मनुष्यों की संगमर्मर की मूर्तियां सुशोभित करती हैं। भारतवर्ष में देवताओं के असंख्य मन्दिरों में भी मूर्तियां खोदी हुई हैं परन्तु वे केवल देवताओं और देवियों की मूर्तियां ही नहीं हैं वरन समस्त सृष्टि के जीवधारी तथा निर्जीव वस्तुओं की भी हैं, जैसे मनुष्यों और स्त्रियों की, उनके नित्य के कार्य्य, उनके युद्धों विजयों और बारातों की, हवा में रहने वाले और कल्पित प्राणियों तथा गन्धर्वों और अप्सराओं की, घोड़ों सांपों पक्षियों हाथियों और सिंहों की, वृक्षों और लताओं की तथा अन्य अन्य प्रकार की अर्थात् उन सब वस्तुओं की जिन्हें कि शिल्पकार सोच सकता था वा जो उसके शिल्प द्वारा दिखलाई जा सकती थीं।

हिन्दुओं के लिये यह प्रश्न अपनी ही व्याख्या प्रगट करता है। यूरोप में धर्म्म के विचार का सम्बन्ध ईश्वर के प्रताप और ईसा मसीह की शिक्षाओं तथा गिरजों के उपदेश और धार्म्मिक कार्य्यों से है। हिन्दुओं के लिये उनके जीवन के सब छोटे छोटे कार्य्य भी उनके धर्म के भाग हैं। केवल नीति शिक्षा ही नहीं वरन सामाजिक और गृहस्थी के नियम, खाना पीना और मनुष्यों तथा प्राणियों के साथ व्यवहार करना भी उनके धर्म्म में सम्मिलित है। यह धर्म्म ही है जो कि उनके योधाओं को लड़ने के लिये, विद्वानों को अध्ययन और विचार करने के लिये, शिल्पकारों को अपना व्यवसाय करने के लिये और सब मनुष्यों के वा-

स्पर आचरण के लिये शिक्षा देता है। उपनिषदों में उत्तर काल के सब धार्म्मिक ग्रन्थों में स्वयं ब्रह्मन का ज्ञान है, सर्वव्यापक जगत में सभों की उत्पत्ति उसीसे हुई है, और सब उसीमें लीन हो जाते हैं। प्राचीन धर्म्मशास्त्रों में स्वयं धर्म्म शब्द का अर्थ आधुनिक धर्म्म से ही नहीं वरन मनुष्यों के कर्तव्य और मनुष्यों के जीवन के सब व्यवसाय उद्योग और प्रति दिन के कार्य्यों से है। अध्ययन, व्यवसाय और वाणिज्य को धर्म्म नियमानुसार चलाता है, धर्म्म खाने पीने और जीवन के सुखों के नियम निश्चित करता है, धर्म्म दीवानी और फौजदारी के नियमों और पैत्राधिकार के नियमों को निश्चित करता है, धर्म्म इस लोक में मनुष्य, और पशु बनस्पतियों पर तथा ऊपर के लोक में देवताओं और ऋषियों पर प्रभुत्व करता है। यह शब्द ऐसा नानार्थक है कि वह निर्जीव वस्तुओं के गुणों को भी प्रगट करता है, अग्नि का धर्म्म ही जलना है, वृक्षों का धर्म्म ऊगना है, और जल का धर्म्म सब से नीचे स्थान को खोजना है। और यद्यपि आज कल के हिन्दुओं का उनके पूर्वजों के विचार से बहुत ही परिवर्तन होगया है, तथापि अब तक भी कट्टर और धार्म्मिक हिन्दुओं का समस्त जीवन उन नियमों और विधानों के द्वारा चलता है, जिसे कि वे अपना धर्म्म समझते हैं, अर्थात् राजनैतिक, सामाजिक और गृह्य जीवन के प्रत्येक कार्य्य और प्रत्येक शब्द के नियम। धर्म्म विषय और सांसारिक विषय का भेद हिन्दुओं में नहीं है। आचरण का प्रत्येक नियम हिन्दुओं के धर्म्म का अंश है।

धर्म्म के सम्बन्ध में ऐसा विचार होने के कारण हिन्दुओं ने इन विचारों को अपनी इमारतों और खुदाई के काम में चित्रित करने का यत्न किया। मन्दिरों की पवित्र सीमा से कोई वस्तु भी, मजदूरों का नित्य का नीचे से नीचा व्यवसाय भी अथवा शोक, दुःख, और पाप भी वंचित नहीं रखा गया। सारी सृष्टि उस देवता से उत्पन्न हुई है, जिसके लिये कि मन्दिर बनवाए जाते थे, और जहां तक उनकी चतुराई और अविश्रांत परिश्रम से हो सकता था वे इन मन्दिरों पर सृष्टि को चित्रित करने का यत्न करते थे। ऊंच और नीच, बुद्धिमान और निर्बुद्धि, जीवधारी और निर्जीव अर्थात् समस्त संसार अपने हर्ष और दुःख के सहित हिन्दू धर्म्म के विचार में सम्मिलित है, और हिन्दुओं ने इस सर्वव्यापी विचार को अनुभव करके अपने परिश्रम और अपने धर्म्म के चिरस्थायी स्मारक पर सब सृष्टि को चित्रित करने का यत्न किया।

——:o:——

अध्याय १०

ज्योतिष बीजगणित और अंकगणित।

कोलब्रूक साहब यूरोप के पहिले ग्रन्थकार हैं, जिन्होंने हिन्दू बीजगणित अंकगणित और ज्योतिष के विषय की पूरी खोज की है, और उनके समय से लेकर आज तक किसी ग्रन्थकार ने अधिक सावधानी से और पक्षपात रहित होकर इस विषय में कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है यद्यपि उनके पीछे के विद्वानों ने इस विषय पर कई बार विचार किया है। अतएव हम हिन्दू बीजगणित के विषय में कोलब्रूक साहेब के उन विचारों को उद्धृत करने के लिये क्षमा नहीं मांगेगे, जिनको लिखे हुए कि ७० वर्ष के ऊपर होगया है।

"युनानियों ने इस शास्त्र के मूल तत्वों को जिस शताब्दी में सीख लिया उसके उपरान्त की ही शताब्दी में हिन्दुओं ने इसमें विशेष उन्नति प्राप्त कर ली थी। हिन्दुओं को गणित के अंकों को लिखने की उत्तम रीति का लाभ था परन्तु युनानियों को इसका अभाव था। बीजगणित अंकगणित के प्राय: सामान होने के कारण जहां अंकगणित की सब से उत्तम रीति प्रचलित थी वहां बीजगणित के कलन का आविष्कार भी अधिक सहज और स्वाभाविक हुआ, हिन्दु और डिओफैंटी प्रणालियों में कोई ऐसी स्पष्ट समानता नहीं देखी जाती कि जिससे उनका सम्बन्ध प्रमाणित हो। उनमें इस विचार की पुष्टि करने के लिये काफी भेद है, कि ये दोनों प्रणालियां एक दूसरे से स्वतंत्र रीति पर बनाई गई हैं।

"परन्तु यदि यह कहा जाय कि हिन्दुओं के इस विषय के ज्ञान का बीज एलेक्ज़ेंड्रिया के युनानियों से स्वयं अथवा बैक्ट्रिया के युनानियों द्वारा प्राप्त हुआ तो उसके साथ यह भी स्वीकार करना होगा कि एक बहुत ही निर्बल बीज ने भारतवर्ष में बहुत ही शीघ्र बढ़ कर सम्पूर्णता की उन्नत अवस्था को प्राप्त कर लिया"।

इसी ग्रन्थकार के हिन्दू ज्योतिष के सम्बन्ध के विचार भी वैसे ही ध्यान देने योग्य हैं। "हिन्दुओं ने समय को निश्चित करने के लिये जो ज्योतिष शास्त्र बनाया था उसमें निस्सन्देह बहुत प्राचीन समय में ही कुछ उन्नति करली थी। उनके सामाजिक और धर्म्म सम्बन्धी पञ्चाङ्ग मुख्यत: चन्द्रमा और सूर्य्य के अनुसार होते थे परन्तु केवल इन्हीं के अनुसार नहीं थे, और उन लोगों ने चन्द्रमा और सूर्य्य की गति को ध्यान पूर्वक जान लिया था, और ऐसी सफलता प्राप्त की कि उन्होंने चन्द्रमा का जो युति भगण निश्चित किया है जिससे कि उनका विशेषत सम्बन्ध था, वह युनानियों की अपेक्षा बहुतही शुद्ध है। उन्होंने क्रान्ति वृत्त को २७ वा २८ भागों में बांटा है जो कि स्पष्ट चन्द्रमा के दिन की संख्या से जाना गया है और यह सिद्धान्त तो उन्हीं का निर्माण किया हुआ जान पड़ता है निस्सन्देह अरब के लोगों से लिया गया था। स्थिर तारों को देखने के कारण उन्हें उनमें से सबसे प्रसिद्ध तारों की स्थिति का ज्ञान हुआ और धर्म्म सम्बन्धी कार्य्यों के लिये तथा मिथ्या विश्वास के कारण उन्होंने इन तारों के सूर्य्य के साथ उदय होने को तथा अन्य बातों को जाना।

अन्य तत्वों के साथ सूर्य्य, ग्रहों तथा नक्षत्रों की पूजा उनके धर्म्म सम्बन्धी परिज्ञान में एक मुख्य बात थी जिसका उपदेश वेदों में किया गया है, और वे धर्म्म के कारण इन नक्षत्र आदि को निरन्तर ध्यानपूर्वक देखने के लिये बाध्य हुए। वे सबसे भड़कीले मुख्य ग्रहों से विशेष परिचित थे और उन्होंने अपने पवित्र और सामाजिक पञ्चाङ्ग के निश्चित करने में सूर्य्य और चन्द्रमा के सहित वृहस्पति का काल ६० वर्षों के प्रसिद्ध चक्र के रूप में रक्खा है"।

जब कि हिन्दू ज्योतिष शास्त्र वेदों से इतना प्राचीन है तो इसमें बहुत कम सन्देह हो सकता है कि सन ईस्वी के उपरान्त इस शास्त्र ने युनानियों के द्वारा बहुत कुछ उन्नति प्राप्त की। हम अन्तिम कांड में देख चुके हैं कि बौद्ध काल के सिद्धान्त युनानियों के ज्योतिष शास्त्र के बहुत अनुगृहीत हैं।

उदाहरण के लिये सूर्य्य सम्बन्धी राशिचक्र को हिन्दुओं ने निस्सन्देह यूनानियों से पाया है। हिन्दुओं के राशि चक्र के बारह भाग करने से और प्रत्येक भाग को उन्हीं पशुओं के चित्रों से अंकित होने के तथा उन्हीं अर्थ के नामों से पुकारने से जैसा कि यूनानी लोग करते थे इसमें बहुत कम सन्देह रह जाता है कि सन ईश्वी के उपरान्त हिन्दुओं ने के ज्योतिष शास्त्र की बातें ली।

आर्य्यभट्ट पौराणिक काल में बीजगणित तथा ज्योतिष शास्त्र का पहिला हिन्दू ग्रन्थकार हुआ। उसका जन्म सन् ४७६ ईस्वी में हुआ जैसा कि वह स्वयं कहता है। उसने आर्य्यभट्टीय ग्रन्थ लिखा जिसमें कि गीतिका पाद, गणित पाद, कालक्रिया पाद और गोल पाद हैं।

इस ग्रन्थ को अब डाक्टर कर्न साहब ने प्रकाशित किया है और इसमें इस ज्योतिषी ने पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने के सिद्धान्त तथा सूर्य्य और चन्द्र ग्रहणों के सच्चे कारण का साहस के साथ समर्थन किया है। आर्य्यभट्ट कहता है "जिस प्रकार किसी नौका में बैठा हुआ मनुष्य आगे बढ़ता हुआ स्थिर वस्तुओं को पीछे की ओर चलता देखता है उसी प्रकार तारे भी यद्यपि वे अचल हैं तथापि नित्य चलते हुए दिखाई पड़ते हैं।" जान पड़ता है कि ग्रहण के सम्बन्ध में आर्यभट्ट की बातें उसके समकालीनों को विदित थीं क्योंकि हम कालिदास के रघुवंश की (१६, ४०) एक उपमा में इस अविष्कार का उल्लेख पाते हैं जिसमें उसने कहा है कि "जो वस्तु वास्तव में पृथ्वी की छाया है उसे लोग चन्द्रमा की अपवित्रता समझते हैं।" गोल-पाद में आर्य्यभट्ट ने सौर राशिचक्र के बारहों भाग के नाम दिए हैं। आर्य्यभट्ट ने पृथ्वी की परिधि की जो गणना की है (चार चार कोसों के ३३०० योजन) वह लगभग ठीक है।

आर्य्यभट्ट का जन्म प्रतापी अशोक की प्राचीन राज-धानी पाटलिपुत्र में हुआ था और उसने छठीं शताब्दी के प्रारम्भ में अपने ग्रन्थ लिखे हैं। इस शताब्दी में विद्या की उन्नति केवल उज्जयिनी ही में परिमित नहीं थी, यद्यपि इस नगर ने प्रतापी विक्रमादित्य के कारण बहुत कुछ प्रसिद्धि पाई थी।

आर्य्यभट्ट का उत्तराधिकारी वराहमिहिर अवन्ती का एक बड़ा पुरुष था। उसका जन्म अवन्ती में हुआ था और वह आदित्य दास का पुत्र था जो कि स्वयं भी ज्यो-

तिषी था। डाक्टर हंटर तथा एलबेरुनी ने उज्जयिनी की जो सूची सङ्कलित की है उसमें बराहमिहिर का समय सन् ५०५ ईस्वी दिया है और यह सम्भवत: उसके जन्म का समय है। हम पहिले कह चुके हैं कि विक्रम की सभा के "नवरत्नों" में एक यह भी था और डाक्टर भाऊदाजी ने उसकी मृत्यु का समय सन् ५८७ ई० निश्चित किया है।

उसने अपनी प्रसिद्ध पञ्चसिद्धान्तिका में पांच प्राचीन सिद्धान्तों अर्थात् पौलिश, रोमक, वसिष्ठ, सौर और पैतामह सिद्धान्तों को सङ्कलित किया है। हम इन सिद्धान्तों के विषय में इस पुस्तक के पिछले कांड में लिख चुके है।

बराह-मिहिर 'वृहत् संहिता" नामक ग्रन्थ का भी रचयिता है जिसे कि डाक्टर कर्न साहब ने सम्पादित किया है। ग्रन्थ में भिन्न भिन्न विषयों पर पूरे १०६ अध्याय हैं। पहिले बीस अध्यायों में सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी और ग्रहों का विषय है, २१वें से २९वें अध्याय तक वृष्टि, हवा, भूडोल, उल्का, इन्द्रधनुष, आंधी, बज्र इत्यादि का विषय है, ४० से ४२ तक ग्रहों और बनस्पति का तथा भिन्न ऋतु में मिलने वाली व्यापार की सामग्रियों का विषय है, अध्याय ४३ से ६० तक बहुत सी फुटकर बातों का तथा घर बनाने, बगीचे, मन्दिर, मूर्ति इत्यादि का विषय है, अध्याय ६१ से ७८ तक में भिन्न भिन्न पशुओं और मनुष्यों तथा स्त्रियों इत्यादि को विषय है, अध्याय ७९ से ८५ तक रत्न और असबाव इत्यादि का विषय है, अध्याय ८६ से ९६ तक सब प्रकार के सगुन का विषय है और ९७ से १०६ तक बहुत से विषयों का वर्णन है जिनमें विवाह राशिचक्र के भाग इत्यादि भी सम्मिलित हैं।

है। शाक्य तथा नंगे जैनी परम दयालु और शान्त हृदय-वाले देवता (बुद्ध) की पूजा करते हैं। " प्रत्येक पंथ के लोगों को अपने अपने देवता की पूजा अपने पंथ के नियमानुसार करनी चाहिए। " इन वाक्यों से छठीं शताब्दी का विरोधी भाव प्रमाणित होता है। शङ्कराचार्य्य के उपरान्त का कोई हिन्दू देवताओं की सूची में बुद्ध के "परम दयालु" और " शान्त हृदय " होने का वर्णन नहीं करेगा। इसके उपरान्त की शताब्दी में ब्रह्मगुप्त ने अपना ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त नामक ग्रन्थ (६२८ ई० में) लिखा। इस ग्रन्थ में २१ अध्याय हैं। पहिले १० अध्यायों में ज्योतिष की प्रणाली का वर्णन है जिसमें ग्रहों के स्थानों, सूर्य्य और चन्द्रग्रहण की गणना, चन्द्रमा के स्कन्धों की स्थिति, ग्रहों और नक्षत्रों इत्यादि का उल्लेख है। इसके उपरान्त के १८ वां अध्याय विषय पूरक हैं और अन्तिम अध्याय में स्फेरिक्स के विषय के लेख में ज्योतिष की प्रणाली का वर्णन किया है। १२ वें और १८वें अध्यायों का कोलब्रूक साहब ने अनुवाद किया है।

ब्रह्मगुप्त के उपरान्त अन्धकार और राजकीय उलट फेर का समय आया। जब इस समय की समाप्ति होकर भारतवर्ष में राजपूतों का अधिकार समाप्त हुआ उस समय एक दूसरा गणितज्ञ हुआ। प्रसिद्ध भास्कराचार्य्य का जन्म जैसा कि वह स्वयं कहता है सन १११४ ई० में हुआ और उसने सिद्धान्तशिरोमणि नाम का बड़ा ग्रन्थ सन ११५० ई० में समाप्त किया। एस ग्रन्थ के आरम्भ के भाग बीजगणित और लीलावती (अङ्क गणित) हैं और इनका अनुवाद कोलब्रूक साहब ने किया और गोलीय त्रिकोणमिति पर

गोलाध्याय के अंश का विलकिन्सन साहब ने अनुवाद किया है और उसे प्रसिद्ध गणितज्ञ पण्डित बापूदेव शास्त्री ने शोधा है।

भास्कराचार्य के ग्रन्थ में अद्भुत प्रश्नों के विवरण हैं जो कि यूरप में १७ वीं और १८ वीं शताब्दी तक नहीं प्राप्त हुए थे। * बीजगणित ने निस्सन्देह भारतवर्ष में एक अद्भुत उन्नति प्राप्त की थी। बीजगणित की ज्योतिष संबन्धी खोज और रेखागणित सम्बन्धी प्रमाणों में प्रयोग करना हिन्दुओं का विशेष आविष्कार है और जिस रीति से वे उनका प्रयोग करते थे उसने आजकल के यूरोप के गणितज्ञों की प्रशंसा प्राप्त की है।

---

* य को निकालना जिसमें अ य^2 + १ एक वर्ग संख्या हो, इस प्रश्न को हल करने के विषय में एक अद्भुत कथा कही जाती है। फ़ेर्मेट ने इस प्रसिद्ध प्रश्न को हल करने के सम्बन्ध में कुछ उन्नति की और उसने १७ वीं शताब्दी में इस प्रश्न को अंग्रेजी बीजगणितज्ञों के पास हल करने के लिये भेजा। अन्त में यूलर ने इसको हल किया और उसने उसी प्रणाली को प्राप्त किया जिसे कि भास्कर ने सन् ११५० ई० में प्राप्त किया था। भास्कर ने एक दूसरे प्रश्न को एक विशेष रीति से हल किया है और यह ठीक वही रीति है जिसे कि योरप में लार्ड ब्रौंकर साहब ने सन् १६५७ ई० में आविष्कृत किया था, और इसी प्रश्न का हल जिसे ब्रह्मगुप्त ने [illegible] शताब्दी में किया है उसके हल करने का [illegible] साहब ने किया था और उसे [illegible] सन् १७६७ ई० में [illegible] साहब ने पूरा किया। [illegible]

जब कि भारतवर्ष में ज्योतिष शास्त्र, बीजगणित और अङ्कगणित की इतनी उन्नति हुई तो रेखागणित के शास्त्र का लोप हो गया । हिन्दुओं ने ईसा के पहिले आठवीं शताब्दी में रेखागणित के मूल नियम निकाले थे और उन्होने उसे यूनानियों को सिखलाया था; परन्तु जब रेखागणित के नियमों के अनुसार वेदियों के बनाने का प्रचार उठ गया तो रेखागणित पर ध्यान नहीं दिया गया और रेखागणित सम्बन्धी प्रश्न बीजगणित के द्वारा हल किए जाने लगे ।

अरबी ग्रन्थकारों ने ईसा की आठवीं शताब्दी में हिन्दुओं के बीजगणित के ग्रन्थों का अनुवाद किया और पिसा देश के लियोनार्डो ने पहिले पहिल आधुनिक यूरोप को इस विद्या से परिचित कराया। त्रिकोणमिति में भी हिन्दू लोग संसार में सब से प्राचीन गुरू जान पड़ते हैं और गणित शास्त्र में उन्होंने उस दशमलव की प्रणाली को निकाला जिसे कि अरब लोगों ने उनसे उद्धृत करके यूरोप में सिखलाया और जो कि आजकल मनुष्य जाति की सम्पत्ति हो गई है ।

अध्याय ११।

वैद्यक

दुर्भाग्यवश भारतवर्ष के अन्य शास्त्रों की अपेक्षा हिन्दुओं के वैद्यक शास्त्र पर पहिले के पुरातत्ववेत्ताओं ने बहुत कम ध्यान दिया है और आजतक भी इस विषय में जो बातें संगृहीत की गई हैं वे पूर्ण नहीं हैं। सन् १८२३ ई० में प्रोफेसर यच यच विल्सन साहब ने "ओरि-एन्टल मेगेज़ीन" में हिन्दू ओषधियों और वैद्यक शास्त्रों की एक संक्षिप्त आलोचना प्रकाशित की। पश्चिमी यात्री और विद्वान सोमा-डी-कोरस ने सन् १८३५ ई० के जनवरी के एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में हिन्दू वैद्यक सिद्धान्तों का तिब्बत भाषा के अनुवादों के अनुसार वर्णन दिया था। हिन और एंस्ली साहबों ने भी हिन्दुओं के वैद्यक शास्त्र के विषय में बहुत सी बातें एकत्रित कीं। और सन् १८३७ ई० में लन्दन के किंगस कालेज के डाक्टर रॉयल ने उपरोक्त ग्रन्थों की सब बातों को लेकर इस विषय में अपने अनुसन्धान के साथ हिन्दू वैद्यक शास्त्र के पुरातत्व पर अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रकाशित किया। हमारे प्रसिद्ध देशभाई मधुसूदन गुप्त ने जिसने कि पहिले पहिल शव को काटने के विरुद्ध [illegible] के मिथ्या विचारों को दूर किया और जो कलकत्ते के मेडि-कल कालेज में शरीर चीरने की विद्या का प्रोफेसर था हिन्दुओं के प्राचीन सुश्रुत नामक ग्रन्थ को प्रकाशित किया और यह प्रमाणित किया कि प्राचीन हिन्दुओं को [illegible] शास्त्र सम्बन्धी उद्योग के विरुद्ध कोई मिथ्या विचार नहीं [illegible] पहिले [illegible]

व्यवहार में थे सन् १८४५ ई० में हिन्दुओं की प्राचीन वैद्यक प्रणाली के विषय में एक पुस्तक प्रकाशित की और इसके उपरान्त उसने वैद्यक शास्त्र के इतिहास पर अपनी आलोचना में जो कि लन्दन में सन १८६८ ई० में छापी गई थी इस विषय को अधिक योग्यता और पूर्णता के साथ लिखा है। उस समय से इस विषय ने हमारे देशवासियों का अधिक ध्यान आकर्षित किया है और हमारे देशहितैषी वैद्य अविनाश चन्द्र कविरत्न अब चरक और सुश्रुत का टीका के सहित एक बहुमूल्य संस्करण प्रकाकित कर रहे हैं।

यूरोप में हिन्दू वैद्यक शास्त्र का पुरातत्त्व अभी तक साधारणतः विदित नहीं हो गया है और आर्य्यों की सब सभ्यता की उत्पति युनानियों से खोजने की आदत ने पक्षपात रहित खोज को अब तक रोक रक्खा है। डाक्टर वाइज़ साहब का यह कथन ठीक है कि "वैद्यक शास्त्र के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध की बातें केवल यूनान और रोम के ग्रन्थकारों में खोजी गई हैं और वे उस पुराने सिद्धान्त के अनुकूल ठीक की गई हैं जो कि उन सब सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं जिनकी उत्पत्ति कि यूनान से नहीं हुई है। हम लोग बचपन से प्राचीन इतिहास से परिचित रहते हैं और उन घटनाओं को स्मरण करना पसन्द करते हैं जो कि बुद्धि के प्रदीप से दिखलाई गई और हमारे हृदय पर जमा दी गई हैं और उन विचारों को बदलने के लिये उस विषय की पूरी जांच की, नए प्रमाणों पर सावधानी से विचार करने की और निष्कपटता की आवश्यकता है जो कि सदा नहीं पाई जाती। फिर भी

सचाई और सरलता हमें इतिहास में जो नई नई बातें विदित हों उनकी जांच करने के लिये विवश करती है जिसमें कि हमें ठीक बातों का पता लग जाय।" स्वयं यूनानी लोग साधारणतः प्राचीन सभ्यता और विशेषतः वैद्यक शास्त्र को उत्पन्न करने का दावा नहीं करते जिस का दावा कि आधुनिक ग्रन्थकार बहुधा उनके लिये करते हैं। नियार्कस से हमें विदित होता है कि "यूनानी वैद्य लोग सांप के काटने की कोई दवा नहीं जानते थे परन्तु जो लोग इस दुर्घटना में पड़े उन्हें भारतवासी अच्छा कर देते थे।" स्वयं एरियन कहता है कि यूनानी लोग "जब बीमार होते थे तो वे सिध्यावादियों (ब्राह्मणों) की दवा करते थे जो कि अद्भुत और मनुष्य की शक्ति के बाहर की रीति से उन सब रोगों को अच्छा कर देते थे जो कि अच्छे होने योग्य थे"। डिआस्कोराइडस जो कि ईसा की पहिली शताब्दी में हुआ है प्राचीन लोगों में औषधि के विषय में सब से बड़ा ग्रन्थकार है और डाक्टर रौले साहब ने अपनी पूरी जांच से यह दिखलाया है कि उसके औषधि शास्त्र का कितना अंश हिन्दुओं के अधिक प्राचीन औषधि शास्त्र से उद्धृत है। यही अवस्था थियोफ्रेस्टस की भी है जो कि ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में हुआ है और टीसियस वैद्य ने जो कि ईसा के पहिले पांचवीं शताब्दी में हुआ है भारतवर्ष का जो वृत्तान्त लिखा है उसमें डाक्टर विल्सन साहब ने दिखलाया है कि भारतवर्ष में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं की आलोचना है। परन्तु प्रमाणों का यह सिल-सिला उस समय पूर्ण होता है जब कि हिपोक्रेटीज़ भी [illegible]

"वैद्यक शास्त्र का जन्मदाता" इस कारण कहलाता है क्योंकि उसने यूरप में इस शास्त्र को पहिले पहिल अध्ययन किया, अपने औषधि शास्त्र को हिन्दुओं से उद्धृत किया हुआ दिखलाता है। हम इस विषय के प्रमाणों के लिये अपने पाठकों को डाक्टर रौले साहब के उत्तम लेख को देखने के लिये कहेंगे। डाक्टर वाइज़ साहब कहते हैं कि "हम लोग वैद्यक शास्त्र की पहिली प्रणाली के लिये हिन्दुओं के ही अनुगृहीत हैं।"

दुर्भाग्यवश हमें हिन्दुओं की उस सब से प्राचीन वैद्यक प्रणाली का बहुत ही कम अंश अब प्राप्त है जो कि कुरु और पञ्चाल लोगों के समय से उस समय तक प्रचलित थी जब कि सब हिन्दू विद्याओं के शास्त्र बने (१४०० से ४०० ई० पू० तक)। प्राचीन वैद्यक शास्त्र का पीछे के समय के ग्रन्थों में "आयुर्वेद" की भाँति उल्लेख किया गया है। सम्भवतः इस नाम से किसी विशेष ग्रन्थ का तात्पर्य्य नहीं था वरन् यह प्राचीन वैद्यक शास्त्र का ही नाम था, ठीक उसी भांति जैसा कि धनुर्वेद धनुष और शस्त्र चलाने की प्राचीन विद्या का नाम था। प्राचीन आयुर्वेद अर्थात् वैद्यक शास्त्र नीचे लिखे हुए भागों में बांटा जाता है जिसे कि हम डाक्टर विल्सन साहब के ग्रंथ से उद्धृत करते हैं—

(१) शल्य अर्थात् बाहरी चीजों यथा तीर, लकड़ी, मिट्टी इत्यादि निकालने की विद्या और उनसे जो सूजन और पीप हो जाती है उसकी चिकित्सा और उसी प्रकार से सब गिल्टियों घावों की चिकित्सा।

(२) शलाक्य अर्थात् अंगों के बाहरी रोगों यथा आंख, कान, नाक इत्यादि के रोग की चिकित्सा। इस शब्द की उत्पत्ति शलाका से है जो कि एक पतला चोखा शस्त्र होता है और जो प्राचीन समय से ही प्रचलित रहा होगा।

(३) कायाचिकित्सा अर्थात् देह की चिकित्सा जो कि आजकल के औषधि शास्त्र का काम देती थी और शल्य तथा शलाक्य आजकल की चीर फाड़ का काम देती थी।

(४) भूत विद्या अर्थात् मन की शक्तियों की उस बिगड़ी हुई अवस्था की चिकित्सा, जो कि भूतों के कारण समझी जाती थी।

(५) कुमार भृत्य अर्थात् बच्चों की रक्षा जिसमें बच्चों का प्रबन्ध और उनकी माता और दाइयों के रोगों की चिकित्सा सम्मिलित है।

(६) अगद अर्थात् विष को मारने की औषधि।

(७) रसायन।

(८) बाजीकरन जिससे कि मनुष्यजाति की वृद्धि का उपाय समझा जाता था।

औषधि शास्त्र ने भी अन्य शास्त्रों की नाईं समय पाकर बड़ी उन्नति की और बौद्ध काल में इस शास्त्र के बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे गए परन्तु फिर भी प्राचीन बातों में उस भक्ति के कारण जिसके लिये कि सदा से हिन्दू ग्रंथकार प्रसिद्ध हैं इन पीछे के समय के ग्रन्थकारों ने प्राचीन शास्त्र को आयुर्वेद के नाम से ईश्वर का दिया हुआ लिखा है और उस प्राचीन विद्या और बुद्धि को पीछे के समय के उन बुद्धिमान मनुष्यों को केवल समझाना अपना उद्देश्य प्रगट

किया है। इन पीछे के समय के अधिक वैज्ञानिक ग्रन्थों में चरक और सुश्रुत के ग्रन्थ सब से अधिक प्रसिद्ध हैं और उन्हीं के ग्रन्थ सब से अधिक प्राचीन हैं जो कि अबतक वर्तमान हैं। यह विश्वास करने के प्रमाण हैं कि ये प्रसिद्ध ग्रंथकार बौद्ध काल में हुए हैं परंतु उनके ग्रन्थ पौराणिक काल में जब कि हिन्दू विद्या और शास्त्रों का साधारणतः पुनर्जीवन हुआ, संकलित किए गए थे। इन ग्रन्थों के नाम दूसरे दूसरे देशों में भी प्रसिद्ध हुए और आठवीं शताब्दी में हारूं रसीद के समय में इन ग्रन्थों के अनुवाद से अरब लोग परिचित थे। एक सबसे प्राचीन अरब ग्रन्थकार सेरापियन चरक को ज़र्क के नाम से लिखता है, एक दूसरा अरब ग्रन्थकार एविसेना उसे सिरक के नाम से बताता है, और रहाज़ेज़ जो कि एविसेना के पहिले हुआ है उसे सरक के नाम से लिखता है। इस प्रकार से हिन्दुओं के बौद्धकाल के बने हुए वैद्यक ग्रन्थों को पौराणिक काल में संसार के लिये पहिले पहिल अरब के लोगों ने प्रकाशित किया।

चरक का ग्रन्थ ८ भागों में हैं जिनके नाम नीचे लिखे जाते हैं।

(१) सूत्रस्थान जिसमें औषधि की उत्पत्ति, वैद्य के कर्तव्य, औषधि का प्रयोग, रोगों की चिकित्सा, औषधि शास्त्र, पथ्य इत्यादि का वर्णन है।

(२) निदानस्थान जिसमें रोगों का यथा ज्वर, रुधिर निकलना, फोड़ा, बहुमूत्र, कोढ़, दमा, पागलपन और मृगी का वर्णन है।

(३) विमानस्थान जिसमें नदी, पथ्य की प्रकृति, रो...
के लक्षण और पहिचान, औषधियों के प्रयोग और शरी...
के रसों के गुणों का विषय है।

(४) शरीरस्थान जिसमें आत्मा की प्रकृति, गर्भाधान,
जातियों के भेद, तत्वों के गुण, शरीर का वर्णन, शरीर और
आत्मा के सम्बन्ध का वर्णन है।

(५) इन्द्रियस्थान जिसमें इन्द्रियों और उनके रोगों
का, देह के रंग, बोली के दोष, शरीर और इन्द्रियों के
रोग, बल घटने और मृत्यु का वर्णन है।

(६) चिकित्सास्थान जिसमें कि रोगों की चिकित्सा
और आरोग्य की वृद्धि, तथा दीर्घायु होने के उपाय
का वर्णन है। उसमें ज्वर, जलन्धर, सूजन, बवासीर, अति-
सार, पांडु रोग, दमा, खांसी, आंव, कै होना, उर्ध्ववात,
प्यास और विष के असर का वर्णन है। उसमें मद्य के नशे
को दूर करने, सूजन, मर्म स्थानों के रोग, घाव, गठिया
और लकवे को अच्छा करने का वर्णन है।

(७) कल्पस्थान जिसमें कै की औषधि, रेचक की
...षधि, विष हटाने वाली औषधि, और औषधि के मंत्रों
... विषय है।

(८) सिद्धिस्थान जिसमें औषधियों को शोधने का, स्न-
...न, गर्भस्थान, आंतों के लिये पिचकारी लगाने का, दोनों
...चकारी के प्रयोग का, मर्मस्थानों इत्यादि का वर्णन है।
...न सारे ग्रन्थ में कहीं आत्रेय ने अग्निवेश को शिक्षा
... इसकी भूमिका में यह कहा गया है कि ब्रह्मा ने
...रत बिना प्रजापति को दी, प्रजापति ने उसे देवों

अश्विनों को सिखलाया और अश्विनों ने उसे इन्द्र को सिखलाया । भारद्वाज ने इसे इन्द्र से पढ़ कर छः ऋषियों को सिखलाया जिसमें अग्निवास एक ऋषि थे ।

सुश्रुत सम्भवतः चरक से पीछे का बना हुआ है और उसके विषय में भी ऐसी ही कथा कही गई है कि इन्द्र ने इस शास्त्र को देवताओं के वैद्य धन्वंतरि को सिखलाया और धन्वन्तरि ने आठ ऋषियों को सिखलाया जिनमें से सुश्रुत शिक्षाओं को शुद्ध शुद्ध लिखने को चुना गया था।

सुश्रुत के ग्रन्थ के विभाग भी चरक से बहुत मिलते है परन्तु चरक ने मुख्यतः औषधियों का वर्णन किया है और सुश्रुत ने अपने छओं भागों में जिनका कि नीचे उल्लेख किया जाता है मुख्यतः शस्त्र वैद्यक को लिखा है ।

(१) सूत्रस्थान में औषधियों, शरीर के तत्वों और भिन्न भिन्न रोगों, वैद्यक के शस्त्रों और औषधियों को चुनने और शस्त्र का प्रयोग करने के उपरान्त की चिकित्सा का वर्णन किया है। उसके उपरान्त रक्त मय और शस्त्र वैद्यक सम्बन्धी रोगों का तथा बाहरी वस्तुओं को निकालने और घाव तथा फ़ोड़ों को अच्छा करने का वर्णन है, इनके सिवाय और भी अनेक विषयों का वर्णन है ।

(२) निदानस्थान में रोगों के लक्षण और पहिचान का विषय है। इसमें गठिया, ववासीर, पथरी, भगन्दर, कोढ़, वहुमूत्र आदि के कारणों का वर्णन है । प्रसव कर्म में स्वभाव विरुद्ध बातों के होने, भीतरी सूजन, सुर्खवाद गलगण्ड, जलन्धर और जनमाने वाली इन्द्रियों तथा मुंह के रोगों पर विचार किया है ।

(३) शारीरस्थान अर्थात शरीर चीरने की विद्या जिसमें शरीर की बनावट का वर्णन है। इसमें आत्मा और शरीर के मूलभाग, युवावस्था, गर्भ और शरीर की वृद्धि के विषयों पर विचार किया गया है। रक्त निकलने और गर्भाधान तथा बच्चों की चिकित्सा के विषय में भी विचार किया गया है।

(४) चिकित्सास्थान जिसमें रोग, घाव, फोड़े, सूजन, टूटन, गठिया, बवासीर, पथरी, भगन्दर, कोढ़, बहुमूत्र और जलन्धर के लक्षण और चिकित्सा का वर्णन है। गर्भ में असाधारण स्थिति से बच्चों को निकालने की रीति तथा अन्य विषयों का भी वर्णन है। पिचकारी लगाने, नास लेने और दवाइयों के धूओं के प्रयोग का भी वर्णन है।

(५) कल्पस्थान में विष उतारने वाली दवाइयों का वर्णन है। खाने और पीने की वस्तुओं को बनाने और रक्षित रखने और जहर के भोजन को पहिचानने के उपाय वर्णन किए गए हैं और भिन्न भिन्न धातु वनस्पति और जीवधारियों के विषों के उतारने का भी वर्णन किया गया है।

(६) उत्तरस्थान में अनेक स्थानिक रोगों यथा आंख, कान, नाक, और सिर के रोगों का वर्णन है। इसके सिवाय अनेक रोगों की चिकित्सा का यथा ज्वर, अतिसार, दमा, फोड़े, हृदय के रोगों, पाण्डुरोग, रक्तनिकलने, मूर्छा, नशे, खांसी, हुचकी, क़ै, गलाबैठने, कृमीरोगों, रुष्ट होने, हैज़ा, आंव, पागलपन, भूत के आवेश, मिरगी, और मूर्छा का वर्णन है।

चरक और सुश्रुत के विषयों के ऊपर लिखे हुए संक्षिप्त विवरण से प्राचीन समय में वैद्यक शास्त्र की उन्नति तथा जिन रोगों पर वैद्यों का ध्यान गया था, यह विदित होजायगा निस्सन्देह बहुतेरे प्राचीन सिद्धान्त अब कल्पित दिखलाए गए हैं और उस समय के बहुतेरे विचारों की अब असत्यता दिखलाई गई है। परन्तु फिर भी दो हजार वर्ष पूर्व के बने हुए वैद्यक के पूर्ण ग्रन्थों से प्राचीन समय में भारतवर्ष में इस शास्त्र की उन्नति प्रगट होती है और इन ग्रन्थों में जो औषधियां और नुकसे लिखे गए हैं वे भी बहुत से तथा भिन्न भिन्न प्रकार के हैं। हमारा अभिप्राय यहां पर हिन्दुओं की औषधि और चिकित्सा प्रणालियों के पूरे विवरण को देने का नहीं है। हम यहां केवल उनमें से कुछ औषधियों और वैद्यक के शस्त्रों का उल्लेख करेंगे जो कि प्राचीन हिन्दुओं को विदित थे।

हिन्दू लोग बहुत पहिले से रसायन और भिन्न भिन्न रासायनिक मिश्रणों का बनाना जानते थे। और यह बात कोई अचरज की नहीं है क्योंकि बहुत से रासायनिक पदार्थों को तयार करने की सामग्रियां भारतवर्ष में बहुतायत से रही हैं। नमक पश्चिमो भारतवर्ष में पाया जाता था, सोहागा तिब्बत से आता था। शोरा और सोडा सहज में बन जाते थे, फिटकिरी कच्छ में बनती थी और नौसादर भी हिन्दुओं को विदित था। वे लोग चूने, कोयले, और गंधक से तो न जाने कब से परिचित थे।

खार और तेजाब हिन्दुओँ को प्राचीन समय से ही विदित थे और उनसे अरब लोगों ने इन्हें जाना। धातुओं

का औषधि की भांति प्रयोग भी बहुत अच्छी तरह से विदित था । हमें सुरमें तथा पारे, संखिये और अन्य नौं धातुओं की बनी औषधियों का उल्लेख मिलता है। हिन्दू लोग तांबे, लोहे, सीसे, टिन, और जस्ते के अम्लजिद से, लोहे, तांबे, सुरमे, पारे और संखिये के गन्धेत से, तांबे, जस्ते और लोहे के गन्धित से, तांबे के द्वियम्लेत तथा सीसे और लोहे के कर्बनेत से परिचित थे। "यद्यपि प्रचीन यूनान और रोम के लोग बहुतेरी धातुओं की वस्तुओं का लगाने की औषधियों में प्रयोग करते थे तथापि यह साधारणतः विश्वास किया जाता है कि खाने की औषधि में उनका पहिले पहल प्रयोग करने वाले अरबी लोग थे ... परन्तु चरक और सुश्रुत के ग्रन्थों में, जिससे, हम प्रमाणित कर चुके हैं कि सब से पहिले अरब लोग परिचित थे, हमें बहुतेरी धातुओं की वस्तुओं का खाने की औषधि के लिये प्रयोग मिलता है।

अनेक वस्तुओं के बनाने की जो रीतियां दी हैं उनसे यह स्पष्ट है कि प्राचीन हिन्दू लोग बहुतेरी रासायनिक क्रियाओं से यथा घोलने, भाफ बनाने, भस्म करने, पिघलाने, और अर्क खींचने की क्रियाओं से परिचित थे।

जड़ी और पौधों के विषय में सुश्रुत ने उनके निम्न लिखित विभाग किए हैं अर्थात गट्ठीली और कंद, जड़, जड़ की छाल, विशेष सुगन्धि रखने वाले वृक्ष, पत्ते, फूल, फल, बीज, तीखी और संकोचक वनस्पति, दूधवाले वृक्ष, गोंद और राल। सम्भवतः सुश्रुत में जड़ी बूटी सम्बन्धी भूगोल का सब से प्रथम उल्लेख है जिसमें

कि पौधों के उगने के स्थानों और जलवायू का वर्णन किया है। वह औषधि के लिये तौल और नाप को भी लिखता है और ताजी जड़ी बूटियों से रस निकालने, अच्छी तरह सुखाए हुए पौधों के चूर्ण बनाने तथा अनेक प्रकार के काढ़े आदि बनाने की रीति भी देता है। भारतवर्ष में वनस्पति प्रायः असंख्य हैं और यह कहना अनावश्यक है कि हिन्दू वैद्य लोग बहुत प्रकार की जड़ी बूटियों से परिचित हैं। उनमें से बहुत सी पीड़ा घटाने वाली और शुद्ध करनेवाली औषधियां हैं जो कि इस देश की जलवायू और यहां के लोगों की शान्त प्रकृति के योग्य हैं। अचाञ्चक और कड़ी अवस्थाओं के लिये कड़े और नरम जुल्लाव, कै की औषधियां, पसीना लाने वाली औषधियां और स्नाने थे और तीखे विष, संखिये और पारे की मिलावटी तथा जमाव और मिलानेवाली औषधियों के साथ पिए जाते थे।

अब शस्त्र वैद्यक की ओर ध्यान देने से हमे निस्संदेह आश्चर्य्य होगा। शैली साहेब कहते हैं "इन प्राचीन शस्त्र वैद्यों को पथरी निकालने तथा पेट से गर्भ निकालने की क्रिया विदित थी और उनके ग्रन्थों में पूरे १२७ शस्त्रों का वर्णन किया हुआ है। शस्त्र वैद्यक इन भागों में बँटा हुआ है अर्थात् छेदन, भेदन, लेखन, व्याधन, यम, अहैर्य्य, विस्रवण और सेवन। ये सब कार्य्य वहुत प्रकार के वैद्यक शस्त्रों से किए जाते थे जिन्हें कि डा० विल्सन साहब निम्न लिखित भागों में बाँटते हैं अर्थात् यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि वा दागना, शलाका, शृंग वा सींग, खून निकालने के

लिये तुम्बी और जलौक वा जोंक । इनके सिवाय हमें तो पत्तियाँ, पट्टी, धागे के लिये गरम की हुई धात की चद्दर और अनेक प्रकार के संकोचक और कोमलकारी लेप भी मिलते हैं ।

यह कहा गया है कि शस्त्र सब धातु के होने चाहिएं । वे सदा उज्वल सुन्दर पौलिश किए हुए और चोखे होने चाहिएं जो बाल को खड़े बल चीर सकें। और युवा अभ्यास करने वाले को इन शस्त्रों का अभ्यास केवल वनस्पतियों पर ही नहीं वरन पशुओं की ताजी खाल और मरे हुए पशुओं की नसों पर करके निपुणता प्राप्त करनी चाहिए ।

हमारे हिन्दू पाठकों को यह जानना मनोरञ्जक होगा कि जब आजकल भारतवर्ष के प्रत्येक भाग में स्वास्थ्य और चिकित्सा के लिये विदेशियों की विद्या और निपुणता की आवश्यकता होती है तो २२०० वर्ष पहिले सिकन्दर ने अपने यहाँ उन लोगों की चिकित्सा के लिये हिन्दू वैद्यों को रखा था जिनकी चिकित्सा कि युनानी नहीं कर सके थे और ११०० वर्ष हुए कि बगदाद के हारूल रसीद ने अपने यहाँ दो हिन्दू वैद्य रखे थे जो कि अरबी ग्रन्थों में मनका और सलेह के नाम से विख्यात हैं ।

अध्याय १२।

नाटक

इस काल में विज्ञान में जितनी उन्नति हुई उससे कहीं अधिक और अद्भुत उन्नति संस्कृत साहित्य के नाटक और काव्य में हुई। आर्यभट्ट और चर्क की अपेक्षा कालिदास और भवभूति हिन्दुओं तथा संसार की दृष्टि में अधिक मान्य हैं।

इस पुस्तक में पीछे के समय के संस्कृत साहित्य का इतिहास देना न तो सम्भव ही है और न ऐसा करने का हमारा उद्देश्य ही है। हम केवल सब से प्रसिद्ध ग्रन्थकारों के नाम तथा उनके सब से अद्भुत ग्रन्थों का बड़े संक्षेप में वर्णन करेंगे। इससे हमारे पाठकों के इस काल के साहित्य का साधरण ज्ञान प्राप्त हो जायगा और हम इस पुस्तक में केवल इतना ही करने का यत्न कर सकते हैं। हम इस अध्याय में नाटकों का तथा आगामी अध्यायों में काव्य और कथाओं का वर्णन करेंगे।

जिस उज्वल काल का हम वर्णन कर रहे हैं वह प्रसिद्ध कालिदास के समय से आरम्भ होता है और सरस्वती के इस पुत्र ने यद्यपि कई बड़े उत्तम ग्रन्थ बनाए हैं पर वह सभ्य सृष्टि में मुख्यतः शकुन्तला के ग्रन्थकार की भांति परिचित है। जिसने संस्कृत में इस नाटक को पढ़ा है वह हिन्दू ही नहीं वरन कोई भी क्यों न हो पर उसकी सम्मति यही होगी कि नम्र और कोमल हृदयवाली वनवासिनी शकुन्तला से बढ़ कर मृदु और मनोहर कल्पना मनुष्य की लेखनी से कभी नहीं निकली है।

राजा दुष्यन्त अहेर के लिये जाता है और कन्व ऋषि के आश्रम पर पहुंचता है। कुञ्जों में साधारण वेष में चलते हुए वह तीन युवतियों को वृक्ष में जल सींचते हुए देखता है। यह कहना अनावश्यक है कि युवतियां शकुन्तला (जो कि मनुष्य पिता से अप्सरा की कन्या थी) तथा उसकी दो सखियां हैं। शकुन्तला को बचपन से कन्व ऋषि ने पाला था और उसने वन के इन्हीं एकान्त स्थानों में अपनी वनवासिनी साथिनियों, अपने वृक्षों और पालतू पशुओं में ही अपनी सुन्दर युवावस्था को प्राप्त किया था। दुष्यन्त जो कि राजसभाओं की बनावटी सुन्दरता से परिचित था प्रकृति की इस सुन्दर पुत्री को देख कर मोहित हो गया और उसने जो छाल के वस्त्र पहिने थे उनसे उनकी सुन्दरता और भी अधिक हो गई थी, उस सुन्दर फूल की नांई जिसको पत्तियां ढके रहती हैं। उसे इस युवती तथा उनकी सखियों के सम्मुख आने का उपयुक्त अवसर मिला, उनमें कुछ बातें हुईं और कोमल शकुन्तला के हृदय में एक ऐसा भाव उत्पन्न हुआ जैसा कि उसके सारे जीवन में पहिले कभी नहीं हुआ था।

प्रेम ने शकुन्तला के कोमल अंग पर अपना प्रभाव डाला और जब दुष्यन्त उससे पुनः मिलने आया तो वह उस माधवी लता की नाईं हो गई थी जिसके पत्ते गरमी हवा से मुरझा गए हों, परन्तु यह परिवर्तन होने पर भी वह मनोहर और उसके हृदय को उलझाने वाली थी। इन दोनों प्रेमियों ने मिलकर गान्धर्व विवाह की रीति से अपना सम्बन्ध दृढ़ कर लिया। तब दुष्यन्त शकुन्तला को

अपनी अंगूठी देकर और उसे शीघ्र ही अपनी राजधानी में ले चलने की प्रतिज्ञा करके उससे विदा हुआ।

अब नाटक का मनोरञ्जक भाग आरम्भ होता है। शकुन्तला अपने अनुपस्थित पति का सोच करती हुई एक बड़े क्रोधी ऋषि का उचित सम्मान करना भूल गई जो कि उसके आश्रम में अतिथि की नाईं आए थे। इस क्रोधी ऋषि ने इस असावधानी पर बड़े कुपित होकर यह शाप दिया कि वह जिस पुरुष के ध्यान में इतनी लीन है वह उसे भूल जायगा। परन्तु उसकी सखियों की प्रार्थना पर शान्त होकर उस ऋषि ने अपने वाक्य का कुछ परिवर्तन किया और कहा कि उसे अपनी दी हुई अंगूठी देखकर पुनः उसका स्मरण हो जायगा। अतः दुष्यन्त अपने इस प्रेम को भूल गया और शकुन्तला जो कि गर्भवती हो गई थी अपने एकान्त आश्रम में मुरझा कर क्षीण होने लगी।

उसके पालनेवाले पिता कन्व ने यह सब वृत्तान्त जान लिया और शकुन्तला को उसके पति के यहां भेजने का प्रबन्ध किया। यह समस्त नाटक बड़ा हृदयवेधक है परन्तु उसका कोई अंश इतना अधिक कोमल और हृदयवेधक नहीं है जितना कि शकुन्तला का अपने इस शान्त आश्रम के साथियों और पशुओं के साथ विदा होना, जहां कि वह इतने काल तक रही थी। कन्व का हृदय शोक से भरा हुआ है और उसकी आँखों से आँसू की धारा बह रही है। अदृश्य वन देवियां शोक के साथ उससे विदा होती हैं, शकुन्तला की दोनों सखियां अपनी प्यारी विदा होनेवाली सखी से जुदा नहीं हो सकतीं। स्वयं शकुन्तला ने इतने

दिनों तक जिनको प्यार किया था और जिनको पाला पोसा था उनसे जुदा होने में वह विह्वल होगई।

शकुन्तला—हे पिता जब यह कुटी के निकट चरने वाली गाभिन हरिनी क्षेम कुशल से जने तुम किसी के हाथों यह मंगल समाचार मुझे कहला भेजना, भूल मत जाना।

कन्व—अच्छा न भूलूंगा।

शकुन्तला—(कुछ चल कर और फिर कर) यह कौन है जो मेरा अंचल नहीं छोड़ता (पीछे फिर कर देखती है)।

कन्व—जिसका मुंह दाभ से चिरा हुआ देख कर घावों पर तू अपने हाथ हिंगोट का तेल लगाती थी, जिसे तैंने समा के चावल खिला खिला कर पाला है और अपने बेटे की भांति लाड़ चाव किया है सो इस समय तेरे पैर क्योंकर छोड़ेगा।

शकुन्तला—अरे छोना मुझ सहवास छोड़ती हुई के पीछे तू क्यों आता है। तेरी मां तुझे जनते ही छोड़ मरी थी तब मैंने तेरा पालन किया। अब मेरे पीछे पिताजी तुझे पालेंगे। तूं लौट जा। [लक्ष्मणसिंह]

नाटक में रंजकता बढ़ चली। शकुन्तला का पति उसे भूल गया था और वह अंगूठी जिससे कि उसे उसका स्मरण हो सकता था मार्ग में खोगई। दुष्यन्त ने शकुन्तला तथा उसके साथियों का बड़ी शिष्टता से स्वागत किया परन्तु उसने अज्ञात और गर्भवती स्त्री को अपनी पत्नी की भांति अंगीकार करना स्वीकार नहीं किया। विचारी शकुन्तला इस अपत्ति से प्रायः अधमरी सी होगई क्योंकि वह इसका कारण नहीं जानती थी। उसने ऋषि का शाप नहीं सुना था और उसकी सखियों की प्रार्थना पर ऋषि ने शाप से निवृत्त होने का जो उपाय बतलाया था उसे भी वह नहीं जानती थी। उसने

दुष्यन्त को उन पूर्व परिचित घटनाओं के स्मरण दिलाने का व्यर्थ उद्योग किया जो कि दुष्यन्त के आश्रम में रहने के समय में हुई थीं और अन्त में वह दुःख और शोक से रोने लगी। उसके साथियों ने उसे महल में छोड़ दिया और उसके लिये अलग स्थान दिए गए परन्तु वह एक अपूर्व घटना के द्वारा इससे अधिक अपमान सहने से बचा ली गई। एक स्वर्ग की अप्सरा ज्योति के रूप में उतरी और उसे इस पृथ्वी से ले गई जहां कि निस्संदेह उसके दिन दुखदाई और कठोर थे।

अब एक ऐसी घटना हुई जिससे कि राजा को पिछली बातों का स्मरण हो गया। एक मछुए ने एक मछली पकड़ी जो कि उस अंगूठी को निगल गई थी जो कि शकुन्तला के हाथ से उस नदी में गिर पड़ी थी और इस अंगूठी को देख कर राजा को सब पिछली बातों का एकदम स्मरण हो आया? शकुन्तला का प्रेम दसगुना भड़क उठा और उसने इस कोमल तथा प्रेम और विश्वास करने वाली युवती के साथ जो कठोर अन्याय किया था उसके दुखः ने उसे पागल बना दिया। उसने सब राज काज छोड़ दिया, वह आहार और निद्रा भूल गया और कठोर पीड़ा में मग्न हो गया।

इस अचेत अवस्था से उसे इन्द्र के सारथी ने जागृत किया और इन्द्र की ओर से उसने दानवों के विरुद्ध राजा की सहायता मांगी। राजा स्वर्गीय विमान पर चढ़ा, उसने दानवों को विजय किया और तब वह देवताओं के पिता कश्यप के स्वर्गीय आश्रम में लाया गया जहां कि अपनी पत्नी अदिति के साथ वे पवित्र एकान्त में वास करते थे।

वहां पर राजा ने एक छोटे बलवान बालक को सिंह के बच्चे के साथ खेलते हुए देखा।

दुष्यन्त—(आपही आप) अहा क्या कारण है कि मेरा स्नेह इस बालक में ऐसा होता आता है जैसा पुत्र में होता है। हो न हो यह हेतु है कि मैं पुत्रहीन हूं। [लक्ष्मणसिंह]

पाठक लोग निस्संदेह देखेंगे कि यह बालक स्वयं उस राजा का ही पुत्र था। शकुन्तला को दयालु देवताओं ने लाकर राजा को पिछली बातों का स्मरण होने के समय तक यहां रखा था और जब शकुन्तला सम्मुख आई तो दुष्यन्त ने घुटनों के बल होकर क्षमा की प्रार्थना की और प्रेममयी शकुन्तला ने उसे क्षमा किया। तब यह जोड़ी बालक के सहित कश्यप और अदिति के सम्मुख लाई गई और इन दोनों पवित्र महानुभावों के आशीर्वाद के साथ यह नाटक समाप्त होता है।

कालिदास के दो अन्य नाटक रह गए हैं। विक्रमोर्वसी में राजा पुरुरवस और स्वर्गीय अप्सरा उर्वसी के प्रेम का वर्णन है। हमें विदित है कि यह कथा ऋग्वेद के समान प्राचीन है और अपने पहिले रूप में यह सूर्य्य (पुरुरवस= चमकीली किर्णों वाला) का प्रभात (उर्वसी=अतिविस्तृत) के पीछा करने की कथा है। परन्तु उस समय से इस कथा की उत्पत्ति हिन्दुओं के हृदय से लुप्त हो गई है और कालिदास तथा पुराणों का पुरुरवस एक मानवी राजा माना गया है जिसने कि उर्वसी नाम की अप्सरा की दानवों से रक्षा की और जो उसके प्रेम में आशक्त होगया और उर्वसी भी राजा पर आशक्त होगई। यह अप्सरा इस मनुष्य के

प्रेम में इतनी लीन हो गई थी कि जब वह इन्द्र की सभा में एक नाटक का अभिनय करने गई तो वह अपना अंश भूल गई और अपने प्रियतम का नाम भूल से लेकर उसने अपने हृदय की गुप्त बात को प्रगट कर दिया।

उर्वसी लक्ष्मी बनी थी और मेनका वरुणी बनी थी।

मेनका कहती है।

"लक्ष्मी, भिन्न भिन्न मंडलों का शासन करने वाली शक्तियां यहां उपस्थित हैं। इनके शिरोमणि सुन्दर केशव हैं। कह तेरा हृदय किस पर जाता है।"

उसके उत्तर में उसे कहना चाहिए था "पुरुषोत्तम पर" परन्तु उसके पलटे में उसके मुंह से "पुरूरवा पर" निकल गया। इस भूल के लिये इस कोमल अप्सरा को दंड दिया गया परन्तु इन्द्र ने बड़ी सावधानी से इस दण्ड को आशीर्वाद के रूप में परिवर्तित कर दिया और इस अप्सरा को अपने प्रियतम के साथ जाकर तब तक रहने के लिये कहा जब तक कि वह उससे उत्पन्न हुए बच्चे को न देखले।

पुरूरवा ने अपने इस नए प्रेम को अपनी रानी से व्यर्थ छिपाने का उद्योग किया और व्यर्थ उसके पैरों पर गिर कर झूठ मूठ का पश्चाताप प्रगट किया। रानी ने कुछ असभ्यता से उत्तर दिया।

"आर्यपुत्र, आप विचित्र पश्चाताप करते हैं। मुझे आप पर विश्वास नहीं होता।"

और उसने राजा को बड़े निष्ठुर परन्तु बड़ी बुद्धिमानी के विचार के लिये छोड़ दिया।

"मैंने अपने को यह कष्ट वृथा दिया। स्त्रियां स्पष्टदर्शी होती हैं और केवल शब्द उनके मन को भुलावा नहीं देसकता, प्रेम ही उनको

जीत सकता है। अपनी विद्या में निपुण रत्न काटने वाला झूठे रत्नों को उपेक्षा से देखता है।

परन्तु रानी ने शीघ्र ही देखा कि उसके पति के नए स्नेह का कोई उपाय नहीं था और उसका क्रोध निरर्थक था! इन्द्रपत्नी के आत्मत्याग के साथ उसने अपने पूर्व आचरण के प्रायश्चित के लिये व्रत धारण किया और अपने पति को उसके नए प्रेम में भी आशक्त होने दिया। श्वेत वस्त्र पहिन कर आभूषण के स्थान पर केवल फूलों को धारण करके वह धीरे धीरे अपने पति और राजा की पूजा के लिये आई और उसे इस वेष में देख कर राजा को उसके लिये पहिला सा स्नेह हो आया।

"वास्तव में वह बात मुझे अच्छी लगती है। इस प्रकार साधारण श्वेत वस्त्रों को पहिन कर, पवित्र फूलों से अपनी लटों को सज्जित कर, तथा अपनी मत्त चाल को सच्ची भक्ति में परिवर्तित कर वह वर्धित सौंदर्य से चल रही है"।

परन्तु वह जानती थी कि उसकी सुन्दरता निरर्थक थी। उसने राजा की पूजा की उसको दंडवत किया और तब चन्द्रमा और रोहिणी नक्षत्र से कहा।

"पति प्रति मेरी इस प्रतिज्ञा को सुनो और उसकी साक्षी करो। जो कोई अप्सरा मेरे पति की स्नेह भजन हो और उसके प्रेम पाश में बँधे उससे मैं दया के साथ अच्छा व्यवहार करूंगी"।

स्वयं उर्वशी की सखी को भी इस महान-आत्म त्याग से बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने कहा।

"यह बड़े उच्चमन की स्त्री है। इसका भार्यात्व प्रशंसनीय है"।

इसके उपरान्त राजा और उर्वसी का प्रेम और उनका एक दैवी घटना के द्वारा थोड़े समय के लिये वियोग होने का कालिदास की लेखनी की पूरी शक्ति के साथ वर्णन है।

वह इस वियोग में सूख गया, बन में इधर उधर घूमने लगा और पशु पक्षी तथा निर्जीव वस्तुओं से बात करने लगा।

"जाइ जाँच्यों नखतमण्डित शिखी सों नियराइ।
मदन राग अलापिनी इन कोकिलन सों धाइ॥
और कुञ्जरवृन्द-अधिपति सों अनेक प्रकार।
तथा मधुकर सों फिरत जो करत मृदु गुञ्जार॥
हंस औ कल-नाद-कारी विमल झरनन टेरि।
विहग चकवा, गिरि शिला, अरु चपल हरिनहिँ हेरि॥
खोज में वहु याचना इन सों करी मैं जाय।
पै नहीं मम दुःख को इन कियो हलको, हाय!"

उसने भ्रमण के उपरान्त उसे पाया परन्तु फिर भी उसके वियोग की आशंका थी। क्योंकि उससे उर्वसी को जो पुत्र उत्पन्न हुआ था और जिसे उर्वसी ने उससे अब तक छिपा रक्खा था, उसे दैवात् उसने देख लिया और इन्द्र की आज्ञा के अनुसार उसकी दृष्टि उस पुत्र पर पड़ते ही उर्वसी को स्वर्ग को लौट जाना पड़ता। परन्तु इन्द्र ने अपनी आज्ञा में फिर परिवर्तन कर दिया और नारद स्वर्ग से इन्द्र की आज्ञा पुरुरवा को सुनाने के लिये आए--

"सदा पवित्र बन्धनों से उर्वसी आजीवन तेरे साथ रहेगी"।

तीसरा और अन्तिम नाटक जो कालिदास का बनाया हुआ कहा जाता है, मालविकाग्निमित्र है जिसमें मालविका और अग्निमित्र की प्रीति का वर्णन है। परन्तु हमें इस ग्रन्थ के कालिदास का रचा हुआ होने में बड़ा सन्देह है।

अग्निमित्र और उसके पिता पुष्पमित्र ऐतिहासिक राजा हैं। पुष्पमित्र मौर्यवंश के अन्तिम राजा का सेनापति था और उसने उस राजा को मार कर मगध के संग वंश को स्थापित किया था।

मालविका राजमहिषी धारिणी की एक सुन्दर दासी है, और वह नाचना गाना सीखती है। रानी ने उसे शंका से राजा अग्निमित्र की दृष्टि से बचाया परन्तु उस चित्रशाला में उसका चित्र भूल से खिंचवाया था और इस चित्र को देख कर राजा को मालविका के देखने की बड़ी उत्कंठा हुई। मालविका राजा के सम्मुख नृत्य और गान में अपनी चतुराई दिखलाने के लिये उपस्थित हुई और राजा उस पर मोहित होगया।

रानी ने मालविका को ताले में बन्द कर दिया परन्तु वह एक युक्ति से निकाल ली गई और राजा से उसका साक्षात् हुआ।

यह समाचार मिला कि राजा के पुत्र ने सिंधनदी के तट पर यवनों को पराजित किया और रानी इस समाचार को सुन कर इतनी प्रसन्न हुई कि उसने सबको बहुत सा पुरस्कार दिया और कदाचित यह विचार कर कि राजा की प्रीति को रोकना निर्थक है उसे मालिविका को अर्पण किया। इस प्रकार यह नाटक सुख से समाप्त होता है परन्तु न तो इसकी कहानी और न इसका काव्य शकुन्तला वा विक्रमोर्वशी की बराबरी का है।

कालिदास छठीं शताब्दी में हुए हैं, और वह विक्रमादित्य के दर्बार को सुशोभित करते थे। उनके १०० वर्ष

के उपरान्त भारतवर्ष के एक सम्राट ने जो कि अधिकार और विद्या में विक्रमादित्य का एक योग्य उत्तराधिकारी था, प्रसिद्ध कालिदास की बराबरी करने का उद्योग किया। यह शीलादित्य द्वितीय था जिसे श्रीहर्ष भी कहते हैं, जिसने सन् ६१० से ६५० ई० तक राज्य किया और जिसने चीन के यात्री हुन्तसांग का स्वागत किया था। वह केवल सारे उत्तरी भारतवर्ष का सम्राट ही नहीं था वरन स्वयं एक विद्वान मनुष्य था। वह रत्नावली का ग्रन्थकार कहा जाता है, परन्तु यह अधिक सम्भव है कि उसकी सभा के प्रसिद्ध ग्रन्थकार बाणभट्ट ने इस नाटक को रचा हो। कालिदास का यश उस समय तक सारे भारतवर्ष में फैल गया था और छोटे छोटे कवि अपने ग्रन्थ अनजाने इसी महान कवि के ढंग पर रचते थे। यह बात रत्नावली में विशेषतः देखी जाती है जिसमें कि कालिदास के नाटकों की वाक्यचोरी स्पष्ट मिलती है।

यह नाटक वसन्तोत्सव के वर्णन से आरम्भ होता है, जिसमें कि कामदेव की पूजा की जाती थी और प्रसन्न हृदय मनुष्य और स्त्रियां एक दूसरों पर रंग छिड़कते थे। गुलाल और रंग छिड़कने की रीति अब तक भी सारे भारतवर्ष में प्रचलित है। परन्तु प्राचीन समय में जो कामदेव की पूजा होती थी उसका स्थान अब कृष्ण ने लेलिया है।

रानी वाटिका में प्रद्युम्न की पूजा करने जाती है और राजा से वहां आने के लिये प्रार्थना करती है, रानी की एक सुन्दर दासी सागरिका भी जिसे कि रानी ने राजा की दृष्टि से बड़े यत्न के साथ बचाया था वाटिका में आई,

और वह वृक्ष की आड़ से राजा को देख कर उस पर मोहित होगई।

वाटिका में एकान्त में बैठ कर इस प्रेमाशक्त युवती ने अपने हृदय को चुरानेवाले का चित्र खींचा परन्तु उसे उसकी एक सखी ने देख लिया जो कि उसी के समान चित्र-कारी में निपुण थी और उसने राजा के चित्र के पास स्वयं सागरिका का चित्र खींचा। ये दोनों चित्र असावधानी से खो गए और वे राजा के हाथ लग गए जो कि अपने साथ इस युवती का चित्र देख कर उस पर मोहित हो गया। इस कथा में अग्निमित्र की कथा की समानता न पाना असम्भव है जिसमें कि अग्निमित्र अपनी रानी की दासी के चित्र को देख कर उस पर मोहित हो गया था।

कालिदास के दुष्यन्त की नाईं राजा उन कमल के पत्रों को उठाता है जो कि सागरिका के तप्त शरीर पर लगाए गए थे और उनके पीले वृत्तों में उस युवती की सुडौल छाती का चिन्ह आता है। इसके उपरान्त शीघ्र ही ये दोनों प्रेमी मिलते हैं परन्तु सदा की नाईं यहां भी उन दोनों के मिलने में रानी के कुसमय के आगमन से बाधा पड़ती है। एक बार पुनः रानी को सागरिका पर राजा के प्रेम का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। कालिदास के पुरुरवा की नाईं राजा रानी के चरणों पर गिर पड़ता है परन्तु रानी क्रोध से भरी हुई लौट जाती है।

मालविका की नाईं प्रेमासक्त सागरिका को रानी तहखाने में बन्द करती है। तब उज्जयिनी से एक जादूगर आता है और अपने खेल दिखलाता है। इसके उपरान्त शीघ्र

ही राजभवन जलता हुआ दिखलाई देता है और राजा सागरिका को बचाने के लिये जो कि भीतर कैद रक्खी गई थी दौड़ता है और उसे बचा लेता है। परन्तु आग अब लोप हो जाती है। वह जादूगर का केवल एक खेल थी। जब सागरिका बाहर निकली है तो यह पहिचाना जाता है कि वह लंका की रानी रत्नावली है और मालविका की नाईं अन्त में रत्नावली को भी रानी स्वयं राजा को अर्पण कर देती है।

एक दूसरा अद्भुत नाटक नागानन्द भी शीलादित्य द्वितीय का बनाया कहा जाता है परन्तु रत्नावली की नांई यह अधिक सम्भव है कि इस ग्रन्थ को भी उसकी सभा के किसी कवि ने बनाया है। हम इसे अद्भुत ग्रन्थ कहते हैं। इसका कारण यह है कि सम्भवतः यह केवल एक ही बौद्ध नाटक है जो कि अब हम लोगों को प्राप्त है। इस बौद्ध नाटक में हम हिन्दू देवता और देवियों को बौद्धों की पूज्य वस्तुओं के साथ मिश्रित पाते हैं और यही बात है जो कि इस ग्रन्थ को विशेष मूल्यवान बनाती है।

विद्याधरों का राजकुमार जीमूतवाहन सिद्धों की राजकुमारी मलयावती को गौरी (एक हिन्दू देवी) की पूजा करते हुए देखता है और उस पर आसक्त हो जाता है वह उसके सम्मुख उपस्थित होता है जैसे कि दुष्यन्त शकुन्तला के सम्मुख हुआ था और वह उसका सुशीलता से सत्कार करती है और कदाचित यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि वह भी राजकुमार पर आसक्त हो जाती है। शकुन्तला की नाईं मलयावती में भी प्रेम का चिरपरिचित

प्रभाव देख पड़ता है। वह ज्वरग्रस्त हो जाती है, उसके
शरीर में चन्दन का लेप किया जाता है और केले
के पत्ते से हवा की जाती है।

जीमूतवाहन अपने हृदय को चुराने वाली युवती का
चित्र खींचने में लगता है। वह चित्र खींचने के लिये लाल
मंशिल का एक टुकड़ा माँगता है और उसका साथी भूमि
में से कुछ टुकड़े उठा लाता है जिससे कि पांच रंग (नीला
पीला, लाल, भूरा और चित्रविचित्र) लिखे जा सकते
हैं। इस वृत्तान्त से विदित होगा कि प्राचीन हिन्दू लोग
पोम्पियाई के पुराने चित्रकारों की नाईं चित्रकारी के
लिये रंग बिरंग की मिट्टी और धातु को काम में लाते थे।

मलयावती राजकुमार को चित्र खींचते हुए देखती है
और वह समझ कर कि वह किसी दूसरी स्त्री पर मोहित
है और उसका चित्र खींच रहा है मूर्छित होजाती है।
इस बीच में मलयावती का पिता जीमूतवाहन को अपनी
पुत्री से विवाह के लिये सँदेसा भेजता है और जीमूतवाहन
यह न जान कर कि जिस युवती को उसने देखा था वह
वही राजकुमारी है और अपनी प्रियतमा के साथ धर्मपालन
करने की अभिलाषा से राजकुमारी का पाणिग्रहण स्वीकार
नहीं करता।

परन्तु दोनों प्रेमियों की भूल शीघ्र ही दूर होजाती
है। राजकुमार को विदित होजाता है कि जिस युवती पर
वह आसक्त हुआ है वह वही राजकुमारी है जिसके विवाह
के लिये उससे कहलाया गया है और राजकुमारी को भी
यह विदित होजाता है कि राजकुमार ने भी चित्र खींचा है

वह उसीका है। इसके उपरान्त बड़े धूम धाम से विवाह होता है।

यहां पर हमें राजा के विदूषक शेषर का एक जी बहलाने वाला वृत्तान्त मिलता है जो कि इन उत्सवों में खूब मदिरा पीकर कुछ हास्यजनक कार्य्य करता है। वह कहता है कि उसके लिये केवल दो देवता हैं अर्थात बलदेव जो कि नशा पीने के लिये हिन्दुओं का प्रसिद्ध देवता है और दूसरे काम जो कि प्रेम का हिन्दू देवता है। और यह वीर अपनी प्रियतमा से जो कि एक दासी थी मिलने के लिये जाता है। परन्तु उस मनोहर युवती से मिलने के पलटे वह राजकुमार के एक ब्राह्मण साथी से मिलता है जिसने कि कीड़े मकोड़ों से बचने के लिये अपने सिर पर कपड़ा डाल लिया था और इस प्रकार घूंघट काढ़े हुए स्त्री की नाईं देख पड़ता था। शेषर ने मदान्ध होने के कारण ब्राह्मण को अपनी प्रियतमा जान कर आलिंगन किया, जिससे कि ब्राह्मण को बड़ी ही अरुचि थी और उसने मदिरा की दुर्गन्ध से अपना नाक बन्द कर लिया। यह गड़बड़ी उस समय और भी बढ़ गई जब कि उस स्थान पर स्वयं उसकी प्रियतमा उपस्थित हुई। इस अविवेकी प्रेमी पर दूसरी स्त्री से प्रेम करने का दोष लगाया गया और ब्राह्मण को उपयुक्त कटु वाक्य यथा "भूरा बन्दर" इत्यादि कहा गया, उसका जनेऊ तोड़ डाला गया और वह इस संकट में से निकलने के लिये दासी के चरणों पर गिरने लगा परन्तु अन्त में सब बातें सन्तोषदायक रीति से प्रगट होगईं।

इसके उपरान्त दुलहा और दुलहिन की नवप्रीति के आमोद प्रमोद वर्णन किए गए हैं । राजा निम्न लिखित शब्दों में चुम्बन की प्रार्थना करता है—

"लहि लहि भानु प्रकाश नित पावन पाटल ज्योति ।
केसर सम निसरत जहां दसन सुछवि नित होति ॥
जो यहि विधि शोभा लहत तव मुख कमल समान ।
तो मधुकर केहि हेत नहिं करत तहां रस पान ॥"

[सीताराम]

परन्तु इस समय इस प्रेमी को उसके राज्य के सम्बन्धी चार बाधक होते हैं और उनके कारण उसे अपनी प्रियतम को छोड़ना पड़ता है ।

यहां तक यह कथा अन्य हिन्दू नाटकों की कथा के सदृश है परन्तु अन्तिम दोनों अंक (पांचवां और छठां) मुख्यतः बौद्ध हैं और वे विचित्र रूप में दूसरों के हित के लिये आत्मत्याग के वास्तविक गुणों को दिखलाते हैं ।

जीमूतवाहन उत्तरी घाटों में जाता है और वहां समुद्र तट पर पक्षियों के राजा गरुड़ के मारे हुए नागों की हड्डियों का टीला देखता है । नाग सांप हैं परन्तु हिन्दू और बौद्ध कवियों की कल्पना में वे मनुष्य की नांई हैं उनमें अन्तर केवल इतना है कि वे केंचुलीवाले होते हैं और उनकी पीठ से फन निकले रहते हैं। गरुड़ के साथ यह प्रबन्ध होगया है कि उसके आहार के लिये प्रति दिन एक नाग आया करेगा और जीमूतवाहन जब एक नाग को अपनी रोती हुई माता से विदा होते हुए और गरुड़ के भोजन के लिये जाने की तय्यारी करते हुए देखता है तो उसके हृदय में

बड़ी वेदना होती है । वह निष्ठुर गरुण को नाग के स्थान पर स्वयं अपने को अर्पण करता है और यह पक्षी उसे ले कर उड़ जाता है ।

जब वह नाग जीमूतवाहन के घर में जाकर उसके इस प्रकार जाने का समाचार कहता है तो वहां बड़ा शोक और रोना होता है । उसके वृद्ध माता पिता और उसकी नव विवाहिता स्त्री उस स्थान पर दौड़ कर जाती हैं, जहां कि गरुड़ उस समय तक भी राजकुमार का मांस खा रहा है और उसका जीव निकल गया है । सच्चा नाग भी वहां दौड़ कर जाता है और निरपराधी राजकुमार को बचाने के लिये अपने को अर्पण करता है, और इस प्रकार अपने प्रगट करता है—

"स्वस्ति के लच्छन छाती के ऊपर देह पै केचुल देखत नाहीं ।
जानि परैं नहिं तोहिं कहौ द्वय जीज विशाल मेरे मुख माहीं ।
धूम सों मों विष के मनि जोतिहु धूमलि रंग सदा व्है जाहीं ।
दुःसह सोक सो वायु चलै जहं सों फन तीन न तोहिं लखाहीं ॥

[सीताराम]

उस समय गरुड़ को अपनी भूल स्मरण होती है और वह भयभीत हो जाता है ।

"अरे इस महात्मा ने इसी नाग के प्रान बचाने के लिये करुणा करके अपना शरीर अर्पण कर दियो । हाय मैंने बड़ा अकाज किया और क्या कहूं यह तो बोधिसत्व ही मारा गया है" ।

[सीताराम]

जीमूतवाहन गरुड़ को अपने पाप के प्रायश्चित छुड़ाने की रीत का उपदेश देता है—

"त्यागहु जीव को मारन आज सों चेतिके पाप किए पछिताए।
देहु अभै सब जंतुन को अब मित्र बटोरहु पुण्य मवाहू" ५

[सीताराम।]

इन उपदेशों के उपरान्त इस वीर राजकुमार का अन्त हो जाता है क्योंकि उसका आधे से अधिक शरीर खाया जा चुका था। उसके माता पिता इस संसार से बिदा होने के लिये चिता पर चढ़ने की तय्यारी करते हैं। उसकी विलाप करती हुई युवा विधवा गौरी की आराधना करती है जिसकी आराधना कि उसने विवाह के पहिले की थी।

अतः कथा सुखपूर्वक समाप्त होती है। गौरी राजकुमार को जिला देती है और गरुण हिन्दुओं के देवता इन्द्र से प्रार्थना करके जिन नागों को उसने पहिले मारा था, उन सबों को पुनः जीवित करवाता है। जीवधारियों को हानि मत करो—यही इस बौद्ध नाटक का उपदेश है।

शीलादित्य द्वितीय के उपरान्त सौ वर्ष बीत गए और तब एक सच्चा महान कवि जो कि कालिदास की चोरी करने वाला नहीं था वरन् गुण और यश में उसकी बराबरी का था हुआ। यह भवभूति था जिसे कि श्रीकण्ठ भी कहते हैं। यह जाति का ब्राह्मण था और इसका जन्म विदर्भ अर्थात् बरार में हुआ था परन्तु उसने शीघ्र ही कन्नौज के राजदरबार से अपना सम्बन्ध किया जो कि उस समय भारतवर्ष के विद्या का केन्द्र था। अपनी जंगली जन्मभूमि से इस स्वाभाविक कवि ने प्रकृति की उस स्वाभाविक रौनक को जाना था जो कि उसे संस्कृत के अन्य सब कवियों से प्रसिद्ध बनाती है। कन्नौज के सभ्य राजदरबार में

उसने निस्सन्देह काव्य और नाटक के नियम सीखे जिसने कि उसकी बुद्धि के प्रवाह को प्रवाहित कर दिया परन्तु उसके दिनों का कन्नौज में व्यतीत होना नहीं बदा था। कन्नौज के राजा यशोवर्म्मन को काश्मीर के प्रबल राजा ललितादित्य ने पराजित किया और उसके साथ यह कवि काश्मीर को गया।

भवभूति के तीन नाटक हम लोगों को प्राप्त हैं। हम मालती माधव से आरम्भ करेंगे जिसमें कि मालती और माधव के प्रेम की कथा है।

माधव, कवि की जन्मभूमि विदर्भ अथवा बरार के राजमंत्री देवरात का पुत्र है, और वह पद्मावती अर्थात् उज्जैनी में विद्याध्ययन के लिये आया है। जब वह इस नगर की गलियों में घूम रहा था तो यहां के मंत्री की कन्या मालती ने

"अपनी खिड़की से युवा को देखा, मानों कामदेव सा सुन्दर हो और वह स्वयं उसकी यौवनप्राप्त दुलहिन—उसने देखा भी व्यर्थ नहीं—

कामदेव के वार्षिकोत्सव के समय इस देवता के मन्दिर में पूजा के लिये बड़ी भीड़ एकत्रित होती है। मालती भी हाथी पर इस मन्दिर को जाती है और वहां माधव मिलता है। इन दोनों में परस्पर देखा देखी होती है और दोनों प्रेमाशक्त हो जाते हैं।

परन्तु सच्चे प्रेम का पन्थ कभी सीधा नहीं होता और पद्मावती के राजा ने नन्दन नामक अपने एक कृपापात्र से मालती का विवाह करने की प्रतिज्ञा की थी और मालती का पिता इसे खुल्लम खुल्ला अस्वीकार करने का साहस नहीं

कर सकता था । यह समाचार इस प्रेमासक्त युवती को वज्राघात के सदृश हुआ और एक बौद्धसन्यासिनी कामन्दकी ने दया के साथ ये वाक्य कहे।

"यहां मेरा योगिनपना काम नहीं आ सकता। लड़कियों का बाप जो करे सोई होता है। उसको दैव के सिवाय और कौन रोक सकता है। पुराणों में यह लिखा सही है कि विश्वामित्र की बेटी शकुन्तला ने दुष्यन्त को वरा उर्वसी पुरुरवा के पास रही, वासदत्ता को उसके बाप ने संजय को देना चाहा था पर उसने उदयन को वर लिया। पर यह कौन करने का काम है"।

[सीताराम]

यह स्पष्ट है कि योगिनी वा कवि ने यहां अपने पूर्वज कालिदास के दो ग्रंथों का उल्लेख किया है और वासवदत्ता की कथा का भी उल्लेख किया है जो कि शीलादित्य द्वितीय की सभा में कथा वा नाटक के लिये इतना प्रसिद्ध विषय था।

परन्तु इस बौद्ध योगिनी ने मालती और माधव की सहायता करने का संकल्प कर लिया था। ये दोनों प्रेमी योगिनी के घर में मिले परन्तु रानी की आज्ञा से मालती वहां से बुला ली गई। माधव निराश होकर अपने मनोरथ में सफल होने के लिये कुछ अद्भुत क्रियाएं करता है, और यहां हमें एक भयानक तांत्रिक पूजा का दृश्य मिलता है। भवभूति की बुद्धि का सब से अधिक परिचय हमें उस समय मिलता है जब कि वह किसी ऐश्वर्य्य वा भय के दृश्य का वर्णन करता है।

एक श्मशान में जहां कि मुर्दे जलाए जाते हैं, भयानक देवी चामुण्डा का मन्दिर है, और उसकी दुष्ट पुजेरी कपाल-

कुण्डला कपाल की माला पहिने उसकी पूजा कर रही है। वहां माधव कच्चे मांस का भोग लेकर अपने मनोरथ को सिद्ध करने में भूतों की सहायता के लिये जाता है। वह भूतों और पिशाचों को मांस देते समय कहता है—

"अरे पिशाचों की भीड़ से मशान कैसा भयङ्कर देख पड़ता है।

घोर अँधेरिया मसान में रही चहूं दिसि छाय।
चिता जोति बिच बीच में चमकत है अधिकाय॥
नाचत कूदत फिरत हैं डाइन प्रेत सियार।
टेरत से इक एक को किल किल करत अपार॥

अब इनको पुकारूं—अरे ओ मशान के डाइन पिशाच!

काटो नर के अंग को बिन हथियार लगाय।
महा मांस हम देत हैं लेहु लेहु सब आय॥

(परदे के पीछे हुल्लड़ होता है)

अरे, हमारा पुकारना सुनते ही सारे मशान में गड़ बड़ मच गया। भूत प्रेत बेताल चिल्लाते हुए दौड़ रहे हैं। बड़ा अचरज है।

ज्वाल कढ़ैं जब कान कान लौं फारे सोई मुंह बावत हैं।
दांत खुले बरछी की अनी से इतै झपटे सब आवत हैं॥
बिज्जु सी मोछैं भवैं दृग केश सबै नभ में चमकावत हैं।
सूखे बड़े तन को उलका मुख ज्योति में नेक दिखावत हैं॥

अचाञ्चक माधव को एक दुखिनी युवती का सुरीला और भयानक स्वर सुनाई देता है।

"हाय चाचाजी, तुम जिसे निठुराई से राजा की भेंट किए देते थे अब वह मर रही है"।

इस स्वर से माधव अपरचित नहीं है वह मन्दिर में घुस जाता है और वहां मालती को वलि की भांति खड़े हुए देखता है जिसको कि चामुण्डा का भयानक पुजेरी अघोर-

घण्ट बलि देने के लिये प्रस्तुत है। कुछ तांत्रिक क्रियाओं के लिये कुमारी कन्या का बलि देना आवश्यक था और इस कार्य के लिये पद्मावती नगरी की यह सब से सुन्दर और सबसे पवित्र कन्या चुरा ली गई थी। मालती को स्वयं अपनी चोरी का पता नहीं था, वह कहती है।

"मैं कुछ नहीं जानती, मैं कोठे पर सो रही थी, जब जागी तो अपने को यहां देखा"।

माधव इस दुष्ट पुजेरी को मार कर अपनी प्रियतमा की रक्षा करता है। परन्तु इससे अधिक दुष्टा पुजेरिन कपाल-कुण्डला इसका बदला लेने का विचार करती है।

इसके उपरान्त हम बहुत सी छोटी छोटी घटनाओं को छोड़ देते हैं। अन्त में मालती माधव के साथ भागती है। राजा इन अपराधियों को पकड़ने के लिये सिपाहियों को भेजता है, परन्तु माधव उन्हें मार भगाता है और राजा उसकी वीरता के लिये उसे उदार हृदय से क्षमा कर देता है।

यहां पर यह नाटक राजा की आज्ञा से इन दोनों प्रेमियों का विवाह होने पर सुख से समाप्त हो जाता परन्तु भवभूति प्रकृति और मनुष्य के भावों का उत्तेजित वर्णन करने के लिये इस कथा को बढ़ाता है। उसकी घटनाएं और उसकी उलझन व्यर्थ बढ़ाई गई हैं, परन्तु इसका वर्णन अद्वितीय है। मालती को एक बार पुनः दुष्ट पुजेरिन कपालकुण्डला चुरा लेजाती है, और माधव उसकी खोज में विन्ध्य पर्वत पर जाता है, सौदामिनी जो कि पहिले एक बौद्ध पुजेरिन थी परन्तु जिसने अब योगा-भ्यास से दैविक शक्तियों का प्राप्त कर लिया है, माधव को

सहायता करने का संकल्प करती है, और उसके मुख से हमें उस स्थान का बड़ा अद्भुत वर्णन मिलता है।

"अरे मेरे उतरते ही पहाड़ नगर गांव नदी मानों किसी ने आंखों में डाल दिया। वाह, वाह—

एक ओर पारानदी वहै सुनिर्मल नीर।
एक ओर है सिन्धु सरि डोलत परम गंभीर॥
इन महँ पद्मावती लखै मानहुं धरे अकास।
मन्दिर फाटक अट्ट सब उलटे लखिय प्रकाश॥
ललित लहर की माल सहित लवना यह सोहै।
पावस ऋतु महँ नगर लोग कर सोइ मन मोहै॥
जासु तीर वनखण्ड घास मीठी उपजावैं।
रुचि सन भागि न जाय जहां चरि चरि सुख पावैं।

"अरे यह सिन्धु का झरना है जो रसातल तक फोड़े डालता है-

ऊंचे गिरि सन गिरि सरि नीरा।
गाजत मेघ समान गंभीरा॥
गुंजत शैल कुंज चहुं ओरा।
ज्यों गनेस चिघरन कर शोरा॥

देखो पहाड़ के तट पर चन्दन केसर और अश्वकर्ण का कैसा घना वन है। वेल पकने से कैसी सुगन्धि आरही है। इनको देखने से दक्खिन के पहाड़ों की सुध होती है, जिनके चारों ओर जामुन के घने वनों के अंधेरे में खोहों और घाटियों के बीच गोदावरी गरजती हुई चलती है।"

[सीताराम।]

अन्त में सौदामिनी अपने मंत्र बल से मालती को छुड़ाती है और उसका विवाह सुखपूर्वक माधव के साथ होता है।

भवभूति के अन्य दोनों नाटक रामायण से लिए गए हैं। उनमें से महावीरचरित्र में राम की बाल्यावस्था से लेकर लंकाविजय करने और सीता के सहित अपनी जन्म भूमि को लौटने तक की कथा का वर्णन है। यह नाटक निस्सन्देह भवभूति के अन्य नाटकों से घटता है परन्तु फिर भी उसमें बड़े ओजस्विता के वाक्य हैं। जहां पर प्राचीन राजा (जनक जो कि उपनिषदों का प्रगट करने वाला और क्षत्रियों को विद्या में ब्राह्मणों के बराबर कहने वाला था) जमदग्नि के पुत्र परशुराम की धमकी से क्रोधित हुआ है, सच्ची कविता देखने में आती है। यह राजा क्रोध से कहता है–

> "जन्मो भृगुमुनि वंश को यही तपसी मुनि ज्ञानी।
> सहीवेर लो रिपुहि की हम अति अनुचित वानी॥
> तृन समान हम सवन गनि करत जात अपमान।
> उठै धनुष एहि दुष्ट पर अब उपाय नहिं आन॥"
>
> [सीताराम।]

उस कवि की जन्मभूमि में गोदावरी के उद्गम का इस प्रकार वर्णन किया गया है।

"देखो यह प्रस्रवण नाम पहाड़ जनस्थान के बीच में है जिसका नीला रंग बार बार पानी के बरसने से मैला सा हो गया है और जिसकी कन्दरा घने पेड़ों के अच्छे वनों के किनारे गोदावरी के हलोरों से गूंज रही है।"

दूसरा नाटक उत्तररामचरित्र है जिसमें कि इसके उपरान्त की रामायण की कथा सीता के वनवास और राम का अपने पुत्र लव और कुश से मिलाप होने तक का वर्णन है। वर्णन और ओजस्विता मे यह नाटक मालती

माधव के बराबर है और कोमलता तथा करुणा के लिये वह संस्कृत साहित्य के किसी ग्रन्थ की बराबरी कर सकता है।

इसकी कथा रामायण की ही कथा है और इस कारण उसे विस्तारपूर्वक लिखने की अवश्यकता नहीं है। यह नाटक राम और सीता की बात चीत से आरम्भ होता है जो कि लङ्का से लौट कर आए है और अयोध्या के सिंहासन पर बैठे हुए हैं। दूसरे दृश्य में लक्ष्मण उन्हें राम के पूर्व चरित्र के चित्र दिखलाते हैं और कोमल सीता अपनी पूर्व आपत्ति के चित्रों को बिना दुःख के नहीं देख सकती। कवि निस्सन्देह अपनी प्रिय गोदावरी के लिये भी एक वाक्य लिख देता है

"जिस के खोहों के चारों ओर घने पेड़ों में अँधेरे वन में बहने से कैसा शोर होता है।"

और रामने वहां जो सुख के दिन व्यतीत किए थे उनका स्मरण हृदय वेधक वाक्यों में दिलाता है।

"स्मरसि सरसतीरां तत्र गोदावरीं वा
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि॥
किमपि किमपि मन्दं मन्दमासक्ति योगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिल परिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेवं व्यरंसीत्॥"

तब दुर्बल सीता जो कि उस समय गर्भवती थी विश्राम की इच्छा करती है और राम स्नेह के साथ उससे कहते हैं।

"आविवाहसमयाद् गृहे वने शैशवे ननु यौवने पुनः।
स्वापहेतुरनुपाश्रितोऽन्यया रामबाहुरुपधानमेष ते॥
सीता—अस्ति एतत् आर्यपुत्र अस्ति एतत्। . [स्वपिति]
रामः—कथं प्रियवचना वक्षसि सुप्तैव।
इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः।
अयं कंठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिक रसः
किमस्या न प्रेयो यदि पुनरसह्यो न विरहः॥

इस अन्तिम वाक्य को कवि ने चतुराई के साथ रख दिया है क्योंकि राम से सीता का फिर वियोग होने ही वाला है। सीता को नींद में छोड़ने के उपरान्त ही राम बड़े दुःख के साथ यह सुनता है कि रावण के यहां जाने के उपरान्त उसके उसे पुनः अंगीकार करने से उसको प्रजा को बड़ा असंतोष है। प्रजा का असन्तोष सहने में असमर्थ होने के कारण वह उनकी इच्छा को स्वीकार करता है और बिचारी सीता को निकाल देता है।

इसके उपरान्त फिर १२ वर्ष व्यतीत होगए। सीता ने बनवास के उपरान्त ही जिन दोनों पुत्रों को उत्पन्न किया था वे अब वलिष्ठ बालक होगए हैं और वाल्मीकि की शिक्षा में शस्त्र और विद्या में निपुण होगए हैं। सीता के दिन वन में बड़ी उदासी से व्यतीत होते हैं।

"परिपाण्डुदुर्व्वलकपोलसुन्दरं दधती विलोलकवरीकमाननम्।
करुणस्य मूर्त्तिरिव वा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी॥"

यह निश्चित होता है कि सीता को दैविक शक्तियों के द्वारा अदृश्य बना कर रामसे भेंट करानी चाहिए और

कवि यह भेंट अपनी गोदावरी के तट पर कराता है। वहां राम सीता की सखी वासन्ती के साथ घूमते हैं और सीता और तमसा भी रस को अदृश्य होकर वहाँ जाती हैं। वहां का प्रत्येक दृश्य राम को उन दिनों का स्मरण दिलाता है जब कि वह सीता के सहित यहां रहे थे और उनका हृदय दुःख से भर जाता है। और वासन्ती कटु तथा नम्र संकेत से राम को सीता पर अन्याय करने का स्मरण दिलाने में नहीं चूकती। भवभूति राम पर प्रजा की सम्मति के अधीन होने के लिये और अपनी निर्दोष, असहाय और प्रिय पत्नी को बनवास देकर उसपर अकथनीय अन्याय करने के लिये कुपित हुए बिना नहीं रह सकता। और यद्यपि इस कवि के हिन्दू हृदय में राम का सत्कार है तथापि हमारे पाठक देख सकते हैं कि इसने राम की अद्वितीय दुर्बलता और अपराध के विषय में अपने मन में बात प्रगट करने का निश्चय कर लिया है।

वासन्ती रामको स्मरण दिलाती है।

"एतत्तदेव कदलीवनमध्यवर्त्ति कान्तासखस्य शयनीयशिलातलं ते।
अत्र स्थिता तृणमदाद् बहुशो पदेभ्यः सीता ततो हरिणकैर्न विमुच्यतेस्म॥
राम--इदं तावदशक्यमेव द्रष्टुम्।

विचारी सीता जो कि उस समय उपस्थित थी और यद्यपि राम के लिये अदृश्य थी परन्तु वह इसे सहन नहीं कर सकती और कहती है।

"सखि वासन्ति किं त्वम् अपि एवं वादिनी भियार्हः खलु सर्वस्य आर्यपुत्रः विशेषतः मम प्रियसख्याः।"

परन्तु वासन्ती निष्ठुर है और राम से कहे जाती है।

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदीनयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण ॥"

राम व्यर्थ प्रजा की सम्मति पर टाल कर निर्दोषी बनते हैं। वासन्ती, वन में सीता की क्या दशा हुई होगी इस विषय में भयानक अनुमान करती है, राम करुणा से रोने लगते हैं। सीता अपने पति का दुःख अब नहीं देख सकती और वह तमसा से कहती है कि "देखो वे प्रमुक्तकंठ रो रहे हैं" परन्तु तमसा उत्तर देती है।

पूरोत्पीडे तड़ागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते ॥

यहां पर हमें ऐसा जान पड़ता है कि हम शेक्सपियर के मेकवेथ का अनुवाद पढ़ रहे हैं।

"Give sorrow words; the grief that does not speak
whispers the o'erfraught heart and makes it break."

और फिर भी विदर्भ का यह कवि शेक्सपियर से ८०० वर्ष पहिले हुआ है।

राम को इतनी बातें कही जाती हैं कि वे अन्त में मूर्छित हो जाते हैं। सीता जो कि स्वयं अदृश्य थी उस का सिर छूती है और इस प्रिय स्पर्श से राम यह कहते हुए उठ बैठते हैं

"सखि वासन्ति दिष्ट्या वर्द्धसे।"

और कहते हैं कि उन्हें सीता का स्पर्श जानपड़ा

"सखि कुतः प्रलापाः

गृहीतौ यः पूर्वं परिणयविधौ कङ्कणधर
श्चिरं स्वेच्छास्पर्शैरमृतशिशिरैर्यः परिचितः॥"

परन्तु सीता अब जाती है। उसे और तमसा को अब अवश्य जाना चाहिए परन्तु वह सहज में यहां से नहीं हट सकती।

"भगवति प्रसीद क्षणमात्रम् अपि तावत् दुर्लभं जनं प्रेक्षे।"

और जाने के पहिले व्यग्र होकर कहती है।

"नमः नम अपूर्वपुण्यजनितदर्शनेभ्यः आर्यपुत्रचरणकमलेभ्यः।"

हा बिचारी, निकाली हुई, दुखी सीता अपने प्रिय पति के चरण को नमस्कार करती है, उस पति को जिसने कि उसे अकेले निस्सहाय गर्भ के अन्तिम दिनों में बिना बिचारे दुर्वलता और निष्ठुरता से बन में निकाल दिया था। स्त्री के आत्मत्याग की सीमा इससे अधिक नहीं हो सकती, चिरस्थायी प्रेम का इससे बढ़ कर वर्णन कभी नहीं किया गया है। मनुष्य की कल्पना ने सुशील सदा प्रेम करने वाली और सब क्षमा करने वाली सीता से बढ़कर उत्तम, पवित्र और देव तुल्य चित्र नहीं खींच सकी है।

दूसरे स्थान पर कवि ने एक बार फिर राम के इस दुर्वल आचरण पर अपना पश्चाताप प्रगट किया है। प्राचीन राजा जनक जो कि अपने अधिकार और अपने पवित्र जीवन तथा वैदिक ज्ञान के लिये समान रीति से पूज्य थे अपनी कन्या के दुःख सुन कर बड़े क्रोधित होते हैं। जब वे राम के आचरण पर ध्यान देते हैं तो उनकी वृद्ध नसों का रुधिर गर्म हो जाता है और वे क्रोध में कहते हैं।

"अहो दुर्नर्यता पौराणाम् । अहो रामस्य राज्ञः क्षिप्रकारिता।
एतद्वै शववोरवज्रपतनं शश्वन्ननोत्पश्यतः।
क्रोधस्य ज्वलितुं धगित्यवसरश्चापेनशापेन वा॥

राम के अश्वमेध की कथा प्रसिद्ध है। घोड़ा छोड़ा जाता है और राम के पुत्र उसे रख लेते हैं और इस प्रकार अनजाने राम की सेना के साथ वैर करते हैं। लव और चन्द्रकेतु के मिलने का बहुत अच्छा वर्णन किया गया है। ये दोनों वीर युवा हैं जिनमें कि युद्ध का उत्साह भरा है परन्तु वे एक दूसरे के साथ विरोचित सुशीलता और सम्मान दिखलाते हैं। चन्द्रकेतु अपने रथ से उतरता है। यह क्यों?

"यतस्तावदयं वीरपुरुषः पूजितो भवति अपि खलु आर्य क्षात्र-धर्म्मश्चानुगृहीतो भवति। न रथिनः पादचारनायोधयन्ति इति शास्त्रविदः परिभाषन्ते।"

और यह यूरप में वीरता की उन्नति होने के कई शताब्दी पहिले लिखा गया था।

वाल्मीकि आनन्द सहित मिलाप करवा देते हैं जिनसे कि यह नाटक समाप्त होता है परन्तु यह कवि राम पर दूसरी चुटकी लिये बिना अपनी लेखनी नहीं रख सकता। राम के सम्मुख एक नाटक होता है और इस नाटक का विषय राम को अपनी पत्नी के त्याग करने का है। नाटक में सीता त्याग किए जाने के समय सहायता के लिये पुकारती है और आपत्ति और दुःख में अपने को गंगा में गिरा देती है राम इसे नहीं सह सकते और यह कहते हुए उठते हैं।

"हा देवि हा देवि । लक्ष्मण अपेक्षस्व ।"

उनके भाई लक्ष्मण उन्हें स्मरण दिलाते हैं ।

"आर्य्य नाटकमिदम् ।"

यहां पर पाठकों को हैमलेट नाटकांतरगत नाटक का स्मरण आवेगा जो कि हैमलेट के चाचा का दोष निश्चित करने के लिये रचा गया था । यह नाटक सुख से समाप्त होता है । राम सीता को अपने पुत्र लव और कुश के सहित ग्रहण करते हैं और अयोध्या के लोग पश्चाताप के साथ सीता के चरणों पर गिरते हैं ।

जब हम कालिदास और भवभूति का उल्लेख कर चुके तो संस्कृत साहित्य के सर्वोत्तम सब नाटकों का वर्णन होगया । उस समय में जिसे कि हम संस्कृत साहित्य का सर्वोत्तम काल कह सकते हैं सैंकड़ों नाटक बनाए और खेले गए होंगे परन्तु उनमें से केवल उत्तम ग्रन्थ बचे रहते हैं बाकी लुप्त हो जाते हैं । चिकनी चुपड़ी नकल वा निर्जीव ग्रन्थ समय का झोंक नहीं सह सकते । शेक्सपियर के कुछ प्रधान ग्रन्थ उस समय भी पढ़े जांयगे जब कि शेक्सपियर की भाषा बोल चाल की भाषा न रह जायगी परन्तु एलिज़बथ के १२०० वर्ष के उपरान्त पील, ग्रीन, मारलो और बेन जान्सन का कदाचित किसी को नाम भी स्मरण न रहेगा ।

जो हिन्दू नाटक अब वर्तमान हैं वा जिनका नाटक लिखने वालों ने उल्लेख किया है उनकी कुल संख्या प्रोफेसर विलसन साहब ने ६० से अधिक नहीं गिनी है । परन्तु इनमें से बहुतेरे बहुत इधर के समय के हैं और उनमें बहुत ही थोड़े ऐसे हैं जो कि कुछ उपयोगी वा प्रसिद्ध हों ।

ऊपर कहे हुए नाटकों के सिवाय आज कल जो नाटक साधारणतः प्रसिद्ध अथवा पढ़े जाते हैं वे ये हैं अर्थात मृच्छकटि, मुद्राराक्षस और वेणिसंहार। उनके विषय में एकाध दो वाक्य लिखना बहुत होगा।

मृच्छकटि राजा सूद्रक का बनाया हुआ कहा जाता है और उसके बनने का समय विदित नहीं है। परन्तु भीतरी प्रमाणों से यह विदित होता है कि यह उस उज्वल साहित्यकाल का बना हुआ है जो कि छठीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। उसकी लिखावट में इस काल के अन्य नाटकों से बहुत भेद नहीं है और उन्हीं की भांति उसके दृश्य का स्थान भी उज्जयिनी है। उसमें पौराणिक त्रि-मूर्ति अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, और शिव माने गए हैं (छठां अंक), बौद्ध लोग घृणा के पात्र हो गए थे परन्तु उन्हें दुःख देना अभी आरंभ नहीं हुआ था (७ वां अंक) और न्याय के लिये मनुस्मृति प्रमाण मानी गई है (९ वां अङ्क)। शेष बातों के लिये मृच्छकटि में राजाओं और रानियों का वर्णन नहीं वरन सामान्य अवस्था के पुरुष और स्त्रियों का वर्णन है। उससे हमें प्राचीन समय के नगरवासियों का जीवन तथा न्याय और राज्यप्रबन्ध, जुवा खेलने तथा अन्य पापों का वर्णन मिलता है और यह सब उनकी चाल व्यवहार का साधारण तथा यथार्थ चित्र है। जब हम इस काल की सभ्यता और चाल व्यवहार का वर्णन करेंगे तो हमें इस नाटक का बहुधा उल्लेख करना पड़ेगा।

मुद्राराक्षस नाटक इससे नवीन ग्रन्थ है और उसका ग्रन्थकार विशाखदत्त है। इस नाटक के अन्तिम वाक्यों में

विदित होता है कि जब यह ग्रन्थ बनाया गया था उस समय भारतवर्ष मुसल्मानों के हाथ में जा चुका था। उसकी मुख्य मनोरञ्जक बात यह है कि वह ईसा के लगभग ३२० वर्ष पहिले चन्द्रगुप्त को मगध का राज्य दिलाने में चाणक्य की सहायता करने का उल्लेख करता है। इसमें युक्तिवान बदला लेने वाले अत्याचारी और निष्ठुर चाणक्य तथा उदार, सरल स्वभाव, भलेमानस और सच्चे राक्षस के चरित्रों का बड़ी उत्तम रीति से भेद दिखलाया है।

वेणी संहार नाटक भट्टनारायण का बनाया हुआ कहा जाता है और लोग ऐसा कहते हैं कि यह उनमें से एक ब्राह्मण था जो कि आदिसुर के निमन्त्रण पर कन्नौज से बंगाल को आए थे। बंगाल में अब तक भी बहुत से ब्राह्मण अपने को इस ग्रन्थकार का वंशज मानते हैं। इस नाटक का विषय महाभारत से लिया गया है। द्रौपदी को जब युधिष्ठिर जूए में हार जाते हैं तो दुःशासन उ की बेणी अर्थात् चोटी पकड़ कर सभा में घसीट ले जाता है और वह यह पण करती है कि जब तक इसका पलटा नहीं लिया जायगा तब तक वह अपने बाल खुले रक्खैगी। इस-का पलटा भीम ने दुर्योधन को मार कर लिया और तब द्रौपदी के केश पुनः बांधे गए। इसमें प्रभावशाली वाक्य भी हैं परन्तु सब बातों पर ध्यान देने से इस नाटक की लिखा-वट कटु और अनगढ़ है और यह स्पष्ट है कि वह मुसल्मानों के भारत विजय के बहुत पहिले का नहीं बना है।
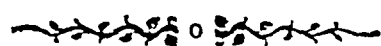
अध्याय १३

काव्य।

नाटक की नाईं काव्य में भी कालिदास का नाम ही सब से प्रथम है। जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उसमें संस्कृत के बहुत से महाकाव्य हैं जिनमें से दो सबसे उत्तम महाकाव्य कालिदास के हैं। इनमें से एक तो रघुवंश है जिसमें रघु के वंश का वर्णन है और दूसरा कुमारसम्भव है जिसमें युद्ध के देवता कुमार के जन्म की कथा है।

पहिले महाकाव्य में अयोध्या के राज्यवंश का वर्णन है जो कि इस वंश के संस्थापक से लेकर राम के वंश के अन्तिम राजाओं तक है। यह विषय काव्य के लिये उतना उपयुक्त नहीं है जितना कि इतिहास के लिये परन्तु कवि की बुद्धि ने सारी कथा को सजीव कर दिया है। राजाओं के जीवनचरित्रों के दृश्य का वर्णन महाकवि की पूरी शक्ति के साथ वर्णन किया गया है, वर्णन सदा उत्तम और प्रभाव शाली है बहुधा उसमें सच्ची कविता पाई जाती है और आदि से लेकर अन्त तक कालिदास की उत्तम और बड़ी कल्पना और उसकी कविता की अद्वितीय कोमलता का प्रभाव पाठकों के ऊपर रहता है।

इस समस्त ग्रन्थ में सब से आनन्दमय और अद्भुत कविता वहां है जहां कि राम लङ्का से सीता को जीतकर विमान पर चढ़ कर आकाश मार्ग से अयोध्या को लौटे जा रहे हैं। सारा भारतवर्ष, नदी, वन, पर्वत, और समुद्र इनके

नीचे है और राम अपनी कोमल और प्रिय पत्नी को भिन्न भिन्न स्थानों को दिखलाते हैं। इस वर्णन की सुन्दरता के सिवाय हमें यह अंश इसलिये मनोरञ्जक है कि छठीं शताब्दी मे उज्जयिनी के विद्वानों को भारतवर्ष का भूगोल विदित था इसका हमें भी कुछ ज्ञान प्राप्त होता है।

हमारी सम्मति में कुमारसम्भव में कालिदास की कल्पना अधिक बढ़ गई है। इस ग्रन्थ में वह किसी राज्य-वंश का इतिहास नहीं लिखता है वरन अपनी कल्पना शक्ति के पूर्ण भण्डार से शिव के लिये उमा की प्रीति और उनके आनन्दमय विवाह का वर्णन करता है।

उमा ने हिमालय पर्वत की कन्या की भांति जन्म लिया था और उससे अधिक कोमल सन्तान इस संसार में कभी नहीं हुई।

"स्थावर जंगम सब को, उसके होने से सुख हुआ अनन्त।
शोभित हुई उसे निज गोदी में लेकर माता अत्यन्त॥
चन्द्रकलावत नित दिन दिन वह बढ़ने लगी रूप की खान।
चढ़ने लगी लुनाई तन में परम रम्य चांदनी सम न॥

(महावीर प्रसाद द्विवेदी)

इस कन्या की बाल्यावस्था का वर्णन बड़ी ही सुन्दरता और मधुरता के साथ किया गया है इस कन्या के लिये एक बड़ा भविष्य उपस्थित है। देवता लोग प्रतापी शिव के साथ उसका विवाह कराना चाहते हैं क्योंकि इस विवाह से जो बालक उत्पन्न होगा वह देवताओं के लिये असुरों को जीतेगा। इस समय शिव हिमालय पर्वत पर समाधि में मग्न हैं और यह निश्चय किया जाता है कि उमा इस

महान देवता की दासी की नाईं सेवा करे और उसकी सब आवश्यकताओं का प्रबन्ध करे। पवित्र वस्त्र धारण किए हुए तथा फूलों से सुशोभित उमा की मूर्ति का ध्यानावस्थित शिव की सेवा करने लिये पुष्प एकत्रित करने और उसको यथोचित दण्डवत करने का जो वर्णन है उससे अधिक मनोहर और प्रबल कल्पना का स्मरण हम लोगों को नहीं हो सकता। दण्डवत करने में वह इतनी झुकी कि उसके बालों से वह सुन्दर फूल गिर पड़ा जो उस रात्रि को प्रदीप्त कर रहा था।

शिव ने पूजा से प्रसन्न होकर वरदान दिया।

"पावै तू ऐसा पति जिसने देखी नहीं अन्य नारी।"

सब बातें अभीष्ट मनोरथ को सफल करने के लिये ठीक हुई होतीं यदि प्रेम के दुष्ट देवता कामदेव ने हस्तक्षेप न किया होता। वह शिव की दुर्बलता के समय की प्रतीक्षा करता है और उस समय अपना कभी न चूकने वाला बाण छोड़ता है। अब कवि योगिराज शिव पर इस बाण के प्रभाव का वर्णन करता है।

राकापति को उदित देख कर क्षुब्ध हुए सलिलेश समान,
कुछ कुछ धैर्यहीन होकर के, संयमशील शम्भु भगवान।
लगे देखने निज नयनों से, सादर, साभिलाष, सस्नेह,
गिरजा का बिम्बाधर-धारी मुखमण्डल शोभा का गेह॥
खिले हुए कोमल कदम्ब के फूल तुल्य अङ्गों द्वारा,
करती हुई प्रकाश उमा भी अपना मनोभाव सारा।
लज्जित नयनों से भूमिष्ट सी वहीं देखती हुई मही,
अति सुकुमार चारुतर आनन तिरछा करके खड़ी रही॥

महा जितेन्द्रिय थे; इस कारण, महादेव ने, तदनन्तर,
अपने इस इन्द्रियक्षोभ का बलपूर्वक विनिवारण कर।
मनोविकार हुआ क्यों ? इसका हेतु जानने को सत्वर,
चारों ओर सघन कानन में प्रेरित किए विलोचन वर॥
नयन दाहिने के कोने में मुट्ठी रक्खे हुए कठोर,
कन्ध झुकाए हुए, वाम पद छोटा किये भूमि की ओर।
धनुष बनाए हुए चक्र सम, विशिख छोड़ते हुए विशाल,
मनसिज को इस विकट वेश में त्रिनयन ने देखा उस काल॥
जिनका कोप विशेष बढ़ा था तपोभंग होजाने से,
जिनका मुख दुर्दर्श हुआ था भृकुटी कुटिल चढ़ाने से।
उन हर के, तृतीय लोचन से तत्क्षण ही अति विकराला,
अकस्मात अग्निस्फुलिङ्ग की निकली दीप्तिमान ज्वाला॥
"हा हा! प्रभो! क्रोध यह अपना करिए करिए करिए शान्त,"
इस प्रकार का विनय व्योम में जब तक सब सुर करैं नितान्त।
तब तक हर के दृग से निकले हुए हुताशन ने सविशेष,
मन्मथ के मोहक शरीर को भस्मशेष कर दिया अशेष॥
(महावीर प्रसाद द्विवेदी)

कामदेव की स्त्री अपने पति की मृत्यु पर विलाप करती है और उमा शोक और दुःख के साथ वन में जाकर तपस्या आरम्भ करती है। कवि यहां पर इस सुकुमार और कोमल कन्या की कठोर और असह्य तपस्या का पुनः प्रभावशाली वर्णन करता है। ग्रीष्म ऋतु प्रबल आंच के बीच व्यतीत होती है। शरद ऋतु में वह वृष्टि में पड़ी रहती है और शीत ऋतु की वायु भी उसे अपने व्रत से विचलित नहीं कर सकती।

एक युवा योगी इस कोमल युवती की कठोर तपस्याओं का कारण पूछने के लिये आता है। उमा की सखियां

उसे उसका कारण बतलाती हैं परन्तु योगी उसे विश्वास नहीं कर सकता कि ऐसी सुकुमार कन्या शिव जैसे प्रेमशून्य देवता से प्रेम करे जो कि देह में भस्म लगाए रहते हैं और श्मशानों में घूमते हैं।

"उस द्विज ने इस भांति दिया जब उलटा अभिमाय सारा।
कोप प्रकाशित किया उमा ने कम्पित अधरों के द्वारा।"

(महावीर प्रसाद द्विवेदी)

वह इस असभ्य योगी को उत्तेजित उत्तमता के साथ इस महान देवता के प्रताप का वर्णन करती है जिसे कि कोई नहीं जानता और कोई समझ नहीं सकता और वह क्रोध और घृणा के साथ उस स्थान से चली जाती है।

यह कह कर कि यहां से मैं ही उठ जाऊंगी, वह बाला,
उठी सवेग कुचों से खिसका पावन पट वल्कलवाला।
अपना रूप प्रकट करके, तब, परमानन्दित हो, हँस कर,
पकड़ लिया कर से उसको शङ्कर ने उस अवसर पर॥
उनको देख, कम्पयुत धारण किए स्वेद के बूंद अनेक,
चलने के निमित्त ऊपर ही लिए हुए अपना पद एक।
शैल मार्ग में आजाने से आकुल सरिता तुल्य नितान्त।
पर्वत-सुता न चली, न ठहरी; हुई चित्र खींची सी भ्रान्त॥

(महावीर प्रसाद द्विवेदी)

हां, वह स्वयं शिव ही थे जिन्होंने कि प्रीति करना अस्वीकार किया था परन्तु अब उमा की तपस्याओं से संतुष्ट और प्रसन्न होकर इस पर्वत की कन्या उमा के स्नेह की नम्रता के साथ प्रार्थना की।

कालिदास के छोटे काव्यों में सब से उत्तम और मृदु मेघदूत है। इसकी कथा सरल है। एक यक्ष अपनी स्त्री

"ठैर के नेक तहां चलियो बरसावन नीर नई बुंदियान तें ।
सींचत नाग नदी तट बागन छाइ चमेली रही कलियानतें ॥
दै छिन छांह कौ दान सखा करियो पहचान तू मालिनयान तें ।
कान के फूल गए जिन के कुम्हलाइ से पोंछत स्वेद मुखान तें ॥
तो दिश उत्तर चालनहार के मारन के तौहूं फेर परे किन ।
वा उज्जयनि के आछे अटा पर से बिन तू चलियो कितहूं जिन ।
चंचल नैन वहां अबलान के बिज्जु छटा चक चौंधे करैं छिन ॥
जो न लख्यो उन नैनन तू हकनाहक देह धरे ही फिरे किन ॥
... ...

ख्यात है अवन्ती जहां केतेक निवास करैं
पण्डित जनध्या उदयन की कथान के ।
जाइ के तहां प्रवेश कीनो वा विशाला बीच
देख लीजो शोभा साज सकल जहान के ॥
भूमि ते गए जो नर देव लोक भोगिवे कों
करि करि काज बड़े धर्म औा प्रमाण के ।
तेई फेर आए सँग शास्भाग स्वर्ग लाए
प्रबल प्रताप मनो सब पुन्न दान के ॥
प्रात काल फूले नित कंजन ते भेटि भेटि
रंजन हिये कैा होत गन्ध सरसानो है ।
दीरघ करत मद माते बोल सारस के
सुरन रसीले करत गान मुख माने है ।
एते गुन साथ तात शिपरा नदी कैा वात
पीतम समान बीनती में अति सयानो है ।
सुरत ग्लानि हरत सोई तहां नारिन की
गात हितकारी जान याही ते बखानो है ॥"

[लक्ष्मणसिंह]

भारवि जो कि कालिदास का समकालीन और उत्तरा-धिकारी था वह महान् और सच्चे कवि के सब गुणों में

कालिदास से कहीं घट कर है । कल्पनाशक्ति में सभी कोमलता और मनोहरता में और मधुरता तथा पद्य के सुस्वर में भी कालिदास उससे कहीं बढ़ कर है, परन्तु फिर भी भारवि में विचार और भाषा की वह प्रबलता तथा उसकी लेखनी में वह उत्तेजक और उग्र भाषा पाई जाती है, जिसकी कि समानता कालिदास में बिरले ही कहीं है । भारवि का केवल एक ही महाकाव्य अर्थात् किरातार्जुनीय ही हम लोगों को अब प्राप्त है और वह संस्कृत भाषा का एक सब से प्रबल और उत्तेजक काव्य है ।

इसकी कथा महाभारत से ली गई है । युधिष्ठिर बनबास में हैं, और उनकी पत्नी द्रौपदी उन्हें अपने चचेरे भाइयों के साथ प्रतिज्ञा भंग करके अपने राज्य को पुनः जीत लेने के लिये उत्तेजित करती है, अभिमानी और दुःखप्राप्त स्त्री के उत्तेजित वाक्यों में वह दिखलाती है कि शान्ति और अधीनता स्वीकार करना क्षत्रियों के योग्य नहीं है, अधर्म्मियों के साथ धर्म्म का व्यवहार नहीं करना चाहिए, दुर्बलता और पदत्याग से राज्य और यश की प्राप्ति नहीं होती ।

"तुम उरीस कहँ नाथ सुजाना ।
होत ताहि सिख गारि समाना ॥
पै यहि दुन मरजाद नशावत ।
चित्त दु:ख करि ढीठ बुलावत ॥
... ... : ...
अब यह टील तजहु नर नाहू ।
करहु वेगि रिपु वधन उपाऊ ॥
जन सन रिपु मारत मुनि लोगा ।

श्रम नहिं कबहुं नृपन के योगा ॥

...　　..　　...　　...　　...

विक्रम तजि तुम्हार जो टेका ।
क्षमा करब सुख साधन एका ॥
नृप लक्षण तो धनु सर त्यागी ।
जटा बांधि होहु मख भागी ॥”

(सीताराम)

युधिष्ठिर का जोशीला भाई भीम द्रौपदी का समर्थन करता है, परन्तु युधिष्ठिर उनके कहने से विचलित नहीं होते। इसी बीच में व्यासजी जो कि वेदों के बनाने वाले समझे जाते हैं, राजा को बनवास में देखने आते हैं और वे अर्जुन को तपस्या के द्वारा उन स्वर्गीय शस्त्रों के प्राप्त करने की सम्मति देते हैं जिनसे कि युद्ध के समय में वह अपने शत्रुओं को जीत लेगा। इस उपदेश के अनुसार अर्जुन अपने भाइयों से जुदा होता है और द्रौपदी उसे इस कार्य्य को करने के लिये उत्तेजित वाक्यों में जोर देती है। अर्जुन हिमालय पर्वत के एकान्त स्थान में जाकर अपनी तपस्या आरम्भ करता है।

इस काव्य के किसी अंश से भारवि की कविता शक्ति ऐसी अधिक प्रगट नहीं होती जितनी कि अर्जुन की तपस्या के वर्णन में। उसके स्वाभाविक अभिमान और बल की मिलान उसके इस शान्त कार्य्य से अद्भुत रीति के साथ की गई है, और उसकी उपस्थिति का प्रभाव उसकी शान्त कुटी के जीवधारी और निर्जीव वस्तुओं पर भी होता है। इन्द्र का दूत इस अद्भुत योगी को देखता है और इसकी सूचना इन्द्र को देता है।

"बसकल बसन लसत निज अंगा ।
तेज पुंज सोइ बनहुं पतंगा ॥
करत घोर तप शैल तुम्हारे ।
जग जीतन लालस जनु धारे ॥
यदपि भुजंग सरिस भुज दंडा ।
गहे धनु त्रासन को दंडा ॥
शुद्ध चरित मुनि गन अधिकाई ।
तिन निज चरितावली जनाई ॥
नव तृनयुत महि सुखद समीरा ।
धूर दवन हित बरसत नीरा ॥
नभ रह विमल तासु गुन देखी ।
करत प्रकृति जनु भक्ति विशेखी ॥
छांड़ि बैर मृग बने सनेही ।
गुरुहि शिष्य सम सेवत तेही ॥
फूल काज जब हाथ उठावत ।
रूख आप निज डार झुकावत ॥
नभ पर भयो तासु अधिकारा ।
यदपि कहावत न्यय तुम्हारा ॥
श्रम सन थकै तासु नहिं देहा ।
जय समर्थ सोई बिन देहा ॥
सो मुनि भेष जात पुनि पासा ।
लखि प्रभाव उपजै मन त्रासा ॥
है ऋषि सुत कै राज कुमारा ।
कै कोउ दैत्य लीन्ह अवतारा ॥
करत यदपि तप तब मन माहीं ।
तासु रूप जान्यो हम नाहीं ॥"

(सीताराम)

इन्द्र इस समाचार से बड़ा प्रसन्न होता है क्योंकि अर्जुन उसका पुत्र है और इन्द्र उसकी सफलता चाहता है। परन्तु फिर भी वह अन्य योगियों की भांति अर्जुन की भी परीक्षा करना चाहता है, और हमारे वीर को अपनी कठोर तपस्या से ललचाने के लिये अप्सराओं को भेजता है। हमारे ग्रन्थकार ने इन सुन्दर अप्सराओं का वर्णन ४ अध्यायों में दिया है, जिनमें उसने दिखलाया है कि ये अप्सराएं किस भांति फूल बटोरती थीं, जल बिहार करती थीं और नवीन सुन्दरता के साथ इस एकान्तबासी योगी के सम्मुख उपस्थित होती थीं।

यद्य तप सों परो पियरो शस्त्र-सज्जित धीर।
वेद सम गंभीर तहं उन लख्यो अर्जुन वीर॥
खड़ो इकलो शिखर पर द्युति आवरण तन सेव।
यामिनी पति सरिस सुन्दर मनहुं कोउ वनदेव॥
यदपि तप सों सूखि के सब अंग हैं पियरान।
तदपि शान्त कुटीर में वह अगम और महान॥
यदपि इकलो बली तौ हू अमित कटक समान।
यदपि तपसी तदपि है वह इन्द्र सम बलवान॥

यह ऐसा वीर था जिसके सम्मुख ये अप्सराएं हुईं, और यह ऐसा योगी था जिसे कि उन्होंने व्यर्थ ललचाने का यत्न किया। इन अप्सराओं को कुछ लज्जित होकर लौट जाना पड़ा और तब स्वयं इन्द्र एक वृद्ध योगी के वेष में अर्जुन को अपनी तपस्याओं से विचलित करने को आया जिस भांति कि कालिदास के शिव उमा को अपनी तपस्या से विचलित करने के लिये आए थे। यह वेषधारी

देवता अर्जुन को संसारी महत्व की अनस्थिरता, अधिकार और यश की अभिलाषा करने की मूर्खता और वास्तविक पुण्य और मुक्ति की अभिलाषा की बुद्धि का उपदेश देता है परन्तु इन सब उपदेशों से अर्जुन अपने संकल्प से विचलित नहीं होता।

अति पुनीत पिता तव सीख है। पर नहीं मम जोग सु दीख है॥
नखत मंडित ज्यों नभ रैन को। दिवस की द्युति में नहिं सोहतो॥

चाहत धोवन आज आपनो वह कलंक हम।
रहत दिवस निसि सदा हृदय को जो छेदत मम॥
उन अंसुवन सों जाहि शत्रु की विधवा नारी।
कबहुँ निहत पति हेतु गिरइहैं अवनि मझारी॥
यदि यह आशा वृथा मोरि सब तुम्हैं लखाई।
तऊ व्यर्थ अनुरोध सकल तव-छमौ ढिठाई॥
जौ लौं शत्रुहिं जीति दलित करिहौं मैं नाहीं।
नसी कीर्त्ति निज बहुरि थापिहौं नहीं जग माहीं॥
मुक्ति लोभ सू सकत नाहिं बाधा कछु डारी।
यहि ऊंचे संकल्प माहिं मम लेहु विचारी॥

इन्द्र इस दृढ़ संकल्प से जो कि न तो ललचाने से और न ज्ञान से विचलित हो सकता है अप्रसन्न नहीं होता। और वह अपने को प्रगट करता है और इस वीर को स्वर्गीय शस्त्रों को प्राप्त करने के लिये शिव की आराधना करने का उपदेश देता है और कहता है कि केवल वही इन शास्त्रों को दे सकता है।

एक बार वह पुनःतपस्या और कठोर व्रतों में लगता है, यहां तक कि इसकी कठोर तपस्या का समाचार स्वयं शिव के कान तक पहुंचता है। अब शिव इस पुण्यात्मा क्षत्रिय

से मिलने के लिये आते हैं, उसे तपस्या से विचलित करने के लिये सुद्ध के वेष में नहीं वरन उसके बल की परीक्षा करने के लिये योधा के वेष में । वह किरात अर्थात् जंगली शिकारी का वेष धारण करते हैं और एक बड़ा सूअर जो कि अर्जुन पर आक्रमण करने के लिये आया था मारा जाता है। अर्जुन और वेषधारी शिव दोनों इस पशु के मारने का दावा करते हैं और इस प्रकार एक झगड़े का आरम्भ होता है और दोनों में युद्ध होने लगता है जिसे कि हमारे ग्रन्थकार ने पूरे छः अध्यायों में वर्णन किया है ।

यह युद्ध यद्यपि प्रभावशाली और उत्तेजित वाक्यों से भरा हुआ है तथापि वह उस अतिशयोक्ति में लिखा गया है जो कि हिन्दू कवियों में आम तरह से पाई जाती है। सर्पबाण, अग्निवाण और वृष्टिबाण छोड़े जाते हैं यहां तक कि आकाश फुफकारते हुए सर्पों, धधकती हुई अग्नि और वृष्टि की धारा से भर जाता है ! परन्तु इन सब अद्भुत शस्त्रों से अर्जुन का कार्य नहीं हुआ और उसको बड़ा आश्चर्य्य हुआ कि यह जङ्गली किरात उसके सब शास्त्रों का जवाब अधिक बलवान शस्त्रों से देता रहा और अपने समय के सब से निपुण योधा से कहीं बढ़कर था ।

कठिन कौशल देखि किरात को चकित अर्जुन शत्रु विघातक ।
चुप रहे वहु संशय में परे । तव उठीं मन में यह भावना ॥

योधा महा अति बलिष्ट रहे जहां ही ।
जाके भिरयों अरु परास्त कियों तहां ही ॥
क्या भानु दीन वनि चन्दहिं सीस नावै ।
हा क्या गंवार इक अर्जुन को गिरावै ॥
है इन्द्रजाल अथवा यह स्वप्न कोई ।

हूं मैं यथार्थ महं अर्जुन वीर सोई ॥
क्यों हा अपार वल मोर चलै न आपै।
वे सीख की इस वनेचर की कला पै ॥
नभ चाहत है दुइ टूक कियो। गहि भूतल पिंड कंपाइ दियो ॥
लरतो किहि भांति गंवार अरे। निहचै कोउ रुप छिपाय लरे ॥
जग द्रोण न भीष्महिं देखि परैं। अस घात वचाइ जो वार करैं ॥
वन को चर एक गंवार महां। अस युक्ति अलौकिक पावे कहां ॥

अन्त में सब शस्त्रों से विहीन होने पर अर्जुन अपने अजीत शत्रु पर मल्लयुद्ध करने के लिये टूटता है। यह मल्ल युद्ध वहुत समय तक होता है, और शिव जो कि सामान्य योधा नहीं थे अर्जुन पर आक्रमण करने के लिये उछल कर हवा में जाते हैं और अर्जुन उनका पैर खींच कर उन्हें गिराना चाहता है। इसको हमारा महान देवता सहन नहीं कर सकता, एक सच्चा भक्त उसका पैर पकड़े हुए है, अतः वह अपने को प्रगट करता है और इस देवतुल्य योधा को आशीर्वाद देता है, उसे उसके वांछित शस्त्रों को देता है जिससे कि वह अपना राज्य और यश प्राप्त कर सकता है।

भारवि का प्रसिद्ध काव्य इस प्रकार का है। उसमें कोई मनोरञ्जक कथा वा कोई विलक्षण कल्पना नहीं है। पर उसके विचार और वाक्यों में वह प्रभाव और प्रबलता पाई जाती है जिसने कि इस ग्रन्थ को प्राचीन हिन्दुओं के अविनाशी ग्रन्थों में स्थान दिया है।

अब सातवीं शताब्दी में हमें चीन के यात्री इत्सिंग से विदित होता है कि कवि भर्तृहरि शीलादित्य द्वितीय के समय में थे। भर्तृहरि के शतकों से विदित होता है कि वे

हिन्दू थे परन्तु फिर भी इन शतकों में उनके समय के बौद्ध विचारों के चिन्ह मिलते हैं। यहां इनमें से कुछ श्लोकों के उद्धृत करने से पाठकों को भर्तृहरि की कविता को कुछ ज्ञान हो जायगा।

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभंगेप्यसुकरं।
असंतो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः।
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम्॥

प्राणाघातान्निवृतिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम्।
तृष्णास्रोतोविभंगो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः॥

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्।
सौजन्यं यदि किं गुणैः स्वमहिमा यद्यस्ति किं मंडनैः
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना॥

अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीश्महे यावदित्थं
शूरस्त्वं वादिदर्पज्वरशमनविधावक्षयं पाटवं नः॥
सेवन्ते त्वां धनाढ्या मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामा
मय्यप्यास्थानचेत्तत्त्वयि मम सुतरामेष राजन्गतोस्मि।

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः
स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः।
मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालानलं
स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तयः॥

शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्रं तरूणां त्वचः
सारंगाः सुहृदो ननु क्षितिरुहां वृत्तिः फलैः कोमलैः।

येषां निर्भ्भरमम्बुपानमुचितं रत्येव विद्यांगना
मन्ये ते परमेश्वराः शिरसिः यैर्वद्धो न सेवाञ्जलिः ॥

उपरोक्त कविता से हमारे पाठकों को प्रोफेसर लेसन साहब की यह सम्मति समझ में आजायगी कि यह भर्तृहरि के काव्य की सुन्दरता और तीक्ष्णता ही है जो कि उसे भारतवर्ष के साहित्य में प्रसिद्ध बनाती है और जिस पूर्ण निपुणता के साथ ये श्लोक बनाए गए हैं वे उन्हें भारतवर्ष के सब से उत्तम काव्यों में गणना करे जाने के योग्य बनाते हैं।

हम पहिले देख चुके हैं कि भट्टीकाव्य नाम का एक महाकाव्य भी सम्भवतः भर्तृहरि का बनाया हुआ है। इसमें रामायण की कथा संक्षेप में कही गई है और इस ग्रन्थ में विशेषता यह है कि वह व्याकरण सिखलाने के लिये बनाया गया है। धातु के सब रूप जिनका स्मरण रखना कि कठिन है, और शब्दों के सब कठिन रूप सुस्वरयुक्त पद्य में दिए गए हैं जिसमें कि इस काव्य को जानने वाला विद्यार्थी संस्कृत का व्याकरण जान जाय। इस काव्य में कालिदास की कविता का सैान्दर्य्य अथवा भारवि की कविता की उत्तानता नहीं है परन्तु शब्दों और वाक्यों की रचना पूर्ण और अद्वितीय तथा शतक के ग्रन्थकर्ता के योग्य है।

हिन्दू विद्यार्थी अन्य दो महाकाव्यों का भी अध्ययन करते हैं परन्तु वे पीछे के समय के हैं और सम्भवतः ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में बनाए गए थे जब कि भारतवर्ष राजपूतों के अधीन होगया था। इनमें से पहिला तो श्रीहर्ष का बनाया हुआ नैषध है और दूसरा माघ का

शिशुपालबध। इन दोनों की कथाएं महाभारत से ली गई हैं।

नैषध में नल और दमयन्ती की प्रसिद्ध कथा है जो कि महाभारत की कथाओं में एक सब से हृदयवेधक है। डाकृर बुहलर साहेब इस काव्य के बनाने का समय १२ शताब्दी नियत करते हैं। राजशेषर ने इस कवि का जन्म बनारस में लिखा है, परन्तु वह निस्सन्देह बंगाल से भी परिचित था और विद्यापति ने श्रीहर्ष को बंगाली लिखा है। यह अनुमान सम्भव है कि वह पश्चिमोत्तर प्रदेश से बंगाल में जाकर बसा हो।

शिशुपाल बध में कृष्ण के अहंकारी राजा शिशुपाल को बध करने की कथा है जैसा कि इस ग्रन्थ के नाम ही से विदित होता है। इसमें भारवि के किरातार्जुनीय की नकल है और ग्रन्थकार ने सम्भवतः अपना नाम माघ (जाड़े का मास) यह प्रगट करने के लिये रक्खा है कि उसने भारवि (जिसका अर्थ सूर्य है) का यश छीन लिया है। भोज-प्रबन्ध के अनुसार वह ग्यारहवीं शताब्दी में धार के राजा भोज का समकालीन था।

समस्त संस्कृत भाषा में सब से सुन्दर राग का गीत गीतगोविन्द है जिसे बङ्गाल के जयदेव ने बारहवीं शताब्दी में लिखा है।

जयदेव लक्ष्मण सेन की राज्य सभा का कवि था जैसा कि उसके काव्य की एक प्राचीन प्रति के अन्तिम भाग से प्रमाणित हुआ है जिसे डाकृर बुहलर ने काश्मीर में पाया था। उसने इस राजा से कविराज की पदवी पाई थी।

उसके काव्य में कृष्ण और राधा की प्रीति का विषय है। यहां पर एक उद्धरण ही बहुत होगा। उसमें कृष्ण का अन्य सखियों से विहार करने का तथा पांचों इन्द्रियों अर्थात् घ्राण दृष्टि, स्पर्श, स्वाद और श्रवण को सन्तुष्ट करने का वर्णन है।

चंदनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली।
केलिचलन्मणिकुंडलमंडितगंडयुगस्मितशाली॥
हरिरिह मुग्धवधूनिकरे विलासिनि विलसति केलि परे।
पीनपयोधरभारभरेण हरिं परिरभ्य सरागम्॥
गोपवधूरनुगायति काचिदुदंचितपंचमरागम्।
क्वापि विलासविलोलविलोचन खेलनजनितमनोजम्॥
ध्यायति मुग्धवधूरधिकं मधुसूदनवदनसरोजम्।
कापि कपोलतले मिलिता लपितुं किमपि श्रुतिमूले॥
चारु चुचुंब नितंबवती दयितं पुलकैरनुकूले।
केलिकलाकुतुकेन च काचिदमुं यमुनाजलकूले॥
मंजुलवंजुलकुंजगतं विचकर्ष करेण दुकूले।
करतलतालतरलवलयावलिकलितकलस्वनवंशे॥
रासरसे सह नृत्यपरा हरिणा युवतिः प्रशशंसे।
श्लिष्यति कामपि चुंबति कामपि रमयति कामपि रामाम्॥
पश्यति सस्मितचारु परामपरामनुगच्छति वामाम्।

अध्याय १४

कहनी।

प्राचीन समय के लोगों को भारतवर्ष विज्ञान और काव्य के लिये उतना विदित नहीं था जितना कि कथा और कहानियों के लिये। सब से प्राचीन आर्य कहानियां जो अब तक मिलती हैं जातक कथाओं में हैं जिनका समय ईसा के कुछ शताब्दी पहिले से है और डाक्टर रहेज डेविस साहब ने दिखलाया है कि उसमें से बहुतों का प्रचार यौरप के भिन्न भिन्न भागों में हुआ और उन्होंने आजकल अनेक भिन्न भिन्न रूप धारण कर लिए हैं।

पंचतंत्र की कहानियां अपने आधुनिक रूप में सहज और सुन्दर संस्कृत गद्य में संकलित की जाने के सम्भवतः कई शताब्दी पहिले से भारतवर्ष में प्रचलित थीं। इस ग्रन्थ का अनुवाद नौशेरवां के राज्य में (५३१-५७२ ई०) फारसी में किया गया था और इस कारण यह निश्चय है कि यह संस्कृत का ग्रन्थ यदि अधिक पहिले नहीं तो छठीं शताब्दी में तो अवश्य बन गया था। फारसी अनुवाद का उलथा अरबी भाषा में हुआ और अरबी से समीअन सेठ ने सन १०८० के लगभग इसका युनानी भाषा में अनुवाद किया। फिर युनानी से इसका उलथा लेटिन भाषा में पोसिनस ने किया। और इसका हीब्रू भाषा में अनुवाद रेबो जोल ने सन १२५० के लगभग किया। अरबी अनुवाद का एक उल्था स्पेन की भाषा में सन् १२५१ के लगभग प्रकाशित हुआ।

जर्मन भाषा का पहिला अनुवाद १५ वीं शताब्दी में हुआ और उस समय से इस ग्रन्थ का अनुवाद युरोप की सब भाषाओं में हो गया है और वह पिलपे वा विडपे की कहानियों के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार कई शताब्दियों तक संसार के युवा लोग पशुओं की इन सरल परन्तु बुद्धिमानी कहानियों से प्रसन्न होते थे जिन्हें कि एक हिन्दू ने अपने देश की प्रचलित कहानियों से संकलित किया था।

जब हम छठीं शताब्दी से सातवीं शताब्दी की ओर देखते हैं तो इसमें संस्कृत पद्य में बड़ा परिवर्तन देख पड़ता है। इस शताब्दी में अधिक अलंकृत और कठिन परन्तु उच्च और बनावटी भाषा में भड़कीले ग्रन्थ बनाए गए। दण्डी ने अपना दशकुमारचरित्र सम्भवतः ७ वीं शताब्दी के आरम्भ ही में बनाया है इस ग्रन्थ में जैसा कि उसके नामही से प्रगट होता है दस कुमारों की कहानी है जिन पर कई घटनाएं और विशेषतः अलौकिक घटनाएं हुईं। इस ग्रन्थ की भाषा यद्यपि अलंकृत और बनावटी है तथापि कादम्बरी की भाषा के इतनी वह फ़जूल नहीं है।

कादम्बरी का प्रसिद्ध ग्रन्थकार बाण भट्ट, जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं शीलादित्य द्वितीय की सभा में था और उसने रत्नावली नाटक बनाया है तथा हर्षचरित्र नामक शीलादित्य का जीवनचरित्र बनाया है। बाण भट्ट का पिता चित्रभानु और उसकी माता राज्यदेवी थी और बाण जब केवल १४ वर्ष का था उस समय चित्रभानु की मृत्यु हो गई। भद्रनारायण ईशान और मयूर बाण भट्ट के बाल्यावस्था के मित्रों में से हैं!

कादम्बरी की कहानी मनमानी और थकानेवाली है। उन्हीं दोनों प्रेमियों के कई जन्म होते हैं और फिर भी उन का एक दूसरे के साथ वही अटल प्रेम बना रहता है। इस में उत्कट काम, नितान्त शोक, अटल प्रेम और भयानक एकान्त में कठोर तपस्याओं के दृश्यों का वर्णन बड़े पराक्रम और भाषा के बड़े गौरव के साथ किया गया है। परन्तु इसके पात्रों में चरित्र बहुत कम पाया जाता है। वे सब भाग्य परिवर्तन तथा उन विचारों के अधीन देख पड़ते हैं जो कि प्रारब्ध के कारण होता है। इसी को दिखलाने में हिन्दू ग्रन्थकारों को बड़ा आनन्द होता है। हिन्दुओं के कल्पना पूर्ण ग्रन्थों में संसार के साधारण दुखों को सहन करने वा उनका सामना करने के दृढ़ संकल्पों का वर्णन बहुत ही कम मिलता है। शेष बातों के लिये इस ग्रन्थ की भाषा में अद्भुत बल होने पर भी वह अलंकृत और व्यर्थ बढ़ाई हुई है और बहुधा एकही वाक्य जिसमें बहुत से विशेषण और लम्बे लम्बे समास भरे हैं और जिसमें उपमा तथा अलंकार बहुत ही अधिक पाया जाता है, कई पृष्ठों तक चला गया है।

सुबन्धु भी उसी राज्य में था और उसने वासवदत्ता लिखी। राजकुमार कंदर्पकेतु और राजकुमारी वासवदत्ता एक दूसरे को स्वप्न में देख कर परस्पर मोहित हो गए। राजकुमार कुसुमपुर (पाटलीपुत्र) में गया। वहां राजकुमारी से मिला और उसे एक हवा में उड़ने वाले घोड़े पर चढ़ा कर विन्ध्य पर्वत पर ले गया। वहां वह सो गया और जब जागा तो उसने राजकुमारी को नहीं पाया। इस पर कंदर्पकेतु आत्महत्या करने ही को था कि उसे एक

आकाशवाणी ने ऐसा करने से रोका और उसे अपनी प्रियतमा के साथ अंत में मिलाने के लिये कहा । बहुत भ्रमण करने के अनन्तर उसे एक पत्थर की मूर्ति मिली जो कि उस की बहुत दिनों से खोई हुई स्त्री के सदृश थी । उसने उसे छूआ और आश्चर्य्य की बात है कि छूते ही वासवदत्ता जीवित हो गई । एक ऋषी ने उसे पाषाण बना दिया था परन्तु दया करके यह कहा था कि जब उसका पति उसे छूएगा तो वह जीवित हो जायगी ।

हमें अभी एक वा दो आवश्यक ग्रन्थों के विषय में लिखना है। वृहत कथा उन कहानियों और कथाओं का संग्रह है जो कि दक्षिणी भारतवर्ष में पैशाची भाषा में बहुत समय से प्रचलित थीं । १२ वीं शताब्दी में काश्मीरी सोमदेव ने उसे संक्षिप्त करके संस्कृत भाषा में काश्मीर की रानी सूर्य्यवती का उसके पोते हर्षदेव की मृत्यु पर जी बहलाने के लिये लिखा था और यह संक्षिप्त संग्रह कथासरितसागर के नाम से प्रसिद्ध है । इस ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है कि इन कथाओं को पहिले पहिल पाणिनी के समालोचक और मगध के राजा चन्द्रगुप्त के मंत्री कात्यायन ने कहा था और उन्हें एक पिशाच ने दक्षिणी भारतवर्ष में लेजाकर पिशाची भाषा में गुणाढ्य से कहा जिसने कि उनका संग्रह करके उन्हें प्रकाशित किया । यह कहना अनावश्यक है कि इन कथाओं का कात्यायन के साथ सम्बन्ध जोड़ना कल्पित बात है । ये कथाएँ दक्षिणी भारतवर्ष की हैं और वे पहिले पहल पैशाची भाषा में थीं ।

सोमदेव की संस्कृत कथा सरित्सागर में १८ भाग और १२४ अध्याय हैं और उसमें भारतवर्ष में जितनी बातें दन्त-कथा की भांति विदित हैं प्राय: वे सब आ गई हैं। हमें उनमें बहुधा महाभारत और रामायण की कथाएं, कुछ पुराणों की कथाएँ, पञ्चतन्त्र की बहुत सी कथाएं, वैताल पचीसी की पचासों कहानियाँ, कुछ कहानियां जिन्हें कि हम समझते हैं कि सिंहासन बत्तीसी की हैं और उज्जैनी के प्रतापी विक्रमादित्य की बहुत सी कहानियां हैं। इन कहानियों से लोगों के गृहस्थी सम्बन्धी जीवनचरित्र और चाल व्यवहार का पता लगता है।

उज्जैनी के विक्रमादित्य के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वह रानी सौम्यदर्शना से महेन्द्रादित्य का पुत्र था और उसका दूसरा नाम विषमशील (शिलादित्य) था। इसमें यह भी कहा गया है कि वह पृथ्वी में इस कारण भेजा गया था कि देवता लोगों में भारतवर्ष में म्लेच्छों के उपद्रव से असन्तोष हुआ और विक्रम ने अपने कार्य्य को पूरा किया और म्लेच्छों का नाश किया।

अब कथा का केवल एकही प्रसिद्ध ग्रन्थ अर्थात हितोपदेश रह गया हैं जो कि केवल प्राचीन पञ्चतन्त्र के एक अंश का संग्रह है। यह बात विलक्षण है कि कहानियों के ये सब ग्रन्थ संस्कृत में हैं यद्यपि पौराणिक काल में भारतवर्ष में प्राकृत भाषाएं बोली जाती थीं।

वररुचि जो कि विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से है, पहिला वैयाकरण है जिसने कि प्राकृत भाषा का व्याकरण लिखा है। उसने चार प्रकार की भाषाएं लिखी

हैं अर्थात् महाराष्ट्री वा ठेठ प्राकृत, शैारसेनी जो कि महाराष्ट्री के बहुत समान है और उसी की नाईं संस्कृत से निकली है, पैशाची और मागधी इन दोनों ही की उत्पत्ति शैारसेनी से बतलाई गई है। उत्तरी भारतवर्ष में इन प्राकृत भाषाओं का प्रचार धीरे धीरे उस प्राचीन पाली भाषा से हुआ जो कि बौद्धों की पवित्र भाषा थी और १००० वर्ष तक बोलने की भाषा रही थी । वास्तव में वे राजनैतिक और धर्म्म सम्बन्धी बातें जो कि गिरते हुए बौद्ध धर्म्म के स्थान में एक नए प्रकार के हिन्दू धर्म्म को स्थापित करने के कारण हुई थीं उनका निःसन्देह प्राचीन पाली भाषा के स्थान में नवीन प्राकृत भाषाओं के प्राचार करने में बड़ा प्रभाव पड़ा ।

भारतवर्ष में तथा अन्यत्र भी राजनैतिक और धर्म्म सम्बन्धी परिवर्तन के साथ साथ प्रायः बोलने की भाषा में एकाएक परिवर्तन ही नहीं होता वरन यह परिवर्तन बल पूर्वक एकाएक स्थापित हो जाता है। जिस समय गङ्गा और यमुना के उद्योगी बसने वालों ने अपनी मातृभूमि पञ्जाब को विद्या और सभ्यता में पीछे छोड़ा तो ऋग्वेद की संस्कृत का स्थान ब्राह्मणों ने लिया। मगध और गौतम बुद्ध के उदय होने के साथ ही साथ ब्राह्मणों की संस्कृत का स्थान पाली भाषा ने लिया। बौद्ध धर्म्म के पतन और विक्रमादित्य के राज्य में पैाराणिक हिन्दू धर्म्म के उदय होने के साथ प्राकृत भाषाओं ने पाली का स्थान ले लिया। और अन्त में प्राचीन जातियों के पतन और राजपूतों के उदय होने के साथ १०वीं शताब्दी में हिन्दी भाषा का उदय हुआ जो कि अब तक भी उत्तरी भारतवर्ष में बोली जाती है।

ये सब बातें समझ में आजाती हैं। परन्तु कालिदास और भारवि के ग्रन्थों के पढ़ने वालों के हृदय में स्वभावत: यह प्रश्न उठता है कि क्या इन कवियों ने मृत भाषा में अपने ग्रन्थ लिखे हैं? क्या शकुन्तला और उत्तरचरित जैसे ग्रन्थ मृत भाषा में लिखना सम्भव है? क्या अन्य जातियों के इतिहास में ऐसे अद्वितीय सुन्दर ग्रन्थों के मृत भाषा में बनने का एक भी उदाहरण मिलता है?

जिन लोगों ने प्राकृत भाषाओं को संस्कृत से मिलान किया है उनके लिये इन प्रश्नों का उत्तर देना कठिन नहीं होगा। पौराणिक काल में संस्कृत उस प्रकार से मृत भाषा नहीं थी जैसे कि युरोप में आज कल लैटिन मृत भाषा है। लैटिन और स्वयं इटेलियन भाषा में जो अंतर है उससे कहीं कम अन्तर संस्कृत और प्राकृत में है। जिस समय प्राकृत साधारणतः बोली जाती थी उस समय भी संस्कृत बराबर समझी जाती थी और राजसभाओं में बोली भी जाती थी। विद्वान लोग संस्कृत में ही वाद विवाद करते थे। राज्य की सब आज्ञाएं और विज्ञापन संस्कृत में ही निकलते थे। पंडित लोग राजसभाओं और पाठशालाओं में संस्कृत में ही बातचीत करते थे। संस्कृत में ही छन्द गाए जाते थे और नाटक खेले जाते थे। सब शिक्षित और सभ्य लोग संस्कृत समझते थे और बहुधा संस्कृत बोलते थे। सम्भवत: साधारण लोग जो प्राकृत बोलते थे वे भी सामान्य सरल संस्कृत समझ लेते थे। शिक्षित और विद्वान लोग तो निस्संदेह संस्कृत से पूर्णतया परिचित थे। वे इसी भाषा को सदा पढ़ते थे, इसी को बहुधा बोलते थे और इसी भाषा में वे लिखते

और विचारते और बातचीत भी करते थे। अतः पौराणिक समय में संस्कृत ऐसी मृत भाषा नहीं थी जैसी कि अब वह है और कालिदास और भवभूति ने शकुन्तला और उत्तर-चरित को लिखने में ऐसी मृत भाषा का प्रयोग नहीं किया है।

अध्याय १५ ।

प्राचीन काल का अन्त ।

अब हम भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता के इस संक्षिप्त और अधूरे इतिहास को समाप्त करेंगे । इस पुस्तक में इस बड़े विषय का पूर्ण वर्णन देने का उद्योग करना असम्भव था । हमने भारतवर्ष के इतिहास को केवल मुख्य मुख्य बातों के वर्णन करने का तथा भिन्न भिन्न कालों की हिन्दू सभ्यता का वर्णन मोटी रीति से दिखलाने का उद्योग किया है । यदि इस वर्णन से हमारे देश भाइयों को हमारे प्राचीन पुरुषाओं का वर्णन चाहे कैसी अस्पष्ट रीति से विदित हो जाय तो हम अपने परिश्रम को व्यर्थ नहीं समझेंगे । अब हम थोड़े समय के लिये उनका ध्यान अपने वर्णन के अन्तिम पृष्ठों पर देने की प्रार्थना करेंगे जिसमें कि मुसल्मानी विजय के पहिले हिन्दू इतिहास के अन्तिम काल की सामाजिक चाल व्यवहार और सभ्यता का वर्णन है । हिन्दू इतिहास के अन्तिम काल में दो भाग स्पष्ट हैं । ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी के दिल्ली और अजमेर के राजपूतों की चाल व्यवहार आधुनिक काल की है और वह विक्रमादित्य और शीलादित्य के समय से भिन्न है जो कि प्राचीन काल की थी । राजपूत लोगों का सम्बन्ध आधुनिक इतिहास से है, विक्रमादित्य और शीलादित्य का प्राचीन इतिहास से । ९ वीं और १० वीं शताब्दी का वह अन्धकारमय समय भारतवर्ष के प्राचीन काल और आधुनिक काल को जुदा करता है ।

हम इस अध्याय में प्राचीन काल के अन्त समय के अर्थात् छठीं से सातवीं शताब्दी तक हिन्दुओं की सभ्यता के विषय में लिखेंगे।

हम कालिदास और भवभूति के समय के हिन्दुओं के सामाजिक जीवन को दिखलाने का उद्योग करेंगे और इस विषय की सामग्री हमें इन कवियों तथा इस काल के अन्य कवियों के अमर ग्रन्थों से मिलेगी। अगले अध्याय में हम उस समय की सभ्यता को दिखलाने का यत्न करेंगे जब कि आधुनिक काल का आरम्भ होता है अर्थात् १०वीं से१२ वीं शताब्दी तक, और इस काल की सामग्रियां हमें एक विचार शील विद्वान और सहानुभूति रखने वाले विदेशी की टिप्पणियों से मिलेगी जो कि हमारे लिये इस काल का इतिहास छोड़ गया है।

स्वयं कालिदास ने दुष्यन्त के वर्णन में अपने समय के विक्रमादित्य जैसे बड़े राजाओं का वर्णन दिया है। हम उससे किसी अंश में उत्तरी भारतवर्ष के इस प्रतापी राजा के अपने विलासी और विद्वान सभा तथा अपने सिपाहियों और पहरुओं के बीच जीवन व्यतीत करने का कुछ अनुमान कर सकते हैं। अपने आचरण में वीरोचित और फुर्तीला होने के कारण वह युद्ध तथा शिकार खेलने में प्रसन्न होता था और बहुधा भारतवर्ष के पहिले समय के जङ्गलों में शिकार खेलने के लिये अपने सैनिकों, रथों, घोड़ों और हाथियों के सहित जाता था। मध्य समय के युरोप के सम्राटों की नाईं हिन्दू राजाओं के साथ भी सदा एक विदूषक रहता था और यह विदूषक ब्राह्मण होता था जिस

की कि मूर्खता के कारणमय स्थूल रुचि और समय समय पर हास्यजनक बातें राजा को उसके अवकाश के समय में प्रसन्न करती थीं। सैनिक लोग रात दिन महल का पहरा देते थे और महल के भीतर स्त्री पहरुए राजा के पास प्रस्तुत रहते थे और वे एक वृद्ध और विश्वास पात्र कर्म्मचारी के अधीन रहते थे। कवि के वृत्तान्त से यह विदित होता है कि शक लोगों का बड़ा बिजयी शक स्त्रियों से घृणा नहीं करता था और वे उसके महलों की रखवाली करती थीं और उसके साथ शिकार खेलने के लिये तीर और धनुष लेकर जाती थीं और फूलों से सुसज्जित रहती थीं। वास्तव में यदि हम कथासरित्सागर पर विश्वास कर सकें जो कि प्राचीन ग्रंथ वृहत कथा के आधार पर बनाए जाने के कारण बहुमूल्य है तो उज्जैनी के सम्म्राट ने जिन अनेक सुन्दर स्त्रियों से विवाह किया था उनकी जाति पर वह विशेष ध्यान नहीं देता था। इनमें से एक भील जाति की राजकुमारी मदनसुन्दरी थी और उसके विवाह में उसके पिता ने कहा था "मेरे सम्म्राट, मैं बीस हजार धनुर्धारियों के साथ दास की नाईं तुम्हारा साथ दूंगा" इसी ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि यह सम्म्राट मलयपुर की राजकुमारी मलयावती पर उसका चित्र देखकर, और बंगाल की राजकुमारी कलिंगसेना पर एक विहार में उसकी पत्थर की मूर्ति देखकर मोहित होगया। और यह कहना अनावश्यक है कि इन दोनों स्त्रियों ने अन्त में इस सम्म्राट के बड़े महल में स्थान पाया। (क० स० सा० अध्याय १८)

विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र के ग्रन्थकारों ने उन द्वेष और डाह को कुछ कम कर के दिखलाया होगा

जो कि बहुधा राज्य महलों में पाए जाते थे। राजा को सदा बहुत सी स्त्रियां होती थीं और बहुधा राजकीय कार्य्य के लिये। इन उच्च रानियों के सिवाय रानियों की बहुत सी सुन्दर दासियां भी राजा की प्रीत पात्र हो जाती थीं और वे अपनी रानियों द्वारा दण्ड पाती थीं। इन सब बातों के रहते हुए भी प्रधान रानी का सदा बड़ा सत्कार और मान होता था। वही घर की स्वामिनी होती थी और प्रत्येक राजकीय अवसर पर राजा के साथ सम्मिलित होती थी।

रानियों की नाईं सामान्य स्त्रियों के कमरे भी मनुष्यों से जुदे होते थे। यही रीति यूरोप में रोम और पोम्पिआई के प्राचीन समय में प्रचलित थी और संस्कृत कवियों ने इन सुन्दर स्त्रियों की शान्त गृहस्थी का जीवन बहुधा वर्णन किया है। परन्तु स्त्रियों का पूरा पर्दा पौराणिक काल में भी नहीं था। शकुन्तला और मलयावती के सम्मुख जब दुष्यन्त और जीमूतवाहन जैसे अपरचित लोग उपस्थित हुए तब वे पर्दे में नहीं चली गईं। मालती अपनी पूरी युवा अवस्था में एक त्योहार के दिन नगर वासियों के बड़े समूह में हाथी पर सवार होकर मन्दिर को गई थी और वहां उसे वह युवा मिला था जिसने कि उस के हृदय को चुरा लिया था और पलटे में उसने अपना भी हृदय उसे दे दिया। कथासरित्सागर के पहिले अध्याय में हम कात्यायन की माता को दो अपरचित ब्राह्मणों का अतिथ्य करते हुए और उनके साथ बिना किसी रोक टोक के बातें करते हुए पाते हैं और वर्ष की स्त्री ने भी पहिले इन्हीं

दोनों अपरचित लोगों का स्वागत किया था और उनसे अपने पति की आपत्तियोँ का वर्णन किया था। इस बड़े ग्रन्थ की असंख्य कहानियों में हमें एक उदाहरण भी ऐसा नहीं मिलता जिसमें कि सामान्य स्त्रियों के इस प्रकार पर्दे में रखे जाने का वर्णन हो जिस प्रकार की पीछे के समय में मुसल्मानों के राज्य में नई रीति हो गई। मृच्छ-कटि में चारुदत्त की धर्मात्मा और सुशील स्त्री चारुदत्त के मित्र मैत्रेय के साथ बिना किसी रुकावट के वार्तालाप करती है और कादम्बरी, नागानन्द रत्नावली तथा अन्य सब प्राचीन ग्रन्थों में हम नायिका को अपने पति के मित्रों के साथ बहुधा वार्तालाप करते हुए पाते हैं। निस्सन्देह राज्य महलों की रानियों के लिये कुछ अधिक रुकावट थीं परन्तु वे भी राजा के मित्रों से मिल सकती थीं। जब नर-वाहन दत्त के मन्त्री अपनी नई रानी रत्नप्रभा से मिलने आए तो उसके सम्मुख जाने के पहिले उसे उनके आने की सूचना दी गई। रानी इस आवश्यक कार्य्य पर भी बिगड़ी और उसने कहा कि मेरे पति के मित्रों के लिये मेरा द्वार बन्द नहीं रहना चाहिए क्योंकि वे मुझे अपने देह की नाईं प्रिय हैं!" (क० स० सा० अध्याय ३६)

विवाह दुलहे और दुलहिन के माता पिता करते थे। उदाहरण के लिये जब जीमूतवाहन से विवाह के लिये कहा गया तो उसके साथी ने कहा "उनके पिता के पास जाओ और उनसे कहो।" और उसके माता ने इस युवा की इच्छा को बिना जाने हुए अपनी सम्मति दे दी। यदि हम इस काल के कवियों पर विश्वास कर सकते हैं तो विवाह

बहुधा उचित अवस्था में किया जाता था । भवभूति के नाटक की नायिका मालती युवा होने के उपरान्त भी क्वारी ही थी । मालविका मलयावती और रत्नावली पूरे यौवन को प्राप्त होने पर भी क्वारी थीं और धर्म्मात्मा कन्व ऋषि ने शकुन्तला का विवाह तब तक करने का विचार नहीं किया जब तक कि युवा अवस्था में दुष्यन्त से उसकी भेंट न हुई और वह उसपर मोहित न हो गई । विवाह की रीति वैसी ही थी जैसी कि प्राचीन समय में थी और जैसी कि आजकल वर्तमान है । अग्नि की परिक्रमा करना, अग्नि में अन्न डालना और दुलहिन और दुलहा का कुछ प्रतिज्ञा कराना यही विवाह की मुख्य रीतें समझी जाती थीं ।

कन्याओं को लिखना और पढ़ना सिखलाया जाता था और प्राचीन ग्रन्थों में उनके चिट्ठियों के लिखने और पढ़ने के असंख्य उदाहरण हैं । मृच्छकटि में मैत्रेय कहता है कि जब मैं स्त्रियों को संस्कृत पढ़ते हुए वा मनुष्यों को गीत गाते हुए सुनता हूं तो मुझे बड़ी हँसी आती है । परन्तु मैत्रेय को इससे चाहे जितनी घृणा हो पर इस वाक्य से कोई सन्देह नहीं जान पड़ता कि स्त्रियां बहुधा संस्कृत पढ़ती थीं और वैसे ही मनुष्य भी बहुधा गाना सीखते थे । स्त्रियों का गान विद्या में निपुण होने का बहुधा उल्लेख किया गया है । नागानन्द ने एक अद्भुत स्थान पर लिखा है कि राजकुमारी मलयावती ने एक गीत गाया जिसमें मध्यम और उच्च स्वर भली भांति दर्साया था और इसके उपरान्त हमें यह भी विदित होता है कि

उसने अंगुलियों से बाजा बजाया जिसमें ताल और स्वर के सरगम आदि का पूरा पूरा ध्यान रक्खा गया था।

कथासरित्सागर (अध्याय ९) से हमें विदित होता है कि राजकुमारी मृगावती ने अपने विवाह के पहिले नाचने गाने तथा अन्य गुणों में अद्भुत निपुणता प्राप्त कर ली थी। प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे अनेक वाक्य मिलते हैं।

चित्रकारी की विद्या के भी मनुष्यों और स्त्रियों दोनों ही के जानने का बहुधा उल्लेख मिलता है और हम नागानन्द का एक वाक्य दिखला चुके हैं जिससे कि प्राचीन भारतवर्ष में रङ्गीन मिट्टी का चित्रकारी में व्यवहार किया जाना प्रगट होता है। उत्तररामचरित्र का प्रारम्भ कुछ चित्रों के वर्णन से होता है जिन्हें कि लक्ष्मण ने सीता को दिखलाया था और कथासरित्सागर (अध्याय १२२) से हमें विदित होता है कि नगरस्वामी विक्रमादित्य की सभा का चित्रकार था और उसने राजा को भिन्न भिन्न प्रकार के स्त्री सौन्दर्य के चित्र भेंट किए थे।

भारतवर्ष के कवियों ने विवाह सम्बन्धी प्रेम का जैसा उत्तम वर्णन किया है वैसा किसी ने नहीं किया। हम उत्तररामचरित्र के वाक्य को उद्धृत कर चुके हैं जिसमें सीता के लिये राम के कोमल प्रेम का वर्णन है और हमारे जो पाठक संस्कृत साहित्य से परिचित हैं उन्हें निस्सन्देह सैंकड़ों ऐसी बातें स्मरण होंगी जिनमें कि हिन्दू पुरुषों के प्रेम और हिन्दू स्त्रियों की पतिभक्ति दिखलाई गई हैं * ।

---

* "हिन्दू कवियों ने अपनी स्त्रियों की विरले ही कहीं निन्दा की है उन्होने प्राय: सदा उन्हें प्रीति पात्र की भांति लिखा है।

परन्तु गृहस्थी सम्बन्धी जीवन का वृत्तान्त सब काव्य ही में नहीं मिलता। हमें गृहस्थी के दुःखों और शोक का सच्चा ज्ञान भवभूति और कालिदास के काव्यों से नहीं मिलता जितना कि कथासरित्सागर में दरिद्र, हानि, सम्बन्धियों वा पड़ोसियों की घृणा, पति की निर्दयता वा स्त्रियों का कलह का स्वभाव बहुधा शान्त गृह को दुखी बनाता और जीवन के लिये बोझ सा होता था। अन्य सब बुराइयों में एक में रहनेवाले कुटुम्बियों में झगड़े और आज्ञाकारी पत्नी पर सास और ननद के कठोर अत्याचार कम भयानक नहीं थे। सुशील और धर्मात्मा कीर्तिसेना ने इन अत्याचारों को सहन करते हुए दुःख से कहा है "इसी कारण सम्बन्धी लोग कन्या के जन्म में शोक करते हैं जो कि सास और ननद के अत्याचारों की पात्र रहती है। (क० स० सा० अ० २९)

इस बात को दिखलाने के लिये बहुत से वाक्य उद्धृत किए जाते हैं कि पौराणिक काल में विधवा विवाह का निषेध नहीं था। याज्ञवल्क्य कहता है कि "जिस स्त्री का दूसरी बार विवाह होता है वह पुनर्भव कहलाती है" (१, ६७) विष्णु कहता है कि जिस स्त्री का पतिसंसर्ग न हो कर पुनर्विवाह हो वह पुनर्भव कहलाती है (१५, ७ और ८) और पराशर भी, यद्यपि वह आधुनिक समय का ग्रन्थकार है

इस बात में वे अधिक उन्नत जातियों के और विशेष कर यूनान के कवियों को जो सुखान्त और दुःखान्त दोनों प्रकार के नाटकों में बड़ी चाह के साथ स्त्रियों की बुराई करते हैं शिक्षा दे सकते हैं। अरिस्टोफेनीज़ इस बात में युरीपाइडीज़ से कम नहीं है यद्यपि वह इस दुःखान्त नाटक लिखने वाले की स्त्रियों प्रति कुव्यवहार की हंसी उड़ाता है।

तथापि वह ऐसी स्त्री के पुनर्विवाह की आज्ञा देता है जिस का पति मर गया हो वा जाति बाहर हो गया हो वा योगी हो गया हो (४, २६)। मालवा के एक गृहस्थ की कन्या के विषय में एक हास्यजनक कहानी विदित है कि उसने निरन्तर ११ पति से विवाह किया था और ११ वें पति की मृत्यु पर इस विधवा ने सम्भवतः १२ वां विवाह किया होता परन्तु "पाषाण भी उसकी हँसी किए बिना नहीं रह सकते थे" और इस कारण उसने योगिनी का जीवन ग्रहण कर लिया। (क० स० सा० अध्याय ६६)

ऊपर हम हिन्दू स्त्रियों की प्रीति और पतिभक्ति के विषय में लिख चुके हैं। जातीय जीवन तथा स्त्रियों के सत्कार के पतन के साथ ही साथ पौराणिक काल में स्त्रियों की इस पतिभक्ति ने एक निर्दयता का रूप धारण किया। पौराणिक काल के पहिले भारतवर्ष के ग्रन्थों में सती होने की रीति का कहीं भी उल्लेख नहीं है। मनुस्मृति अथवा याज्ञवल्क्य की स्मृति में भी उसका कहीं वर्णन नहीं है। हमें इस रीति की उत्पत्ति की कथा पहिले पहिल पौराणिक काल के ही ग्रन्थों में मिलती है।

अग्नि में प्रवेश कर के आत्महत्या करना भारतवर्ष में सिकन्दर के समय में और उससे भी पहिले विदित था। पौराणिक काल में जब पति का अपनी स्त्रियों का सत्कार करने की अपेक्षा स्त्रियों की पतिभक्ति पर विशेष जोर दिया गया तो अन्य लोगों की परीक्षा विधवाओं के उपरोक्त रीति से आत्महत्या करने को एक यश का कार्य्य कहा गया। इस प्रकार वाराहमिहिर अपने ज्योतिष शास्त्र में स्त्रियों

की परीक्षा इस कारण करता है कि वे अपने पति की मृत्यु पर अग्नि में प्रवेश करती हैं परन्तु मनुष्य अपनी स्त्रियों की मृत्यु के उपरान्त पुनः विवाह कर लेते हैं। परन्तु फिर भी आग में जलने की यह रीति पौराणिक काल में भी केवल स्त्रियों वा विधवाओं के लिये नहीं थी। मालती माधव में मालती का पिता अपनी कन्या के शोक में चिता पर चढ़ने की तय्यारी करता है और नागानन्द में तो जीमूतवाहन के पिता माता और पत्नि इस राजकुमार के शोक में चिता में जलमरने का संकल्प करते हैं।

कथासरित्सागर में हम एक कुमारी को जो कि अपने प्रियतम से मिलने में निराश हो गई थी चिता में प्रवेश करने की तयारी करते हुए पाते हैं (अ० ११८ और १२०)। और अब कहानियों से इतिहास की ओर दृष्टि डालने पर भी हमें विदित होता है कि राजालोग महमूद गजनवी के अधीन होने पर भी अपने देशवासियों द्वारा घृणा की दृष्टि से देखे जाने के कारण चिता में जल मरे थे। यह निस्सन्देह आत्महत्या की एक देशीआ रीति थी जब कि शोक वा अपमान असह्य हो जाता था और जीना शोक-युक्त हो जाता था और फीका जान पड़ता था। ऐसी आत्महत्या करना बुरा तो था ही पर वह उस समय तो कायरपन और अपराध हो गया जब कि मनुष्यों ने इसका करना छोड़ दिया और केवल स्त्रियों के गले इस रीति को उनके पति की मृत्यु पर किए जाने के लिये यश के कार्य की भांति लगा दिया। और जब हिन्दू जाति में जीवन नहीं रह गया तो यह आत्महत्या एक स्थिर रीति हो गई।

प्राचीन भारतवर्ष में प्राचीन यूनान की नाईं बड़ी सुन्दर और गुणी वेश्याएं अपने आज कल की अधम बहिनों की अपेक्षा अधिक सम्मानित थीं और अधिक उत्तम और उच्च जीवन व्यतीत करती थीं। अम्बपाली जिसने कि ठाठ बाट और घमण्ड में लिच्छवि राजाओं की बराबरी की थी और जिसने धार्म्मिक गौतम बुद्ध को अपने यहां निमन्त्रण दिया था उससे अस्पेसिया का स्मरण हो आता है जिसने सुक्रात का आतिथ्य किया था। इसी प्रकार मृच्छकटि की नायिका वसन्तसेना भी बड़े ठाठ बाट से रहती थी। वह उज्जैनी के युवा लोगों का एक साधारण सभा में स्वागत करती थी जहां कि जुआ खेलने की सामग्री, पुस्तकें, चित्र तथा मन बहलाव की अन्य वस्तुएं प्रस्तुत रहती थीं, वह अपने यहां निपुण शिल्पकारों और जौहरियों को रखती थी, वह दुखी दरिद्री लोगों की सहायता करती थी और अपने व्यवसाय को करते हुए भी "वह सुशीलवती, अनन्त रूपवती और समस्त उज्जैनी का अभिमान थी।"

इसी भांति कथासरित्सागर (अध्याय ३८) से भी हमें विदित होता है कि दक्षिणी भारतवर्ष की राजधानी प्रतिष्ठान की वेश्या मदनमाला " राजा के महल के सदृश्य " महल में रहती थी और उसके रक्षक सिपाही, घोड़े और हाथी थे। उसने विक्रमादित्य का (जो कि उसके यहां वेष बना कर गया था) सत्कार स्नान, पुष्प, सुगन्धि, वस्त्र, आभूषण और बहुमूल्य भोजन से किया था। और इसी ग्रन्थ के १२४ वें अध्याय से हमें फिर विदित होता है कि उज्जैनी की वेश्या देवदत्ता अपने राजा के योग्य महल में रहती थी।

हमें कहना नहीं पड़ेगा कि जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय उज्जैनी भारतवर्ष में सब से बढ़ी चढ़ी नगरी थी। गुण और सौन्दर्य्य तथा धन और राज्य प्रभुता ने छठीं शताब्दी में इस प्राचीन नगरी की अद्वितीय शोभा बढ़ाने में योग दिया था। मेघदूत में यक्ष ने मेघ से यह ठीक ही कहा है कि वह उज्जैनी में बिना हुए न जाय और नहीं तो "तेरा दुर्भाग्य है और तेरा जन्म व्यर्थ ही हुआ है।"

ऐसी उच्च आज्ञाओं के उल्लङ्घन करने का साहस न करके मैं कुछ वर्ष हुए कि इस नगर को देखने गया था। उसकी प्राचीन कीर्ति अब नहीं रही है, उससे प्राचीन समय की बातों का स्मरण मात्र भी नहीं होता। परन्तु फिर भी इस नगरी की ऊंची नीची पत्थर की गलियों में घूमते, कारीगरी से बने हुए पुराने मकानों पर दृष्टि डालने से यहां के सरल हृदय वाले मनुष्यों की भीड़ को प्रसन्न चित्त देखने और महाकाल के प्राचीन मन्दिर में जाने से जो कि सम्भवतः इस नाम के उसी प्राचीन मन्दिर की भूमि पर बना है कि जिसका कालिदास ने मेघदूत में उल्लेख किया है हमारे हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि यह नगर प्राचीन समय में ऐसा था इसका अनुमान कर लेना सम्भव है। और निस्सन्देह मृच्छकटि में जो इस नगर का अद्भुत वर्णन दिया है वह हमारे इस अनुमान में कम सहायता नहीं देता। इस नाटक से हम प्राचीन समय के वर्णन का उद्योग करने में सहायता लेंगे।

राजा की छाया में शान्त व्यापारी और महाजन लोग व्यापारियों के बाजार में रहते थे जिसे कि कवि ने श्रेष्टि चत्वर के नाम से लिखा है। हिन्दू व्यापारी लोग सदा से शान्त और सीधे सादे थे। सम्भवतः उन लोगों के कार्य्यालय की शाखाएं उत्तरी भारतवर्ष के सब बड़े बड़े नगरों में थीं और वे लोग रेशम, रत्न और बहुमूल्य वस्तुओं का बड़ा भारी व्यापार करते थे और अपनी ठसाठस और सकरी गलियों के अन्धकारमय घरों में बहुत बड़ा कोष और द्रव्य रखते थे जिसे कि आवश्यकता के समय में राजा और महाराजा भी उधार लेना बुरा नहीं समझते थे। वे लोग केवल दान पुण्य और धार्म्मिक कार्य्यों में सीधेसादे थे और इस कारण वे इस नगर को बहुत से सुन्दर मन्दिरों से सुशोभित करते थे, पुजेरियों और ब्राह्मणों को भोजन कराते और सहायता देते थे और अपने अच्छे कार्य्यों से अपने नगर के लोगों में यश पाते थे। आज तक भी उत्तरी भारतवर्ष के सेठ और व्यापारी अपने द्रव्य और पुण्य के कार्य्यों के लिये सम्मानित हैं और वे अनेक मन्दिर बनवाते हैं जहां कि नित्य प्रति जैनियों और हिन्दुओं की पूजा होती है।

जौहरी और शिल्पकार व्यापारियों के पास बहुतायत से थे। कवि के शब्दों में "निपुण कारीगर मोती, पुखराज, नीलम, पन्ना, लाल, मूंगा तथा अन्य रत्नों की परीक्षा करते हैं, कोई स्वर्ण में लाल जड़ते हैं, कोई रङ्गीन जोड़ों में स्वर्ण के आभूषण गूंथते हैं, कोई मोती गूंथते हैं, कोई अन्य रत्नों को सान पर चढ़ाते हैं, कोई सीप काटते हैं और कोई मूंगा काटते हैं। गंधी लोग केशर के थैले हिलाते हैं,

चन्दन का तेल निकालते हैं और मिलावट की सुगन्ध बनाते हैं। इन शिल्पकारों की वस्तुएं उस समय के सब विदित संसार मे बिकती थीं और उनकी कारीगरी की वस्तुओं की बगदाद में हारूनउलरशीद के दरबार में कदर की गई थी और उन्होंने प्रतापी शार्लमेगन और उसके असभ्य दर्बारियों को आश्चर्य्यित किया था और अंग्रेजी कवि लिखता है कि वे लोग अपनी आंख फाड़ कर बड़े आश्चर्य से रेशमी और कारचोबी के वस्त्र तथा रत्नों को देखते थे जो कि पूरब के दुर देश से युरोप के नवीन बाजारों में आए थे।

इससे छोटे व्यापारी अन्य गलियों में थे और अपने वस्त्र आभूषण और मिठाई और बहुत सी अन्य प्रकार की वस्तुएँ दिखलाते थे। दिन भर भीड़भाड़ से भरी गलियों में प्रसन्न और सरल हृदय के लोगों की खचाखच रहती थी।

परन्तु केवल बाजार ही लोगों के आने जाने का स्थान नहीं था वरन इसके सिवाय और भी विलक्षण स्थान थे। जूआ खेलने के घर राजा की आज्ञा से स्थापित थे जैसा कि यूरोप में अब तक भी है। जूआ खेलने वाले को प्रबन्ध रखने के लिये राजा नियत करता था और अग्नि पुराण के अनुसार वह राजा के लिये जीत का पाँचवां या दसवाँ भाग उगाहने का अधिकारी था। मृच्छकटि में एक जुआरी के दस स्वर्ण हारने का उल्लेख है और यह स्वर्ण निस्सन्देह एक सोने का सिक्का था जिसका मूल्य कि डाक्टर विल्सन साहेब ८॥।=) अनुमान करते हैं।

शकुन्तला से हमें विदित होता है कि नगर में मदिरा की दूकानें होती थीं जिनमें कि बहुत ही नीच जाति के

लोग जाते थे। परन्तु विलासी राजसभा के दर्बारियों तथा दुराचारी और रसिक मनुष्यों में भी मदिरा पीने की रीति अविदित नहीं थी। भारवि ने एक सर्ग मदिरा पीने के आनन्द के विषय में लिखा है और कालिदास ने भी बहुधा ऐसी स्त्रियों का उल्लेख किया है जिनके मुख मदिरा की महक से सुगन्धित थे परन्तु अधिकांश लोग जो कि हिन्दू श्रेणी के तथा खेती वाणिज्य और परिश्रम करने वाले थे मदिरा नहीं पीते थे जैसा कि वे आज कल भी करते हैं।

बड़े नगरों के अन्य दुराचार भी उज्जैनी में अविदित नहीं थे। मृच्छकटि में मैत्रेय कहता है कि "संध्या के इस समय राजमार्ग दुराचारियों, गला काटने वालों, दर्बारियों और वेश्याओं से भरा रहता है" और इसी नाटक में एक दूसरे स्थान पर चारुदत्त के घर में चोरी का एक अद्भुत वृतान्त है और उसमें पहरा देने वाले के पैर का शब्द उस समय सुनाई देता है जिस समय कि चोर अपना कार्य्य कर चुकता है और माल असबाब लेकर चम्पत हो जाता है (जैसा कि आजकल बहुधा होता है) ।उसी नाटक में एक दूसरे स्थान पर लिखा है कि

सड़क लखौ सूनी पड़ी घूमत पंहरेदार ॥
चोर फिरत हैं रात को तुम रहियो हुशियार ॥

[सीताराम]

धनाढ्य लोग बहुत से दास, बड़े ठाट बाट के कमरे और उदार आतिथ्य के साथ सुख पूर्वक रहते थे। मृच्छकटि में हमें एक धनाढ्य के घर का कुछ अत्युक्ति के साथ वर्णन मिलता है जिस से कि हमें साधारणतः धनाढ्यों के घर

का कुछ ज्ञान हो जायगा। बाहर का द्वार सुन्दर है, ड्योढ़ी रँगी हुई साफ सुथरी और पानी छिड़की हुई है, फाटक पर फूल और माला लटकी हुई हैं और द्वार ऊंचा मेहराबदार है। पहिले आंगन में प्रवेश करने पर श्वेत इमारतों की पंक्ति देख पड़ती हैं, उनकी दीवारों पर सुन्दर पलस्तर किया हुआ है, सीढ़ियां भिन्न-भिन्न प्रकार के पत्थरों की बनी हुई हैं और उनके बिल्लौर के किवाड़ों से नगर की गलियों का दृश्य देख पड़ता है। दूसरे आंगन में गाड़ी, बैल, घोड़े और हाथी होते हैं जिन्हें उनके महावत चावल और घी खिलाते हैं। तीसरे आंगन में लोगों के बैठने का कमरा होता है जहां पर अतिथियों का स्वागत किया जाता है, चौथे में नाच और गाना होता है और पांचवें में रसोई घर, छठें आंगन में घर के कार्य्य के लिये शिल्पकार और जौहरी रहते हैं और सातवें में चिड़ियाखाना रहता है। आठवें आंगन में घर का मालिक रहता है। यह सम्भव नहीं है कि बड़े ही धनाढ्य के सिवाय और कोई इतने ठाट बाट से रहे परन्तु इस वृतान्त से हमें ठाट से रहने वाले हिन्दू गृहस्थों का कुछ ज्ञान होजाता है। घर के पीछे एक सुन्दर फुलवारी है जो कि प्राचीन समय में हिन्दू स्त्रियों के मनबहलाव का स्थान थी। शकुन्तला अपने वृक्षों में स्वयं पानी देती थी और यक्ष की स्त्री अपनी फुलवारी में बैठकर अपने अनुपस्थित पति का शोच किया करती थी।

नगर के भीतर इन वृहद् निवासस्थानों के सिवाय धनाढ्य लोगों के नगर से बहुत दूर गांव में बगीचे होते थे और इन बगीचों का शौक इस समय तक भी वर्त्तमान है।

धनाढ्य मनुष्यों की सम्पत्ति में गुलाम सब से मुख्य समझे जाते थे। भारतवर्ष में प्राचीन समय में अन्य प्राचीन देशों की नाईं गुलाम खरीदे और बेंचे जाते थे। और सम्भवतः प्राचीन समय में अधिकांश दास गुलाम ही होते थे। मृच्छकटि में एक हारा हुआ ज्वारी अपना ऋण चुकाने के लिये अपने को बेंचने का प्रस्ताव करता है। इससे भी अधिक विलक्षण एक दूसरा वाक्य है जिसमें कि एक दासी का प्रेमी उससे पूछता है कि कितना द्रव्य देने से उसकी स्वामिनी उसे स्वतंत्र कर देगी। हरिश्चन्द्र की प्रसिद्ध कथा में भी कहा है कि इस राजा ने एक ब्राह्मण का ऋण चुकाने के लिये अपने स्त्री पुत्र और स्वयं अपने को बेंच डाला था और इस सम्बन्ध में ऐसी ही अनेक कथाएं हैं। गुलामी कोमल रूप में भारतवर्ष में बहुत आधुनिक समय तक वर्तमान थी। नगर में सुखी मनुष्यों की साधारण सवारी एक प्रकार की ढकी हुई गाड़ी थी जिसमें बैल जोते जाते थे। मनुष्य और स्त्रियां दोनों ऐसी गाड़ियों में बैठते थे और वसन्तसेना अपने प्रियतम चारुदत्त से नगर के बाहर वाटिका में मिलने के लिये ऐसी ही गाड़ी में बैठ कर गई थी। जो मनुष्य बैल गाड़ी में (इस ग्रन्थकार की नाईं) उज्जैनी की ऊंची नीची पत्थर की गलियों में गया होगा उसे यह विदित होगा कि इस स्त्री की यात्रा उसके सच्चे स्नेह के मार्ग की नाईं बहुत अच्छी नहीं थी। सवारी के लिये घोड़े भी बहुधा काम में लाए जाते थे और कथासरित्सागर के १२४ वें अध्याय से हमें विदित होता है कि ब्राह्मण अपनी स्त्री देवस्वामिनि को उसके पिता के घर से घोड़ी

पर सवार करा कर एक दासी के सहित लाया था। घोड़े की गाड़ियां सम्भवतः केवल राजा लोग तथा युद्ध और शिकार में योधा लोग भी काम में लाते थे जैसा कि हम शकुन्तला में देखते हैं।

प्राचीन समय में न्याय करने का एक मात्र और बहु-मूल्य वर्णन मृच्छकटि में दिया है। उसमें ब्राह्मण चारुदत्त पर एक दुराचारी लम्पट ने इस नाटक की नायिका वसन्त-सेना के मारने का झूठा दोष लगाया है। यह लम्पट अपने को राजा का बहनोई कहता है। राजा लोग प्रीति करने में कुछ बहुत विचार नहीं करते थे और इस प्रकार जिन नीच जाति की स्त्रियों को वे अपने महल में ले लेते थे उनके भाइयों और सम्बन्धियों को नगर के प्रबन्ध करने में उच्च पद दिए जाते थे। ऐसे लोगों का कालिदास तथा अन्य कवियों ने जो अनेक स्थान पर वर्णन दिया है उनसे हमें विदित होता है कि ये लोग समाज के नाशक बन गए थे, वे भले मानुसों के द्वेषी और छोटे तथा नीच लोगों के दु.ख देने वाले थे।

ऐसे ही एक दुष्ट ने जिसका नाम वासुदेव था वसंत-सेना को मारने का जी जान से जतन किया था। उसने पहिले वसन्तसेना की प्रीति के लिये व्यर्थ उद्योग किया था और तब उसने चारुदत्त पर जिसे कि वह चाहती थी उसके मारने का कलंक लगाया। न्यायाधीश सेठ और लेखक (कायस्थ) के साथ न्यायालय में आता है और वासुदेव चारुदत्त पर दोष आरोपित करता है। न्यायाधीश उस दिन इस बात पर विचार करने के लिये

इच्छुक नहीं है परन्तु वादी का राजा के साथ मेल जान कर इस अभियोग को उठाता है और न्यायालय में उसके ढिठाई के आचरण पर भी तरह दे जाता है। चारुदत्त बुलाया जाता है।

यह सीधा और भला ब्राह्मण न्यायालय में आता है और इनका जो वर्णन किया है वह हमारे बहुतसे पाठकों को मनोरञ्जक होगा और उससे भी प्राचीन समय के न्याय के कुटनों का भी ज्ञान हो जायगा।

ब्याकुल चलत दूत शंख औ लहर सम,
　　　　चिंता में मगन मंत्रि देखौ नीर चीर से।
चकचके करैं बकु चरित चतुर लोग,
　　　　कायथ निहारैं बैठे भुजग बेपीर से।
एक ओर भेदी खड़े नाक औ मगर सम,
　　　　हाथी घोड़े द्वार डोलैं हिंसक अधीर से।
टेढ़े मेढ़े नीति से बिगारै तट संग सोहैं,
　　　　राजा के विचार भौन नीरधि गंभीर से॥

[सीताराम]

हमें यहां पर शाक्षी का ब्योरा देने की कोई आवश्यकता नहीं है परन्तु निस्सन्देह प्रमाण चारुदत्त के बहुत विरुद्ध थे। परन्तु फिर भी न्यायाधीश को यह विश्वास नहीं होता कि इस भले मानस से ऐसा घृणित अपराध किया होगा। वह कहता है कि "चारुदत्त पर कलङ्क लगाना वैसा ही है जैसा कि हिमालय को तौलना, समुद्र की थाह लगाना वा हवा को पकड़ना।" परन्तु यह शाक्षी और भी प्रबल होती है और न्यायाधीश को यह विदित होता है कि कानून के अनुसार

उसे चारुदत्त के विरुद्ध निश्चय करना चाहिए परन्तु फिर भी उसे इन सब बातों पर विश्वास नहीं होता। इस प्रसिद्ध पर बलवती उपमा के अनुसार "कानून के नियम स्पष्ट हैं, परन्तु बुद्धि दलदल में पड़ी हुई गाय के समान अंधी हो रही है"।

इसी बीच में चारुदत्त का मित्र न्यायालय में आता है और उसके पास उस स्त्री के आभूषण पाए जाते हैं जिसके मारने का कलंक लगाया गया है इससे चारुदत्त के भाग्य का निश्चय हो जाता है। न्यायाधीश उसे सत्य बोलने के लिये कहता है और धमकाता भी है और चारुदत्त अपने अपमान से दुखी हो कर, उसके विरुद्ध जो प्रमाण एकतृत किए गए थे उनसे घबरा कर और अपनी प्रिय वसन्तसेना की मृत्यु का समाचार सुन कर अपना जीना व्यर्थ समझ कर उस हत्या के करने को स्वीकार कर लेता है जिसे कि उसने नहीं किया है जैसा कि बहुतेरे निरपराधियों की दशा हुई है।

न्यायाधीश आज्ञा देता है कि "अपराधी ब्राह्मण है और इस कारण मनु के अनुसार उसे फांसी नहीं दी जा सकती परन्तु वह देश से निकाला जा सकता है पर उसकी संपत्ति नहीं छीनी जायगी।"

परन्तु राजा निष्ठुरता से इस आज्ञा को बदल कर उसे फांसी देने की आज्ञा देता है। कवि राजा की इस निष्टुर आज्ञा का पाप की भांति उल्लेख करता है जिसका कि बदला उसे शीघ्र ही मिलता है। उसके राज्य में बड़ा उलट फेर हो जाता है और वह युद्ध में एक जबरदस्त से मारा जाता है और चारुदत्त उसी समय बच जाता है जब

कि वह फांसी दिया जाने ही वाला था और उसे उसकी प्रिय वसन्तसेना भी मिलती है जिसे कि निर्दय वासुदेव ने मरा हुआ समझ कर छोड़ दिया था परन्तु वह मरी नहीं थी । कुपित लोग इस अधम अपराधी को जो कि मृत राजा का सम्बन्धी था, मारा चाहते हैं परन्तु उदार चारुदत्त उस के जीव की रक्षा करता है और उसे छोड़ देने को कहता है। लोग उसका कारण पूछते हैं और चारुदत्त उसी सच्चे हिन्दू के सिद्धान्त से उत्तर देता है--

"वैरी जब अपराध करे और पैरों पर पड़ कर सरन मांगे तो उस पर हथियार नहीं उठाना चाहिए।"

——.0.——

अध्याय १६।

आधुनिक काल का प्रारम्भ

पिछले अध्याय में हमने प्राचीन काल के हिन्दू ग्रन्थकारों के ग्रंथों से जो कि छठीं और उसके उपरान्त की शताब्दियों में हुए हिन्दुओं की सभ्यता और जीवन का संक्षिप्त वृत्तान्त देने का उद्योग किया। परन्तु दूसरे लोग हमें जिस दृष्टि से देखें उस दृष्टि से हमें स्वयं अपने को देखना सदा लाभ दायक होता है और इस कारण हम इस अध्याय में आधुनिक समय के प्रारम्भ की हिन्दू सभ्यता का वृत्तान्त उन सामग्रियों से देंगे जो कि हमें एक शिक्षित और उदार विदेशी एलबेरुनी से मिलती हैं जो कि ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ है।

भारतवर्ष के विषय में एलबेरुनी के ग्रन्थ का मूल्य बहुत समय से विद्वानों को विदित है परन्तु उसके ग्रन्थ के पाण्डित्य पूर्ण संस्करण और अनुवाद का अब तक अभाव था। डाकृर एडवर्ड सी सैक् ने अब इस अभाव को पूरा किया और पूरब देश सम्बन्धी खोज और भारतवर्ष के इतिहास के लिये एक बड़ा उपयोगी कार्य्य किया है।

एलबेरुनी वा जैसा कि उसके देश के लोग उसे पुकारते हैं अबूरैहन का जन्म आजकल के ख़ीवा में सन ९७३ ई० में हुआ था। जब महमूद गजनवी ने ख़ीवा को सन १०१७ ई० में जीता तो वह इस प्रसिद्ध विद्वान को युद्ध के बंधुए की भांति गजनी ले गया। सम्भवतः इसी घटना के कारण वह हिन्दुओं को उस सहानुभूति की दृष्टि से देखने लगा जो कि

महमूद के विजय और अत्याचार सहने वाले साथियों के योग्य है और जब कि उसने हिन्दू सभ्यता और साहित्य में जिन बातों को दुखित समझा है उन्हें दिखलाने में कभी आगा पीछा नहीं किया तथापि उसने उस सभ्यता और साहित्य का उस उदार हृदय से अध्ययन करने का कष्ट उठाया है जो कि पीछे के समय के मुसल्मानों में नहीं पाई जाती और जो बात प्रशंसा करने योग है उसमें वह प्रशंसा करने में कभी नहीं चूका।

भारतवर्ष में महमूद के नाश करने के असावधान कार्य्य के विषय में एलबेरूनी उचित निन्दा के साथ लिखता है। वह कहता है कि "महमूद ने देश की भाग्यशालिनी दशा का पूर्णतया नाश करदिया और उसने वे अद्भुत साहस के कार्य्य किए जिनसे कि हिन्दू लोग धूल के कण की नाईं तथा लोगों के मुह में पुरानी कहानी की नाईं चारों दिशाओं में छितर बितर हो गए। इस प्रकार छितर बितर हुए लोगों में निस्संदेह मुसल्मानों से बड़ी कठोर घृणा हुई। और यही कारण है कि जिन देशों को हम लोगों ने विजय किया है वहां से हिन्दू शास्त्र दूर हटा दिए गए हैं और उन शास्त्रों ने ऐसे स्थानों में आश्रय लिया है जहां कि हम लोगों का हाथ नहीं पहुंच सकता यथा काश्मीर बनारस और अन्य स्थानों में। (अध्याय १)

हिन्दुओं के विषय में एलबेरूनी को जो सब से अनुचित बात जान पड़ी वह उन लोगों का संसार की अन्य जातियों से पूर्णतया जुदा रहना था। वे लोग बाहरी संसार को नहीं जानते थे और अन्य जातियों को म्लेच्छ कह कर उन

से सहानुभूति और सरोकार नहीं रखते थे। एलबेरूनी कहता है कि "वे जिन बातों को जानते हैं उन्हें दूसरों को बतलाने में स्वभाव से ही कृपण हैं और वे अपने ही में किसी दूसरी जाति के मनुष्यों को उन बातों को न बतलाने में बड़ी ही सावधानी रखते हैं, फिर विदेशियों को उन्हें बतलाने के विषय में तो कहना ही क्या है। उनके विश्वास के साथ संसार में उनके देश के सिवाय और कोई देश ही ही नहीं है, और उनके सिवाय और कोई दानी ही नहीं है, और उनके सिवाय और कोई मनुष्य ही नहीं है, जो कि विज्ञान को कुछ भी जानता हो। उनका घमण्ड यहां तक है कि यदि तुम उनसे खुरासान और फारस के किसी शास्त्र वा किसी विद्वान का वर्णन करो तो वे तुम्हें मूर्ख और झूठा समझेंगे। यदि वे भ्रमण करें और अन्य देश के लोगों से मिलें तो उनकी यह सम्मति शीघ्र ही बदल जायगी क्योंकि उनके पूर्वज लोग ऐसे नहीं थे जैसे ये आज कल हैं।" (अध्याय १)

राजनैतिक बातों में भी एलबरूनी के समय में भारतवर्ष के पतन के अन्तिम दिन थे। वह वृहद् देश जो कि छठीं शताब्दी में प्रतापी विक्रमादित्य के अधीन था अब छोटे छोटे राजाओं में बंट गया था जो कि एक दूसरे से स्वतंत्र थे और बहुधा परस्पर युद्ध किया करते थे। काश्मीर स्वतंत्र था और वह अपने पर्वतों के कारण रक्षित था। महमूद गज़नवी ने उसे जीतने का उद्योग किया परन्तु वह कृतकार्य्य नहीं हुआ। और वीर अनङ्गपाल ने जिसने कि महमूद को रोकने का व्यर्थ उद्योग किया था एक

बार भाग कर काश्मीर में ही शरण ली थी। सिन्ध अनेक छोटे छोटे राज्यों में बंट गया था जिसमें कि मुसल्मान सर्दार लोग राज्य करते थे। गुजरात में महमूद ने सोमनाथ वा पट्टन पर जो आक्रमण किया था उसका कोई स्थायी फल नहीं हुआ। इस देश में महमूद के पहिले जिन राजपूतों ने चौलुक्यों से राज्य छीन लिया था वे सोमनाथ पर महमूद के आक्रमण के पीछे राज्य करते रहे। मालवा में एक दूसरे राजपूत वंश का राज्य था और भोजदेव जिसने कि आधी शताब्दी तक अर्थात् सन् ६६७ से सन् १०५३ ई० तक राज्य किया विद्या का एक बड़ा संरक्षक था और उसकी राजधानी धार में प्रतापी विक्रमादित्य के राज्य का सा समय जान पड़ता था।

उस समय कन्नौज बंगाल के पालवंशी राजाओं के अधीन कहा जाता है, और वे प्रायः मुंगेर में रहते थे। कन्नौज के राज्यपाल को महमूद ने सन् १०१७ में लूटा था और इस कारण बारी में एक नई राजधानी स्थापित हुई और महिपाल जिसने कि लगभग १०२६ ई० में राज्य किया था वहीं रहता था। ये दोनों राजा, बंगाल के सब पाल वंशी राजाओं की नाईं बौद्ध कहे गए हैं, परन्तु एलबेरुनी के समय में भारतवर्ष में बौद्ध धर्म्म जातीय धर्म्म नहीं रह गया था।

कन्नौज के चारों ओर का देश मध्य देश कहलाता था क्योंकि वह भारतवर्ष का केन्द्र था और यह केन्द्र, जैसा कि एलबेरुनी कहता है "भूगोल की दृष्टि से" था और "यह राजनैतिक केन्द्र भी था क्योंकि अगले समय में वह

उनके सब से प्रसिद्ध वीरों और राजाओं का निवास स्थान था"। (अध्याय १८)

एलबेरुनी ने कन्नौज से कई मुख्य स्थानों की दूरी लिखी है जो कि आज कल भी मुख्य नगर हैं। वह मथुरा का जो कि "वासुदेव के कारण प्रसिद्ध है", प्रयाग वा इलाहाबाद का "जहां कि हिन्दू लोग अपने को अनेक प्रकार की तपस्याओं से पीड़ित करते हैं, जिनका वर्णन उनकी धर्म्म सम्बन्धी पुस्तकों में है", "प्रसिद्ध वाराणसी" वा बनारस का, पाटलिपुत्र, मुंगेर और गंगासागर अर्थात् गंगा के मुहाने का उल्लेख करता करता है। वह दक्षिण में धार और उज्जैनी का, उत्तर-पश्चिम में काश्मीर, मुल्तान और लाहौर का भी वर्णन करता है और मध्य भारतवर्ष से दूर वह राम के कल्पित सेतु का, लंका के तटों का जहां मोती पाए जाते हैं तथा मालद्वीप और लक्षद्वीप का भी उल्लेख करता हैं।

(अध्याय १८)

अब देश के वृत्तान्त को छोड़ कर हम देश वासियों का वर्णन करेंगे। एलबेरुनी ने जाति भेद के विषय की कुछ संक्षिप्त आलोचना की है, जिससे कि हमें विदित होता है कि वैश्य लोग अर्थात् आर्य्य लोग की सब से वृहद् जाति का शीघ्रता से शूद्र जातियों में पतन होता जाता था। एक स्थान में यह लिखा है कि वैश्यों और शूद्रों में "बहुत भेद नहीं है"। (अध्याय ९) एक दूसरे स्थान पर हमें यह भी विदित होता है कि वैश्यों के धर्म्म सम्बन्धी विद्या पाने का प्राचीन अधिकार छीन लिया गया था, ब्राह्मण लोग

क्षत्रियों को वेद पढ़ाते थे परन्तु "वैश्य और शूद्र उसे सुन भी नहीं सकते थे उसका उच्चारण करना वा पाठ करना तो दूर रहा"। (अध्याय १२) फिर एक दूसरे स्थान पर लिखा है कि जिन कार्य्यों के अधिकारी ब्राह्मण हैं यथा पाठ करना, वेद पढ़ना और अग्नि में हवन करना वह वैश्यों और शूद्रों के लिये यहां तक वर्जित है कि उदाहरण के लिये जब किसी शूद्र वा वैश्य का वेद पाठ करना प्रमाणित होजाय और ब्राह्मण लोग राजा के सम्मुख उस पर दोष आरोपण करें तो राजा उस अपराधी की जीभ काट लेने की आज्ञा देगा। (अध्याय ६४)

यदि पाठक लोग वैश्यों के इस वर्णन को मनु में लिखी हुई स्थिति से मिलान करें तो उन्हें जाति के धीरे धीरे पतन होने और ब्राह्मणों के प्रभुत्व बढ़ाने का पूरा इतिहास विदित हो जायगा। नवीं और दसवीं शताब्दियों के धार्म्मिक और राजनैतिक उलट फेर के उपरान्त उन वैश्य सन्तानों की, जिनको कि वेद पढ़ने और हवन करने में ब्राह्मणों के समान अधिकार था, अब शूद्रों में गणना होने लगी और वे धार्म्मक ज्ञान पाने के 'अयोग्य समझे जाने लगे? क्षत्रियों ने अब भी अपनी स्थिति उस समय तक बना रक्खी थी जब तक कि भारतर्ष स्वतंत्र देश था पर १२ वीं शताब्दी के पीछे उन लोगों ने भी अपनी कीर्ति और स्वतत्रा खो दी। और तब इस साहसी कथा की कल्पना की गई कि क्षत्रिय जाति का भी वैश्यों की नांई अब लोप हो गया और ब्राह्मणों के सिवाय और सब शूद्र होगए और उन सभों को समान रीति से वेद पढ़ाने वा हवन करने का

अधिकार नहीं रहा ! क्या हमारे पाठक क्षत्रियों और वैश्यों के लोप होने की इस कथा के आगे बढ़ा चाहते हैं और यह जानना चाहते हैं कि उनकी सन्तान की वास्तव में क्या क्या अवस्था हुई ? वे उन्हें नए नए नामों (कायस्थ, वैद्य, वाणिक, स्वर्णकार, कर्मकार इत्यादि) नई जातियों की भांति पावेंगे जो कि मनु और याज्ञवल्क्य के समय में नहीं थी। और इन नई जातियों को जो कि क्षत्रियों और वैश्यों से बनी हैं उन मिश्रित जातियों की बढ़ती हुई सूची में स्थान दिया गया जिसे कि मनु ने निषादों और चाण्डालों की नांई कार्य्य आदिम निवासियों के लिये रक्षित रक्खा था : परन्तु आज कल की शिक्षा ने धीरे धीरे लोगों की आंखे खोल दी हैं और वृहद् हिन्दू जाति जैसे जैसे अपने जातीय और राजनैतिक जीवन पर ध्यान देती जाती है वैसे वैसे अपने प्राचीन धार्म्मिक और सामाजिक अधिकारों का दावा करना सीख रही है।

एल बेरूनी ने शूद्रों के नीचे आठ अन्त्यज जातियां लिखी हैं अर्थात् धोबी, चमार, नट, डौरी और ढाल बनाने वाले, केवट, मछुआहा, बहेलिया, और तांती। हाड़ी डोम और चाण्डाल सब जातियों से बाहर समझे जाते थे। (अ०९)

अब जाति के विषय को छोड़ कर लोगों की रीति और चाल व्यवहार का वर्णन करेंगे परन्तु इसमें भी हम हिन्दुओं को उनकी अवनत दशा में पाते हैं। यह कहा गया है कि "हिन्दू लोग बहुत छोटी अवस्था में विवाह करते हैं" और "यदि किसी स्त्री का पति मर जाय तो वह दूसरे मनुष्य से विवाह नहीं कर सकती। उसके लिये केवल

दो बातें रह जाती हैं, अर्थात् या तो वह अपना सारा जीवन विधवा की नांई व्यतीत करे अथवा जल मरे और इस कारण जल मरना ही उत्तम समझा जाता है क्योंकि विधवा रहने के कारण वह जब तक जीवित रहती है तब तक उसके साथ बुरा व्यवहार किया जाता है।"

(अध्याय ६९)

हम देख चुके हैं कि पौराणिक काल में बाल विवाह की रीति प्रचलित नहीं थी और इस कारण यह स्पष्ट है कि यह रीति आधुनिक काल के आरम्भ में हिन्दुओं में प्रचलित हुई। और यही दशा सती की रीति की भी है।

विवाह की रीतों के विषय में यह कहा गया है कि माता पिता अपने बालकों के लिये विवाह का प्रबन्ध कर लेते थे, उसमें कोई दहेज निश्चित किया जाता था परन्तु पति को पहिले कुछ देना पड़ता था जो कि सदा के लिये स्त्री की सम्पत्ति (स्त्रीधन) होता था। पांच पीढ़ी के भीतर के सम्बन्धियों में विवाह बर्जित था। प्राचीन नियम के अनुसार किसी जाति का मनुष्य अपनी जाति वा अपने से नीच जाति की स्त्री से विवाह कर सकता था परन्तु यह रीति अब उठ गई थी। जाति भेद अब अधिक कठिन हो गया था और "हमारे समय में ब्राह्मण लोग अपनी जाति के सिवाय और किसी जाति की स्त्री से कभी विवाह नहीं करते यद्यपि उनको ऐसा करने का अधिकार है।"

(अध्याय ६९)।

एलबेरुनी ने ११ वीं शताब्दी के हिन्दुओं के त्योहारों का जो वर्णन लिखा है वह आजकल के हिन्दू त्योहारों के

असदृश नहीं है। वर्ष का आरम्भ चैत्र से होता था और एकादशी को हिंडोली चैत्र (आज कल का डोल) होता था जिसमें कृष्ण की मूर्ति पालने में झुलाई जाती थी। पूर्णिमा को वसन्तोत्सव (आज कल की होली का त्योहार) होता था जो कि विशेषतः स्त्रियों के लिये था। हम इस उत्सव का कुछ वर्णन पौराणिक काल के नाटकों में देख चुके हैं। रत्नावली और मालती माधव दोनों ही इस उत्सव के वृत्तान्त से आरम्भ होते हैं जिसमें कि काम-देव की पूजा होती थी परन्तु आधुनिक समय में प्राचीन कामदेव का स्थान कृष्ण ने लेलिया है और आजकल का होली का उत्सव उसी प्राचीन देवता को प्रगट करता है।

वैशाख में तीसरे दिन गौरी तृतिया होती थी जिसमें स्त्रियां स्नान करती थीं, गौरी की मूर्ति की पूजा करती थीं और उनको धूप दीप चढ़ाती थीं तथा व्रत रहती थीं। दसमीं से लेकर पूर्णिमा तक खेत जोतने और वर्ष की खेती प्रारम्भ करने के पहिले यज्ञ किए जाते थे। इसके पीछे सावन मेघ होता था जिसमें कि उत्सव मनाया जाता और ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था।

भारतवर्ष में ज्येष्ट का महीना ही फल उत्पन्न होने का महीना है और इनमें प्रतिपदा को वर्ष के नवीन फल शगुन के लिये जल में छोड़े जाते थे। पूर्णिमा के दिन स्त्रियों का एक त्योहार होता था जो कि रुपपंच कहलाता था।

आषाढ़ में पूर्णिमा के दिन पुनः ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था।

आश्वयुज के महीने में ऊख काटी जाती थी और महानवमी के त्योहार में ऊख के नवीन फल भगवती की मूर्ति को चढ़ाए जाते थे। मास के पन्द्रहवें सोलहवें और तेईसवें दिन अन्य त्योहार होते थे जिनमें बहुत खेल, कूद होते थे।

भाद्रपद के महीने में बहुत ही अधिक त्योहार होते थे। मास के पहले दिन पितरों के लिये दान दिए जाते थे। तीसरे दिन स्त्रियों का एक त्योहार होता था। छठें दिन बन्दियों को भोजन बांटा जाता था। आठवें दिन ध्रुवगृह का त्योहार होता था जिसे गर्भवती स्त्रियां आरोग्य बालक पाने के लिये करती थीं। ग्यारहवें दिन पार्वती का त्योहार होता था जिसमें पुजेरी को डोरा दिया जाता था। और पूर्णिमा के उपरान्त पूरे पक्ष भर में नित्य त्योहार होते थे। ग्यारहवीं शताब्दी के इन त्योहारों का स्थान अब अधिक धूम धाम की पूजाओं ने यथा दुर्गा तथा अन्य देवी और देवताओं की पूजा ने ले लिया है।

कार्तिक में पहिले दिन दिवाली का त्योहार होता था। इसमें बहुत से दीपक जलाए जाते थे और यह विश्वास किया जाता था कि वर्ष में उसी एक दिन लक्ष्मीदेवी वीरोचन के पुत्र बलि को छोड़ देती थी। यह दिवाली के उत्सव का प्राचीन रूप था जिसके साथ कि काली की पूजा का सम्बन्ध अब किया गया है, जिस भांति कि कामदेव के प्राचीन उत्सव के साथ अब कृष्ण की पूजा का सम्बन्ध किया गया है।

मार्गशीर्ष (अग्रहायण) मास के तीसरे दिन गौरी के सम्मानार्थ स्त्रियों को भोजन कराया जाता था। और पूर्णिमा को स्त्रियों को फिर भोजन कराया जाता था।

आज कल की नाईं उन दिनों में भी पुण्य के त्योहार पर अनेक प्रकार के मिष्ठान्न बनते थे। हम देख चुके हैं कि जाड़े की खुशी मनाने की यह बड़ी उत्तम रीति सन् ईस्वी के पहिले से विदित थी।

माघ मास में तीसरे दिन गौरी के सम्मानार्थ स्त्रियों को भोजन कराया जाता था इस मास में और भी त्योहार होते थे।

फाल्गुण मास के आठवें दिन ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था और पूर्णिमा को होल होता था। उनके अगले दिन की रात्रि शिवरात्रि होती थी (अध्याय ७५)।

ऊपर दिए हुए त्योहारों के वर्णन से सर्व साधारण को धर्म्म और धर्म्माचरण का कुछ ज्ञान हो जायगा। सारे भारतवर्ष में मूर्तियां और मन्दिर बहुतायत से फैले हुए थे जहां कि असंख्य यात्री और भक्त लोग जाया करते थे। एलबेरुनी निम्न लिखित मन्दिरों का उल्लेख करता है अर्थात् मुल्तान में आदित्य वा सूर्य का मन्दिर और थानेश्वर में चक्रस्वामी वा विष्णु का मन्दिर, काश्मीर में सारद की काठ की मूर्ति और प्रसिद्ध सोमनाथ की मूर्ति जो कि शिवलिंग थी और जिसे महमूद ग़ज़नवी ने नष्ट किया था। (अध्याय ११) सोमनाथ के लिंग के विषय में एलबेरुनी कहता है कि महमूद उसके ऊपरी भाग को तोड़ कर के शेष सब मय स्वर्ण और रत्न के आभूषण और कारचोपी के वस्त्रों

सहित गजनी को ले गया। उसका कुछ अंश नगर के तमाशे घर में रक्खा गया और कुछ अंश गजनी की मसजिद के द्वार पर जिसमें लोग उस पर अपने पैर पोंछ कर साफ करें। यह दशा उस मूर्ति की हुई जिसे कि नित्य गंगा जल और काश्मीर के पुष्प चढ़ाए जाते थे। सोमनाथ लिंग के बड़े माहात्म्य का कारण यह था कि स्वयं यह नगर समुद्री वाणिज्य का केन्द्र और समुद्र के यात्रियों के लिये बन्दरगाह था। (अध्याय ५८)

बनारस भारतवर्ष में सब से अधिक पवित्र स्थान हो गया था और लोग इस पवित्र नगर में अपनी वृद्धावस्था के दिन व्यतीत करने के लिये जाया करते थे। पुष्कर, थानेश्वर, मथुरा, काश्मीर, और मुल्तान की पवित्र झीलों का भी उल्लेख किया गया है और निस्सन्देह यहां यात्रियों की बड़ी भीड़ एकत्रित होती थी। (अध्याय ६६) हमारे ग्रन्थकार ने पवित्र स्थानों में लम्बी चौड़ी सीढ़ियों वाले बड़े बड़े तालावों को खोदवाने की हिन्दुओं की रीति की बड़ी प्रशंसा की है। "प्रत्येक पुण्यक्षेत्र में हिन्दू लोग स्नान के लिये तालाब बनवाते हैं। इसके बनाने में उन्होंने बड़ी ही निपुणता प्राप्त करली है यहां तक कि जब हमारी जाति के लोग (मुसल्मान) उन्हें देखते हैं तो उनको आश्चर्य होता है और वे उनका वर्णन करने में भी असमर्थ होते हैं, उनके सदृश तालाब बनवाना तो दूर रहा। वे उन्हें बड़े भारी भारी पत्थरों से बनाते हैं जो कि एक दूसरे से नोकीले और दृढ़ लोहे के हुक से जोड़े जाते हैं और वे चट्टानों के चबूतरों की नांई देख पड़ते हैं और ये चबूतरे तालाब के

चारों ओर होते हैं और एक पोरवे से अधिक ऊंचे होते हैं।" (अध्याय ६६)।

हिन्दू लोग जिन असंख्य देवी और देवताओं की पूजा करते थे उनमें एलबेरुनी को तीन मुख्य देवताओं अर्थात् सृष्टि करने वाले ब्रह्मा, पोषण करने वाले विष्णु और संहार करने वाले महादेव को जानने में कोई कठिनता न हुई। एलबेरुनी यह भी कहता है कि ये तीनों देवता मिलकर एक समझे जाते हैं और इस बात में "हिन्दुओं और ईसाइयों में समानता है क्योंकि ईसाई लोग भी तीन रूपों को अर्थात् पिता पुत्र और पवित्र आत्मा को मानते हैं परन्तु उन तीनों को एक ही समझते हैं।" (अध्याय ८)

एलबेरुनी ने हिन्दू धर्म और व्यवस्थाओं का ध्यान पूर्वक अध्ययन किया था यह बात इसीसे विदित हो जायगी कि साधारण लोग जो असंख्य हिन्दू देवताओं की पूजा करते थे उसके परे, उपरोक्त त्रिमूर्ति के भी परे, हमारे ग्रन्थकार ने पवित्र और दार्शनिक हिन्दू धर्म के सच्चे सिद्धान्त अर्थात् उपनिषदों के अद्वैतवाद को भली भांति समझ लिया था। वह हमें बार बार कहता है कि सब असंख्य देवता केवल साधारण लोगों के लिये हैं, शिक्षित हिन्दू लोग केवल ईश्वर में विश्वास करते हैं जो कि "एक, नित्य, अनादि, अनन्त, स्वेच्छाकारी, सर्वशक्तिमान, सर्व बुद्धिमान, जीवित, जीव देने वाला, ईश्वर और पोषक" है।

"वे ईश्वर के अस्तित्व को वास्तविक अस्तित्व समझते हैं क्योंकि जिस किसी वस्तु का अस्तित्व है वह उसी के द्वारा है।" (अध्याय २)

यह शुद्ध, शान्ति और जीवन देने वाला धर्म्म है, उसमें प्राचीन उपनिषदों का सच्चा सारांश है जो कि मनुष्यों के बनाए हुए ग्रन्थों में सब से उत्तम हैं। इतिहासकार को केवल इतनाही दुःख है कि उत्तम धर्म्म केवल कुछ शिक्षित लोगों ही के लिये था और साधारण लोग मूर्त्तियों और मन्दिरों तथा निरर्थक विधानों और हानिकारक रुकावटों में पड़े हुए थे। जिस देश में एक प्राचीन और जीवनशक्ति देनेवाले धर्म्म की अमृतमय धारा नित्य बहा करती थी वहां के लोगों को विष क्यों पिलाया जाने लगा?

एक दूसरे स्थान पर एलबेरूनी हिन्दुओं के पुनर्जन्म के सिद्धान्त का तथा इस जीवन में किए हुए कर्मों के फलों को दूसरे जन्म में पाने का और सच्चे ज्ञान के द्वारा मुक्ति पाने का वर्णन करता है। उस समय आत्मा प्रकृति से जुदा हो जाती है। इन दोनों को जोड़ने वाले बंधन टूट जाते हैं और दोनों का संसर्ग अलग हो जाता है। बिछोह और विच्छेद हो जाता है और आत्मा अपने भुवन को चली जाती है, और अपने साथ में ज्ञान के आनन्द को उसी प्रकार ले जाती है, जैसे तिल से दाने और फूल दोनों होते हैं पर वह अपने तेल से अलग नहीं हो सकता। ज्ञानवान जीव, ज्ञान और उसका आधार तीनों मिल कर एक हो जाते हैं।

(अध्याय ५)

कानून के प्रबन्ध के विषय का कुछ मनोरञ्जक वर्णन दिया हुआ है। साधारणतः अर्जी लिख कर दी जाती थी जिसमें कि प्रतिवादी के विरुद्ध दावा लिखा रहता था। जहां ऐसी लिखी हुई अर्जियाँ नहीं दी जाती थीं वहां

ज़बानी दावा सुना जाता था। शपथ कई प्रकार की होती थी जिनमें भिन्न भिन्न प्रथा की गम्भीरता होती थी और मुक़दमों का निर्णय शास्त्रियों के प्रमाण पर किया जाता था।

(अध्याय ७०)

सब विदेशियों ने भारतवर्ष के फौजदारी के कानून के अत्यन्त कोमल होने के विषय में लिखा है और एलबेरुनी उसकी समानता ईसाइयों के कोमल कानून से करता है, और उसके विषय में कुछ बुद्धिमानी के वाक्य लिखता है जो कि यहां उद्धृत किए जाने योग्य है। "इस विषय में हिन्दुओं की रीति और आचरण ईसाइयों के सदृश है क्योंकि ईसाइयों की नाईं वे पुण्य के तथा कुकर्म के न करने के सिद्धान्तों पर रक्खे गए हैं, यथा किसी भी अवस्था में हिंसा न करना, जो तुम्हारा कोट छीन ले उसे अपना कुर्ता भी दे देना, जिसने तुम्हारे एक गाल में तमाचा मारा है उसके सामने दूसरा गाल भी कर देना, अपने शत्रु को आशीर्वाद देना और उसकी भलाई के लिये प्रार्थना करना। मैं अपने जीव की शपथ खा कर कहता हूं कि यह बड़ा ही उत्तम सिद्धान्त है परन्तु इस संसार के सब लोग दर्शन शास्त्रज्ञ नहीं हैं, उनमें से अधिकांश लोग मूर्ख और भूल करने वाले हैं और वे बिना तलवार और चाबुक के ठीक मार्ग में नहीं चलाए जा सकते। और निस्सन्देह जब से विजयी कोन्स्टेनटाइन ईसाई हुआ तब से तलवार और चाबुक दोनों ही काम में लाए गए हैं क्योंकि उनके बिना राज्य करना असम्भव है।" (अध्याय ७१)

जो ब्राह्मण किसी दूसरी जाति के मनुष्य को मार डाले उसके लिये दण्ड केवल प्रायश्चित का था जिसमें निराहार रहना पड़ता था तथा पूजा और दान करने पड़ते थे परन्तु यदि कोई ब्राह्मण किसी दूसरे ब्राह्मण को मार डाले तो वह देश से निकाल दिया जाता था और उसकी सम्पत्ति छीन ली जाती थी। परन्तु ब्राह्मण को किसी अवस्था में भी प्राण दण्ड नहीं दिया जाता था। चोरी के लिये चुराई हुई सम्पत्ति के मूल्य के अनुसार दण्ड दिया जाता था। भारी अवस्थाओं में ब्राह्मण वा क्षत्रिय चोर को उसके हाथ वा पैर काट लेने का दण्ड दिया जा सकता था और नीच जाति के चोर को प्राण दण्ड दिया जा सकता था। जो स्त्री व्यभिचार करे वह अपने पति के घर से निकाल दी जाती थी और देश से भी निकाल दी जाती थी। (अध्याय ७१)

पिता की सन्तान उसकी सम्पति की उत्तराधिकारिणी होती थी और पुत्री को पुत्र के हिस्से का चौथा भाग मिलता था। विधवा सम्पत्ति की उत्तराधिकारणी नहीं होती थी परन्तु वह जब तक जीवित रहे तब तक उसे भोजन और वस्त्र पाने का अधिकार था। भाइयों की नांई दूर के उत्तराधिकारियों की अपेक्षा निकटस्थ उत्तराधिकारी तथा पौत्र इत्यादि सम्पत्ति पाते थे और मृतक का ऋण उसके उत्तराधिकारी को देना पड़ता था। (अ०७२)

कर लगाए जाने के विषय में भी ब्राह्मणों को वही सुबीता प्राप्त था जो कि दण्ड पाने के विषय में। भूमि में जो उत्पन्न हो उसका छठां भाग राजा का कर होता था और मजदूर, शिल्पकार और व्यापार करने वाले भी

अपनी आय के अनुसार कर देते थे! केवल ब्राह्मणों ही को कर नहीं देना पड़ता था। (अध्याय ६७)

हिन्दू साहित्य के विषय में एलबेरूनी वेद से आरम्भ करता है, वह कहता है कि वेद जबानी सिखलाए जाते थे क्योंकि उनका पाठ आवाज के अनुसार होता था जिन्हें कि लिखने से भूल हो जाने की सम्भावना थी। वह इस कथा का वर्णन करता है कि व्यास ने वेदों के चार भाग किए अर्थात् ऋक्, यजुस, सामन, और अथर्वण और इनमें से प्रत्येक भाग उसने अपने चारों शिष्यों अर्थात् पैल, वैशंपायन, जैमिनी, और सुमन्तु में से प्रत्येक को सिखलाया। वह उन अठारहों पर्व का नाम देता है जिनमें कि महाभारत अपने आधुनिक रूप में बँटा है और वह उसके अवशिष्ट हरिवंश का भी वर्णन करता है और रामायण की कुछ कथाओं का उल्लेख करता है। वह पाणिनि इत्यादि आठ वैयाकरणों के नाम लिखता है, और संस्कृत छन्द का भी कुछ वर्णन करता है। उसने सांख्य तथा अन्य दर्शन शास्त्रों के विषय में भी लिखा है, यद्यपि उसनें जो बातें लिखी हैं वे सदा इन मूल ग्रन्थों से नहीं है। बुद्ध और बौद्ध धर्म्म के विषय में इसका वृत्तान्त बहुत ही थोड़ा, अनिश्चित और अशुद्ध है। वह स्मृति पर मनु याज्ञवल्क्य इत्यादि के बीस ग्रन्थों के विषय में लिखता है, उसने अठारहों पुराणों की दो भिन्न भिन्न सूचियां दी हैं और उसकी दूसरी सूची आज कल के अठारहों पुराण से पूर्णतया मिलती है। यह हिन्दू साहित्य अध्ययन करने वाले के लिये एक आवश्यक बात है और इससे विदित होता है कि ये अठारहों पुराण ईसा की ११

वीं शताब्दी के पहिले बन गए थे, यद्यपि इसके उपरान्त उनमें परिवर्तन किए गए हैं और अनेक बातें बढ़ाई गई हैं। परन्तु एलबेरुनी के ग्रन्थ में तंत्र साहित्य का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। एलबेरुनी स्वयं एक निपुण गणितज्ञ था और उसने हमें हिन्दू ज्योतिषियों अर्थात् आर्यभट्ट, वाराह मिहर और ब्रह्मगुप्त का तथा उन पांचों ज्योतिष के सिद्धान्तों (सूर्य्य, वशिष्ट, पुलिश, रोमक, और ब्रह्मा) का जिन्हें कि वाराहमिहर ने संक्षिप्त रूप में बनाया था बहुत लम्बा चौड़ा वर्णन किया है। एलबेरुनी विशेषत: वाराहमिहर की प्रशंसा करता है और कहता है कि यह ज्योतिषी उसके ५२६ वर्ष पहिले अर्थात् लगभग ५०५ ई० में हुआ है।

एलबेरुनी ने इन हिन्दू ज्योतिषियों का जो लम्बा चौडा और पाण्डित्य पूर्ण वृत्तान्त दिया है उसका व्योरे वार वर्णन करना हमारे लिये आवश्यक नहीं है। उसकी आलोचनाएं कहीं कहीं पर अशुद्ध हैं परन्तु सब बातों पर विचार करके उसने जिन प्रणालियों का वर्णन किया है उन्हें सचाई से समझाने का उद्योग किया है। उसने १२ आदित्यों के अर्थात् वर्ष के १२ मास के सूर्य्य के नामों को लिखा है अर्थात चैत्र में विष्णु, वैशाष में अर्यमन, ज्येष्ठ में विवस्वत, आषाढ़ में अंश, श्रावण में परजन्य, भाद्र में वरुण, अश्वयुज (आश्विन) में इन्द्र, कार्तिक में धातृ, मार्गशीर्ष (अग्रहायन) में मित्र, पौष्य में पुषण, माघ में भग और फाल्गुण में त्वष्टि। वह ठीक कहता है कि हिन्दुओं के मास का नाम नक्षत्रों के नाम से पड़ा है अर्थात आश्विन अश्विनी से, कार्तिक कृत्तिका से, मार्गशीर्ष मृगशिरा

से, पौष पुष्य से, माघ मघा से, फाल्गुण पूर्वाफाल्गुणी से, चैत्र चित्रा से, वैशाख विशाखा से, ज्येष्ठ ज्येष्ठा से, आषाढ़ पूर्वाषाढ़ से, श्रावण श्रवण से और भाद्रा, पूर्वभद्रपदा से। वह बारहों राशि के नाम भी देता है जिसे कि हिन्दुओं ने यूनानियों से उद्धृत किया था और जिसे यूनानियों ने भी एसीरियन लोगों से उद्धृत किया था। और वह हिन्दुओं के ग्रहों के अर्थात् मंगल, बुद्ध, वृहस्पति, शुक्र, और शनिश्चर के भी नाम देता है। (अध्याय १९)।

इसके सिवाय हिन्दू विद्यार्थियों के लिये यह उपयोगी बात है कि एलबेरूनी कहता है कि हिन्दू ज्योतिषियों को आकर्षण शक्ति के सिद्धान्त का कुछ ज्ञान था। एलबेरूनी लिखता है कि ब्रह्मगुप्त ने कहा है कि "सब भारी वस्तुएं प्रकृति के एक नियम के अनुसार पृथ्वी पर गिरती हैं क्योंकि वस्तुओं को आकर्षित करके रखना पृथ्वी का स्वाभाविक गुण है जैसे कि जल का बहना, अग्नि का जलना और वायु का चलना स्वाभाविक गुण हैं। बाराहमिहर भी कहता है कि पृथ्वी पर जो वस्तुएं हैं उन सब को पृथ्वी आकर्षित करती है" (अध्याय २६)। एलबेरूनी आर्यभट्ट के इस सिद्धान्त का भी उल्लेख करता है जिसके विषय में हम कह चुके हैं कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है और आकाश नहीं घूमता जैसा कि हमें देख पड़ता है। (अध्याय २६) पृथ्वी का गोल होना भी हिन्दू ज्योतिषियों को विदित था और पृथ्वी की परिधि ४८०० योजन कही गई है।

(अध्याय ३१)।

एलबेरूनी हेम अयनभाग के विषय में भी लिखता है और वाराहमिहर के वाक्य उद्धृत करता है कि पहिले के समय मे (ऐतिहासिक काव्य काल में जब कि वेद सङ्कलित किए गए थे जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं) दक्षिणायन अश्लेषा के मध्य में होता था और उत्तरायण धनिष्ठा में परन्तु अब (वराहमिहर के समय में) दक्षिणायन कर्क में होता है और उत्तरायण मकर में। (अध्याय ५६) इसके सिवाय एलबेरूनी नक्षत्रों के सूर्य्य के साथ अस्त और उदय होने के विषय में भी लिखता है और यह बतलाता है कि अगस्त नक्षत्र के सूर्य्य के साथ उदय और अस्त होने की ज्योतिष सम्बन्धी बात से किस प्रकार अगस्त्य ऋषि के विन्ध्या पर्वत को यह आज्ञा देने की कल्पित कथा की उत्पत्ति हुई कि जब तक वे न लौटें तब तक वह ज्यों का त्यों रहे। इन विषयों का तथा अनेक अन्य मनोरञ्जक विषयों का जो उल्लेख किया गया है उनका हम ब्योरेवार वर्णन नहीं दे सकते।

भारतवर्ष का भूगोल हिन्दुओं को ईसा के उपरान्त और पहिले भली भांति विदित था। बौद्ध धर्म्म ग्रन्थों तथा कालिदास के काव्य और वाराहमिहर के ज्योतिष में जो वर्णन मिलता है उससे यह बात प्रगट होती है। परन्तु फिर भी हमें कट्टर हिन्दू ग्रन्थों में पृथ्वी का आकार, उसके सात एककैन्द्रक समुद्रों और सात एककैन्द्रक द्वीपों के साथ दिया है! सब के बीच में जम्बुद्वीप है, उसके चारों ओर खारा समुद्र है, उसके चारों ओर शाकद्वीप है, उसके चारों ओर क्षीर सागर है, उसके चारों ओर कुशद्वीप है, उसके

चारों ओर मक्खन का समुद्र है, उसके चारों ओर क्रौंच द्वीप है, उसके चारों ओर दधि सागर है, उसके चारों ओर शाल्मलि द्वीप है, उसके चारों ओर शराब का समुद्र है, उसके चारों ओर गोमेद द्वीप है, उसके चारों ओर चीनी का समुद्र है और अन्त में पुष्कर द्वीप है जिसके चारों ओर मीठा समुद्र है। (अध्याय २१ मत्सपुराण से उद्धृत किया हुआ) इससे अधिक शुद्ध भारतवर्ष के प्रान्तों का वृत्तान्त वायु पुराण से एलबेरुनी ने उद्धृत किया है। कुरु, पञ्चाल, काशी, कोशल इत्यादि मध्य भारतवर्ष में रहने वाले थे। अन्ध्र (मगध मे), वंगीय, ताम्रलिप्तिक इत्यादि लोग पूरब में रहते थे। पाण्ड्य, केरल, चोल, महाराष्ट्र, कलिङ्ग , वैधर्व, अन्ध्र, (दक्षिण में) नासिक्य, सौराष्ट्र इत्यादि लोग दक्षिण में रहते थे"। भोज मालव, हुन, (उस समय पंजाब का कुछ भाग हुन लोगों के अधिकार में था) इत्यादि लोग पश्चिम में रहते थे और पहलव (पारस के लोग) गन्धार, यवन, सिन्धु, शक, इत्यादि लोग उत्तर में थे (अध्याय २९)।

एलबेरुनी हिन्दुओं के अङ्क गणित और अङ्कों के विषय में कुछ वर्णन करता है और लिखता है कि इस शास्त्र मे हिन्दू लोग संसार की सब जातियों से बढ़ कर हैं। "मैंने अनेक भाषाओं के अङ्कों के नामों को सीखा है परन्तु मैने किसी जाति में भी हजार के आगे के लिये कोई नाम नहीं पाया परन्तु हिन्दू लोगों में "अट्ठारह अङ्क की संख्याओं तक के नाम हैं और वे उसे परार्द्ध कहते हैं। (अध्याय १६)

हमारा ग्रन्थकार भारतवर्ष में प्रचलित भिन्न भिन्न आकार की वर्णमाला का भी उल्लेख करता है, अर्थात् सिद्ध-मात्रिका जो कि काश्मीर और बनारस में लिखी जाती थी, नागर जिसका प्रचार मालवा में था, अर्द्धनागरी, मारवाड़ी, सिन्धव, कर्नाट, अन्ध्री, द्राविणी, गौड़ी, इत्यादि। यह गौड़ी निस्सन्देह बंगाल की वर्णमाला है। और भारतवर्ष के भिन्न भिन्न भागों में भिन्न भिन्न वस्तुएं लिखने के काम में लाई जाती थीं। कहीं पर तालपत्र, उत्तर और मध्य भारतवर्ष में भूर्ज इत्यादि। (अध्याय १६)

एक अध्याय में हिन्दू वैद्यक शास्त्र का भी वर्णन है। जान पड़ता है कि यह शास्त्र सदा से बहुत थोड़े लोगों के अधिकार में था और उसके विषय में बहुत से मिथ्या विचार प्रचलित थे। मूर्ख पाखण्डी लोग रसायन के द्वारा वृद्ध को युवा बनाने के समान बहुत सी अद्भुत बातों के करने का पाखण्ड करते थे और इस प्रकार मूर्ख लोगों का धन हरण करते थे। जिस प्रकार युरोप में मध्य काल में राजा लोग धातुओं का सोना बनाने के लिये बेहद्द लालची हो रहे थे वही दशा भारतवर्ष के राजा लोगों की भी थी और पाखण्डी लोग इस अद्भुत कार्य्य को सिद्ध करने लिये बहुत से निरर्थक और अमानुषिक विधानों को बतलाते थे।

वास्तव में भारतवर्ष की दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी से युरोप के मध्य काल की कई बातों में समनता पाई जाती है। एक उत्तम धर्म्म मानों पुजेरियों की बपौती होगया था परन्तु मिथ्या विश्वास और मूर्तिपूजा ने धर्म्म को बहुत कुछ बिगाड़ दिया था। युद्ध और राज्य करना एक दूसरी ही

जाति की वपौती होगई थी अर्थात् भारतवर्ष में राजपूत क्षत्रियों की और युरोप में फ्यूडल वेरन लोगों की और इन दोनों ही ने पहिले के अन्धकारमय समय के झगड़ों में प्रभुत्व पाया था, दोनों ही देश में समान रीति से लोग मूर्ख उत्साह-हीन और दासवत थे। अगष्टन और विक्रमादित्य के समय के कवियों का लोप होगया था और उनके उपरान्त उनके स्थान की पूर्ति करने वाला कोई नहीं रहा था। विज्ञान और विद्या के भी वड़े वड़े पण्डितों के नाम अब केवल कहानी से होगए थे और मानो इस समानता को पूर्ण करने के लिये लेटिन और प्राकृत–संस्कृत भाषाओं के स्थान पर आधुनिक भाषाएं वोली जाने लगीं, युरोप में इटेलियन, फ्रेंच और स्पेनिश भाषाएं और भारतमर्ष में हिन्दी इत्यादि। लोग मूर्ख रक्खे जाते थे और उनमें मिथ्या धर्म्म प्रचलित थे और वे भड़कीले तथा कभी न समाप्त होने वाले त्योहारों में लगाए गए। सब वातें छिन्न भिन्न और नाश को प्राप्त हुई जान पड़ती थीं और जातीय जीवन का पूरा लोप जान पड़ता था।

परन्तु यहां समानता का अन्त होता है, युरोप के वलवान फ्यूडल वेरन लोग शीघ्र ही सर्व साधारण के साथ हिल मिल गए, उन्हों ने रणक्षेत्र राजसभा वा व्यापार में सर्व साधारण के लिये उद्योग किया और इस प्रकार आधुनिक जातियों में एक नए उत्साह और जीवन का संचार किया परन्तु भारतवर्ष में जातिभेद ने ऐसे हेल मेल को रोक रक्खा था और राजपूत क्षत्रिय लोग सर्व साधारण से जुदे

रह कर शीघ्र ही विदेशी आक्रमण करने वालों का शिकार हो गए और इस प्रकार उन सब का सत्यानाश हो गया ।

हिन्दुओं को अपने जातिभेद और राजकीय दुर्बलता के लिये भारी दण्ड देना पड़ा है । सन् १२०० ई० के उपरान्त छ शताब्दियों तक हिन्दुओं का इतिहास शून्य है। ४००० वर्ष हुए कि पृथ्वी की आर्य्य जाति में केवल वेही सब से सभ्य थे और आज दिन पृथ्वी की आर्य्य जाति मे केवल वेही लोग सामाजिक दृष्टि से निर्जीव और राजकीय दृष्टि से गिरे हुए हैं ।

छः शताब्दियों तक जीवहीन रहने के उपरान्त अब उनमें पुनर्जीवत होने के कुछ चिन्ह मिलते हैं । अब उनमें धर्म्म के मृत रूपों का उल्लंघन करने और शुद्ध दृढ़ और जीव देने वाले धर्म्म का प्रचार करने का उद्योग पाया जाता है । अब सामाजिक ऐक्य उत्पन्न करने का भी उद्योग हो रहा है जो कि जातीय ऐक्य की जड़ है । लोगों में जातीय ज्ञान का उदय हो रहा है ।

कदाचित प्राचीन जाति में एक नए और उत्तन जीवन को देने का यत्न इंग्लैण्ड को ही बदा है । आधुनिक सभ्यता के पुनर्जीवित करने वाले प्रभाव से यूनानी और इटली की प्राचीन जातियों मे इक नई बुद्धि और जातिय जीवन का उदय हुआ है । अंग्रेजी राज्य की उत्तम रक्षा मे अमेरिका और आस्ट्रेलिया में नई जातियां स्वराज्य और सभ्यता में उन्नति कर रहीं है । सभ्यता का प्रभाव औ प्रकाश अब गंगा के तटों में भी फैलेगा ।

निक यूरोप के विज्ञान और विद्या सहानुभूति और उदाहरण से हम लोगों को जातीय जीवन और ज्ञान को प्राप्त करने में कुछ सहायता मिली तो यूरोप आधुनिक भारतवर्ष को उस सहायता का बदला चुका देगा जो कि प्राचीन समय में भारतवर्ष ने यूरोप को धर्म्म विज्ञान और सभ्यता में पहुंचाई थी ।

॥ इति ॥